समर्पण :—

स्वर्गीय पूज्य पिता के चरणों
में
जिनका आशीर्वाद सदा
मेरे साथ रहा है

अपनी बातें

अपने खोज-कार्य को पुस्तक-रूप में प्रकाशित होते देख कर, मेरे मन में अनेक स्मृतियाँ जाग्रत हो रही हैं। आज उन सबकी याद मुझे आ रही है जिनका किंचित सहारा, प्रोत्साहन तथा स्नेह और जिनका पुण्य आशीर्वाद मुझे मेरे जीवन में पग-पग बढ़ा सका है। और जब मैं मुड़ कर गत-जीवन की ओर देखता हूँ तो लगता है मुझको लेकर मेरे पास अपना जैसा कुछ नहीं है। यदि मेरे जीवन से वह सब कुछ निकाल दिया जाय जो दूसरों के स्नेह और आशीर्वाद का है तो लगता है मैं शून्य को घेरे हुए परिधि मात्र रह जाऊँगा।

आज मुझे सबसे अधिक उन गुरुजनों का स्मरण आ रहा है जिन्होंने मेरे विद्यार्थी-जीवन के पग-पग पर मुझे सहारा दिया है। उनका स्नेह पूर्ण प्रोत्साहन ही था जो मेरी विवश निराशाओं में भी मुझे आशा और आश्वासन देता रहा है। परीक्षाओं में जब जब अपनी विवशता और दूसरों के अन्याय के कारण मेरा प्राप्य मुझे नहीं मिला, मेरे उन गुरुजनों ने ममत्वपूर्ण स्नेह के स्वर में यही कहा था—"अध्ययन और आज की इन परीक्षाओं में कोई संबंध नहीं, रघुवंश, वाणी के मंदिर में साधना ही सच्ची परीक्षा है।" सो सब कुछ तो मैं नहीं कर सका, लेकिन उनके स्नेह से जो प्रोत्साहन और प्रेरणा मिलती रही थी, उसी के फलस्वरूप मैं इस रास्ते इतना आगे बढ़ सका हूँ—यह मेरा विश्वास है।

विश्वविद्यालय के विद्यार्थी-जीवन में मुझे सब से अधिक संघर्ष करना पड़ा है। पर गुरुजनों की कृपा मुझ पर रही है और उनका मैं आभारी हूँ। होस्टल-जीवन में मुझे जो सुविधाएँ प्राप्त थीं उसके लिए अपने होस्टल के सेक्रेटरी पं० अमरनाथप्रसाद जी दुबे और

वार्डन पं० देवीप्रसाद जी का मैं कृतज्ञ हूँ। पूज्य दुबे जी के सहज स्वभाव के लिए मेरे मन में अत्यंत श्रद्धा है। श्रद्धेय कुलपति पं० अमरनाथ झा जी ने समय-समय पर जो सहायता और सुविधाएँ मुझे प्रदान की, उनके बिना मेरा कार्य्य सम्भव नहीं था और मैं उनकी उदारता के प्रति अनुगृहीत हूँ। पूज्य डा० धीरेन्द्र वर्मा जी ने मेरे कार्य के विषय में समय-समय पर परामर्श आदि से मुझे सहायता दी है, और उसके लिए मैं उनका आभारी हूँ।

पूज्य डा० रामकुमार वर्मा जी के निरीक्षण में मैंने यह कार्य किया है। और उन्होंने निरन्तर अपना बहुमूल्य समय देकर मेरी सहायता की है। उनके स्नेह और अनुग्रह दोनों के लिए मैं कृतज्ञ हूँ। पूज्य पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी जी ने जो स्नेह और अपना समय मुझे दिया, वह स्मरणीय है। मैं कई सप्ताह तक शांति निकेतन में उनके साथ रहकर जो स्नेह और परामर्श पा सका, उसके लिए नहीं जानता किस प्रकार कृतज्ञता प्रकाशन करूँ।

श्रद्धेया शुभ श्री महादेवी जी ने व्यस्त और अस्वस्थ स्थिति में भी इसके लिए दो शब्द लिखने का कष्ट उठाया है। उनका जो सहज स्नेह मुझे प्राप्त है, उसके लिए क्या कहूँ। साथ ही इधर कई वर्षों से जो स्नेह और सहयोग मुझे अपने परम आत्मीय और सुहृद् मित्रों, रामलाल, आत्माराम, केशवप्रसाद, गंगाप्रसाद पाण्डेय, रामसिंह तोमर और ब्रजमोहन जी से मिलता रहा है—उसका इस अवसर पर स्मरण अनायास ही आ जाना स्वाभाविक है—हम अपने संबंधों की निकटता में ऐसे ही हैं।

इस खोज-कार्य को लेकर कुछ ऐसे आत्मीय मित्रों की स्मृतियाँ मेरे मन में कौंध रही हैं, जो मेरे हर्ष-विषाद का कारण है। ओम्प्रकाश ने यदि मुझे एम० ए० पास करने के बाद न दिया होता, तो शायद ही यह कार्य मैं प्रारम्भ कर बहन सीतारानी और भाई रामानन्द से मिलाने का श्रेय भी

इन्हीं का है। इन दोनों ने मेरी आर्थिक कठिनाई के प्रारम्भिक वर्षों में जो सहायता दी है, उसके बिना मैं इलाहाबाद नहीं रह सकता था। स्वर्गीय मथुराप्रसाद की याद तो आज मेरे विद्यार्थी जीवन की सबसे निर्मम कसक है—वे मेरे एम० ए० के सहपाठी थे और उनका स्नेह और हास्य मेरे लिए सबसे सबल प्रेरणा शक्ति थी।

खोज-कार्य के संबंध में श्री पृथ्वीनाथ जी ने पुस्तकालय और पुस्तकों को खोजने में, श्री 'क्षेम' जी ने पुस्तकों को सूची बनाने में और हमारे लाइब्रेरी के उपाध्यक्ष श्री त्रिवेदी जी तथा श्री मिश्र जी ने जो सौजन्यता तथा सहायता दी है उसके लिए मैं अत्यंत आभारी हूँ।

इस पुस्तक के छपने का श्रेय भाई हरीमोहन दास और श्री पुरुषोत्तमदास जी टंडन को है, उनकी इस कृपा के लिए मैं आभारी हूँ। साथ ही हिन्दी साहित्य प्रेस के कर्मचारियों का भी कृतज्ञ हूँ।

अन्त में मैं पाठकों से क्षमा मागूँगा, क्योंकि पुस्तक में छपाई और प्रूफ संबंधी अनेक भूलें रह गई हैं जिनको अगले संस्करण में ही सुधारा जा सकेगा।

फाल्गुन कृष्ण ७,२००५

रघुवंश

दो शब्द

दृश्य प्रकृति मानव-जीवन को अथ से इति तक चक्रवाल की तरह घेरे रहती है। प्रकृति के विविध कोमल-कठिन सुन्दर-विरूप, व्यक्त-रहस्यमय रूपों के आकर्षण-विकर्षण ने मनुष्य की बुद्धि और हृदय को कितना परिष्कार और विस्तार दिया है इसका लेखा जोखा करने पर मनुष्य प्रकृति का सब से अधिक ऋणी ठहरेगा। वस्तुतः संस्कार-क्रम में मानवजाति का भावजगत ही नहीं उसके चिन्तन की दिशायें भी प्रकृति के विविध रूपात्मक परिचय तथा उससे उत्पन्न अनुभूतियों से प्रभावित हैं।

ऐसी स्थिति में काव्य, जो बुद्धि के मुक्त वातावरण में खिला भावभूमि का फूल है प्रकृति से रंग रूप पाकर विकसित हो सका तो आश्चर्य नहीं।

हमारे देश की धरती इतनी विराट है कि उसमें प्रकृति की सभी सरल कुटिल रेखायें और हल्के गहरे रंग एकत्र मिल जाते हैं। परिणामतः युग विशेष के काव्य में भी प्रकृति की अनमिल रेखायें और विरोधी रंगों की स्थिति अनिवार्य है। पर इन विभिन्नताओं के मूल में भारतीय दृष्टि की वह एकता अक्षुण्ण रहती है जो प्रकृति और जीवन को किसी विराट समुद्र के तल और जल के रूप में ग्रहण करने की अभ्यस्त है।

हमारे यहां प्रकृति जीवन का [illegible] आकार भी है। हमारी प्रकृति को काव्य-स्थि[illegible] तक का अवरोह और देवालय से [illegible] मिलते हैं।

[illegible] रूपों की

[illegible] वैभव की

चित्रशाला है।

वैदिककाल के ऋषि प्राकृतिक शक्तियों से सभीत होने के कारण उनकी अर्चना वन्दना करते थे, ऐसी धारणा संकीर्ण ही नहीं भ्रान्त भी है। उषा, मरुत, इन्द्र, वरुण जैसे सुन्दर, गतिशील, जीवनमय और व्यापक प्रकृति रूपों के मानवीकरण में जिस सूक्ष्म निरीक्षण, सौन्दर्यबोध और भाव की उन्नत भूमि की अपेक्षा रहती है वह अज्ञान-जनित आतंक में दुर्लभ है। इसके अतिरिक्त मनोविकार और उनकी अभिव्यक्ति ही तो काव्य नहीं कहला सकती। काव्य की कोटि तक पहुँचने के लिए अभिव्यक्ति को कला के द्वार से प्रवेश पाना होता है।

हमारे वैदिक कालीन प्रकृति-उद्‌गीथ भाव की दृष्टि से इतने गम्भीर और व्यञ्जना की दृष्टि से इतने पूर्ण और कलात्मक हैं कि उन्हें अनुभूत न कहकर स्वतः प्रकाशित अथवा अनुभावित कहा गया है।

इस सहज सौन्दर्य-बोध के उपरान्त जो जिज्ञासामूलक चिन्तना जागी वह भी प्रकृति को केन्द्र बना कर घूमती रही। वेदान्त का अद्वैतमूलक सर्ववाद हो या सांख्य का द्वैत मूलक पुरुष-प्रकृतिवाद सब चिन्तन-सरणियाँ प्रकृति के धरातल पर रह कर महाकाश को छूती रहीं।

उठती गिरती लहरों के साथ उठने गिरने वाले को जैसे सब अवस्थाओं में जल की तरलता का ही बोध होता रहता है उसी प्रकार वैदिककाल के अलौकिक प्रकृतिवाद से संस्कृत काव्य की स्नेह सौहार्दमयी संगिनी प्रकृति तक पहुँचने पर भी किसी विशेष अन्तर का बोध न हो यह स्वाभाविक है।

संस्कृत काव्यों के पूर्वार्ध में प्रकृति ऐसी व्यक्तित्वमती और स्पन्दनशील है कि हम किसी पात्र को एकाकी की भूमिका में नहीं पाते। कालिदास या भवभूति की प्रकृति को जड़ और मानव भिन्न

स्थिति देने के लिए हमें प्रयास करना पड़ेगा। जिस प्रकार हम पर्वत, वन, निर्झर आदि से शून्य धरती की कल्पना नहीं कर सकते उसी प्रकार इन प्रकृति रूपों के बिना मानव की कल्पना हमारे लिए कठिन हो जाती है।

संस्कृत काव्य के उत्तरार्ध की कथा कुछ दूसरी है। भाव के प्रवाह के नीचे बुद्धि का कठोर धरातल अपनी सजल एकता बनाये रहता है, किन्तु उसके रुकते ही वह पंकिल और अनमिल दरारों में बँट जाने के लिए विवश है।

हिन्दी काव्य को संस्कृत काव्य की जो परम्परा उत्तराधिकार में प्राप्त हुई वह रूढ़िगत तो हो ही चुकी थी साथ ही एक ऐसे युग को पार कर आई थी जो संसार को दुःखमय मानने का दर्शन दे चुका था। जीवन की देशकाल गत परिस्थितियों ने इस साहित्य-परम्परा को इतना अवकाश नहीं दिया कि वह अपनी कठोर सीमा रेखाओं को कुछ कोमल कर सकती। परन्तु जिस प्रकार जीवन के लिए यह सत्य है कि वह अंश-अंश में पराजित होने पर भी सर्वांश में कभी पराजित नहीं होता उसी प्रकार प्रकृति भी अपराजित ही रही है। हर नवीन युग की भावभूमि पर वह ऐसे नये रूप में आविर्भूत होती रहती है जो न सर्वतः नवीन है और न पुरातन।

हिन्दी काव्य का मध्ययुग अनेक परस्पर विरोधी सिद्धान्तों, आदर्शों और परम्पराओं को अपनी वैयक्तिक विशेषता पर सँभाले हुए है। उसने अपने उत्तराधिकार में मिले उपकरणों को अपने पथ का सम्बल मात्र बनाया और जहाँ वे भारी जान पड़े वहीं उनके कुछ अंश को निसंकोच फेंक कर आगे पग बढ़ाया। आज वर्तमान के वातायन से उन सुदूर अतीत के यात्रियों पर दृष्टिपात करते ही हमारा मस्तक सम्मान से नत हो जाता है, अतः उनके काव्य की कोई निष्पक्ष विवेचना सहज नहीं। विस्तार की दृष्टि से भी यह कार्य अधिक समय और अध्यवसाय की अपेक्षा रखता है। दर्शन और

भाव की दृष्टि से यह काव्ययुग ऐसा विविध रूपात्मक हो उठ
उसकी किसी एक विशेषता के चुनाव में ही जिज्ञासा थक
निर्गुण के मुक्त आकाश में सगुणवाद की इतनी रंग
बदलियाँ घिरी रहती हैं कि पैनी दृष्टि भी न आकाश पर ठहर
और न घटाओं पर स्थिर हो पाती है। साधना के अकूल सिकता
में माधुर्य भाव के इतने फूल खिले हुए हैं कि न रुकने वाले
भी ठहर-ठहर जाते हैं। अव्यक्त रहस्य पर व्यक्त तत्व ने इतनी
खींच दी है की एक की नापतोल में दूसरा नपता-तुलता रह

ऐसे युग की प्रकृति और उसकी काव्य स्थिति के
का कार्य विषय की विविधता के कारण एक दिशा में नहीं

भाई रघुवंश जी ने इस युग के काव्य और प्रकृति
शोध का विषय स्वीकार कर एक नई दिशा की सफल खोज की

शोधमूलक प्रबन्धों के सम्बन्ध में प्रायः यह धारणा
कि उनमें शोधकर्त्ता का अध्यवसाय मात्र अपेक्षित है,
प्रतिभा उसके लिए अनावश्यक है। इस धारणा का
मौलिककृती और चिन्तनशील विद्वान के बीच की
जायगी जो विदेशी भाषा के प्राधान्य के कारण बढ़ती ही

प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक प्रतिभावान साहित्यिक और
जिज्ञासु हैं अतः उनके प्रबन्ध में चिन्तन और भाव
समन्वय स्वाभाविक हो गया है। हिन्दी के क्षेत्र में
संस्कृत ही उनका विषय रहा है, अतः उनके अध्ययन
अधिक विस्तृत है।

किसी कृति को त्रुटि रहित कहना तो उसके लेखक
विकास का मार्ग बन्द कर देना है। विश्वास है कि
की त्रुटियों में भी विद्वानों को भावी विकास के संकेत मिलेंगे।

प्रयाग, १०-२-४८

स्थिति देने के लिए हमें प्रयास करना पड़ेगा। जिस प्रकार हम पर्वत, वन, निर्झर आदि से शून्य धरती की कल्पना नहीं कर सकते उसी प्रकार इन प्रकृति रूपों के बिना मानव की कल्पना हमारे लिए कठिन हो जाती है।

संस्कृत काव्य के उत्तरार्ध की कथा कुछ दूसरी है। भाव के प्रवाह के नीचे बुद्धि का कठोर धरातल अपनी सजल एकता बनाये रहता है, किन्तु उसके रुकते ही वह पंकिल और असमिल दरारों में बँट जाने के लिए विवश है।

हिन्दी काव्य को संस्कृत काव्य की जो परम्परा उत्तराधिकार में प्राप्त हुई वह रूढ़िगत तो हो ही चुकी थी साथ ही एक ऐसे युग को पार कर आई थी जो संसार को दुःखमय मानने का दर्शन दे चुका था। जीवन की देशकाल गत परिस्थितियों ने इस साहित्य-परम्परा को इतना अवकाश नहीं दिया कि वह अपनी कठोर सीमा-रेखाओं को कुछ कोमल कर सकती। परन्तु जिस प्रकार जीवन के लिए यह सत्य है कि वह अंश-अंश में पराजित होने पर भी सर्वांश में पराजित नहीं होता उसी प्रकार प्रकृति भी अपराजित है। वह हर नवीन युग की भावभूमि पर वह ऐसे नये रूप में आती रहती है जो न सर्वतः नवीन है और न ...

हिन्दी काव्य का मध्ययुग
आदर्शों और परम्पराओं को
हुए है। उसने
पथ

भाव की दृष्टि से यह काव्ययुग ऐसा विविध रूपात्मक हो उठा है। उसकी किसी एक विशेषता के चुनाव में ही जिज्ञासा थक जाती है।

निर्गुण के मुक्त आकाश में सगुणवाद की इतनी सजल रंगीन बदलियाँ घिरी रहती हैं कि पैनी दृष्टि भी न आकाश पर ठहर पाती है और न घटाओं पर स्थिर हो पाती है। साधना के अकूल सिकता-विस्तार में माधुर्य्य भाव के इतने फूल खिले हुए हैं कि न रुकने वाले कठोर पग भी ठहर-ठहर जाते हैं। अव्यक्त रहस्य पर व्यक्त तत्व ने इतनी रेखायें खींच दी हैं की एक की नापतोल में दूसरा नपता-तुलता रहता है।

ऐसे युग की प्रकृति और उसकी काव्य स्थिति के सम्बन्ध में शोध का कार्य विषय की विविधता के कारण एक दिशा में नहीं चल पाता।

भाई रघुवंश जी ने इस युग के काव्य और प्रकृति को अपनी शोध का विषय स्वीकार कर एक नई दिशा की सफल खोज की है।

शोधमूलक प्रबन्धों के सम्बन्ध में प्रायः यह धारणा रहती है कि उनमें शोधकर्त्ता का अध्यवसाय मात्र अपेक्षित है, मौलिक प्रतिभा उसके लिए अनावश्यक है। इस धारणा का कारण यहाँ के मौलिककृती और चिन्तनशील विद्वान के बीच की खाई ही कही जायगी जो विदेशी भाषा के प्राधान्य के कारण बढ़ती ही गई।

प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक प्रतिभावान साहित्यिक और अध्यवसायी जिज्ञासु हैं अतः उनके प्रबन्ध में चिन्तन और भाव का अच्छा समन्वय स्वाभाविक हो गया है। हिन्दी के क्षेत्र में आने से पहले संस्कृत ही उनका विषय रहा है, अतः उनके अध्ययन की परिधि अधिक विस्तृत है।

किसी कृति को त्रुटि रहित कहना तो उसके लेखक के भावी विकास का मार्ग बन्द कर देना है। विश्वास है कि प्रस्तुत अध्ययन की त्रुटियों में भी विद्वानों को भावी विकास के संकेत मिलेंगे।

प्रयाग, १०-१-४८

महादेवी

प्रकृति और हिन्दी काव्य

आमुख

§ १—प्रस्तुत कार्य्य को आरम्भ करने के पूर्व हमारे सामने 'प्रकृति और काव्य' का विषय था। प्रचलित अर्थ में इसे काव्य में प्रकृति-चित्रण के रूप में समझा जाता है, पर हमारे सामने

विषय प्रवेश

यह विषय इस रूप में नहीं रहा है। जब हमको हिन्दी साहित्य के भक्ति तथा रीति कालों को लेकर इस विषय पर खोज करने का अवसर मिला, उस समय भी विषय को प्रचलित अर्थ में नहीं स्वीकार किया गया है। हमने विषय को काव्य में प्रकृति संबन्धी अभिव्यक्ति तक ही सीमित नहीं रखा है। काव्य को कवि से अलग नहीं किया जा सकता, और कवि के साथ उसकी समस्त परिस्थिति को स्वीकार करना होगा। यही कारण है कि यहाँ प्रकृति और काव्य का संबन्ध कवि की अनुभूति तथा अभिव्यक्ति—दोनों के विचार से समझने का प्रयास किया गया है, साथ ही काव्य की रसात्मक प्रभाव-शीलता को भी दृष्टि में रक्खा गया है। विषय की इस विस्तृत सीमा में प्रकृति और काव्य संबन्धी अनेक प्रश्न सन्निहित हो गए हैं। प्रस्तुत कार्य्य में केवल 'ऐसा है' से सन्तुष्ट न रहकर, 'क्यों है ?' और 'कैसे है ?' का उत्तर देने का प्रयास किया गया है। कार्य्य के विस्तार से यह स्पष्ट है कि इस विषय से संबन्धित इन तीनों प्रश्नों के आधार पर आगे बढ़ा गया है। सम्भव है यह प्रयोग नवीन होने से प्रचलित के अनुरूप न लगता हो; और प्रकृति तथा काव्य की दृष्टि से युग की व्यापक पृष्ठ-भूमि और आध्यात्मिक साधना संबन्धी विस्तृत विवेचनाएँ विचित्र लगती हों। परन्तु विचार करने से यही उचित लगता है कि विषय की यथार्थ विवेचना वैज्ञानिक रीति से इन तीनों ही प्रश्नों को लेकर की जा सकती है।

गया है। दूसरे भाग में निश्चित कालों के काव्य के अध्ययन को प्रस्तुत करके सिद्धान्तों को एकत्रित किया गया है; यह निगमन प्रणाली है। अन्य जिन शास्त्रों के सिद्धान्तों का आश्रय लिया गया है वह साधारण सहज बोध के आधार पर ही हो सका है। यह सहज बोध का आधार प्रस्तुत विषय के अनुरूप है; आगे इस पर प्रथम भाग के प्रथम प्रकरण में विचार किया गया है।

§ ४—हमारे खोज-कार्य की सीमा में हिन्दी साहित्य के भक्ति तथा रीति काल स्वीकृत हैं। परन्तु प्रस्तुत विषय की दृष्टि से इन दोनों कालों को अलग मानकर चलना उचित नहीं होगा, ऐसा कार्य के आगे बढ़ने पर समझा गया है। इसलिए इन दोनों को हमने सर्वत्र हिन्दी साहित्य का मध्ययुग माना है। संक्षेप के विचार से अनेक स्थलों पर केवल मध्ययुग कहा गया है। भारतीय मध्ययुग को अलग करने के लिए उसके लिए सर्वदा 'भारतीय मध्ययुग' का प्रयोग किया गया है। भक्ति-युग के प्रारम्भ से रीति-सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ मिलती रही हैं और भक्ति-काव्य की परम्पराएँ बाद तक बराबर चलती रही हैं। यह बहुत कुछ अवसर और संयोग भी हो सकता है कि युग के एक भाग में एक प्रकार के महान कवि अधिक हुए। यद्यपि राजनीतिक वातावरण का प्रभाव रीति-काल की प्रेरणा के रूप में अवश्य स्वीकार किया जावेगा। परन्तु इन कारणों से अधिक महत्त्वपूर्ण बात इन कालों को मध्ययुग के रूप में मानने के लिए यह है कि अधिकांश भक्त-कवि साहित्यिक आदर्शों का पालन करते हैं और अधिकांश रीतिकालीन कवि साधक न होकर भी भक्त हैं। इस के अतिरिक्त जैसा कहा गया है विषय के विचार से इन कालों को एक नाम से कहना अधिक उपयोगी रहा है। ऐसा करने से एक ही प्रकार की बात को दोबारा कहने से बचा जा सका है और साथ ही कार्य में सामञ्जस्य स्थापित किया गया है। प्रकृति के विचार से रीति-काल भक्ति-काल से समृद्ध बहुत संक्षिप्त हो जाता।

युग की समस्या

इस प्रकार भक्ति-काल तथा रीति-काल के लिए सर्वत्र मध्ययुग क
प्रयोग किया गया है।

§ ५—मध्ययुग के काव्य की प्रवृत्तियों के विषय में विचार कर
समय 'स्वच्छंदवाद' का प्रयोग हुआ है। यह शब्द अंगरेज
शब्द 'Romanticism' से बहुत कुछ समता रखत
हुए भी बिलकुल उसी अर्थ में नहीं समझा ज
सकता है। इसका विभेद बहुत कुछ विवेचन
के माध्यम से ही व्यक्त हुआ है। यहाँ यह कह देना ही पर्याप्त है वि
इनमें जीवन की उन्मुक्त अभिव्यक्ति का विषय समान है, पर प्रकृति
संबन्धी दृष्टि विन्दुओं का भेद है। आगे की विवेचना में काव्य में प्रकृति
रूपों की व्याख्या करते समय प्रकृतिवादी रूपों का उल्लेख तुलनात्मक
दृष्टि से किया गया है। इस तुलनात्मक अध्ययन से इस युग के काव
में प्रकृति के स्थान के प्रश्न पर अधिक प्रकाश पड़ सका है और प्रकृति
वादी दृष्टि की उपेक्षा का कारण भी स्पष्ट हो गया है। प्रकृतिवादं
या 'रहस्यवादी साधक' का प्रयोग ऐसे ही प्रसंगों में हुआ है
जिनका अर्थ उन कवि अथवा रहस्यवादियों से है जिन्होंने प्रकृति के
अपना माध्यम स्वीकार किया है।

स्वच्छंदवाद और प्रकृतिवाद

§ ६—मध्ययुग के काव्य को समझने के लिए एक बात का
जान लेना आवश्यक है। यह है इस युग का रूपात्मक रूढ़िवाद
(Formalism); वस्तुतः जिस अर्थ में हम आज इसे
लेते हैं, उस युग के लिए यह ऐसा नहीं था।
वस्तुतः भारतीय आदर्शवाद में जो 'सादृश्य' की भावना स्वर्गीय
कल्पना से रूप ग्रहण करती है, उसी का यह परिणाम था।
भारतीय कला तथा साहित्य में परम्परा या परिपाटी आदर्श
के रूप में स्वीकृत चली आती थी, और उसका अनुकरण साहित्य
तथा कला का आदर्श बन गया था। इसी कारण अधिकतर मध्ययुग
के काव्य में लगता है किसी एक ही प्रकार (टाइप) का

रूपात्मक रूढ़िवाद

अनुकरण है। किसी युग के काव्य को समझने के लिए उसके वातावरण और आदर्शों को जान लेना आवश्यक है। साधारण आलोचना के क्षेत्र में इस बात की स्वतंत्रता हो सकती है कि हम अपने विचार और आदर्शों से किसी युग पर विचार करें। परन्तु खोज-कार्य्य में हमारे सामने युग की प्रत्यक्षीकरण और उसकी वास्तविक प्रवृत्तियों की व्याख्या होनी चाहिए। इसी सिद्धान्त की दृष्टि से प्रस्तुत कार्य्य में युग को उसकी भावना के साथ समझने के प्रयास में उसकी रूपात्मक रूढ़िवादिता को स्वीकार किया गया है।

§ ७—विषय का क्षेत्र नवीन होने के कारण शब्द तथा शैली दोनों की कठिनाइयाँ सामने आई हैं। शब्दों के विषय में केवल उन्हीं नवीन शब्दों को अपनाया गया है जिनके लिए शब्द नहीं थे अथवा उचित शब्द नहीं मिल सके। नवीन शब्दों को प्रसंग के साथ बोधगम्य करने का प्रयास किया गया है, फिर भी इस विषय में कुछ कठिनाई अवश्य हो सकती है। कुछ शब्दों का प्रचलित अर्थ से भिन्न अर्थ में प्रयोग किया गया है। इनमें 'विज्ञान' शब्द अधिक महत्त्व पूर्ण है। आइडिया (Idea) के अर्थ में आइडिलिज्म के समानार्थ में विज्ञानवाद का प्रयोग हुआ है। इसके प्रचलित अर्थ के लिए भौतिक विज्ञान (Science) शब्द का प्रयोग किया गया है। यद्यपि इसके साथ वैज्ञानिक (Scientist) शब्द को प्रचलित अर्थ में स्वीकार किया गया है। इससे विवेचना में कोई भ्रम भी नहीं हो सकता, क्योंकि पहले अर्थ के साथ 'विज्ञानवाद' तथा विज्ञान-तत्त्व तथा विज्ञान-वादी शब्द ही बनते हैं। कुछ शब्दों की सूची अन्त में सुविधा की दृष्टि से दे दी गई है।

शब्द और शैली

शैली की दृष्टि से भी कुछ कठिनाइयाँ सामने रही हैं। सम्पूर्ण कार्य्य में सम्भव है कुछ विचार तथा उदाहरण दुहरा गए हों, क्योंकि कार्य्य के विभाजन की दृष्टि से ऐसा हो सकता था। भरसक ऐसा होने से बचाया गया है; फिर भी इस विषय में त्रुटियों के लिए क्षमा याचना की जा रही है।

विषय संबन्धी निष्कर्षों को व्याख्या के साथ ही स्पष्ट कर दिया गया है। इसलिए उनको एकत्रित रखने की आवश्यकता नहीं हुई।

प्रयाग विश्वविद्यालय,
प्रयाग
११ जनवरी, १९४८ ई०

विषय निर्देशक

मुख—विषय प्रवेश—मानव की मध्य स्थिति—कार्य की सीमा का निर्देश—युग की समस्या—स्वच्छंदवाद और प्रकृतिवाद—रूपात्मक रूढ़िवाद—शब्द और शैली।

प्रथम भाग

प्रकृति और काव्य

प्रथम प्रकरण

ति का प्रश्न (रूपात्मक और भावात्मक) २–२८

प्रकृति क्या है—सहज बोध की दृष्टि—विवेचना का क्रम

भौतिक प्रकृति—भौतिक तत्व और विज्ञान तत्व—भारतीय तत्ववाद—यूनानी तत्ववाद—सहज बोध की स्वीकृति।

दृश्य प्रकृति—मन और शरीर—समानान्तरवाद—सचेतन प्रक्रिया—दोनों ओर से—दृश और दृश्य—दृश्यजगत् प्राथमिक गुण—माध्यमिक गुण—सामान्य और विशेष।

आध्यात्मिक प्रकृति—दिक्-काल का छाया रूप—भ्रमात्मक स्थिति—प्रकृति का मानवीकरण—भावमग्न प्रकृति—सामाजिक स्तर—धार्मिक साधना।

द्वितीय प्रकरण

: के मध्य में मानव २९–५०

प्रकृति शृङ्खला में।

विकास-क्रम में मानव—विकास के साथ—चेतना में दिक्-काल—प्रकृति से अनुरूपता—मानव विशिष्ट मानव।

सचेतन (आत्म-चेतन) मानव और प्रकृति—आत्म चेतना

प्रकृति और कला में सौन्दर्य—कलात्मक दृष्टि—मानसिक स्तरों का भेद।
प्रकृति का सौन्दर्य—दोनों पक्षों की स्वीकृति—भावपक्ष : संवेदनात्मकता—सहचरण की सहानुभूति—व्यञ्जनात्मक प्रतिबिम्ब भाव—रूपात्मक वस्तु-पक्ष—मानस शास्त्रीय नियम।
प्रकृति सौन्दर्य के रूप—विभाजन की सीमा—महत्—संवेदक सचेतन—प्रकृति प्रेम—मानव इतिहास के क्रम में।

पञ्चम प्रकरण

प्रकृति सौन्दर्य और काव्य ८७—१२६
काव्य की व्याख्या—विभिन्न मतों का समन्वय—काव्य सौन्दर्य व्यञ्जना है—काव्यानुभूति—काव्याभिव्यक्ति—भाव-रूप—ध्वनि-बिम्ब—सामञ्जस्य—काव्यानन्द या रसानुभूति।
आलंबन रूप में प्रकृति—प्रकृति काव्य—स्वानुभूत सौन्दर्य चित्रण—आह्लाद भाव—आनन्दानुभूति—आत्मतल्लीनता—प्रतिबिम्बित सौन्दर्य चित्रण—सचेतन—मानवीकरण भावमग्न।
उद्दीपन रूप प्रकृति—मानव काव्य—मानवीय भाव और प्रकृति—मनःस्थिति के समानान्तर—भावोद्दीपक रूप—अप्रत्यक्ष आलंबन रूप—भावों की पृष्ठभूमि में प्रकृति—भाव व्यञ्जना—सहचरण की भावना।
रहस्यानुभूति में प्रकृति—प्रतीक और सौन्दर्य—भावोल्लास।
प्रकृति सौन्दर्य का चित्रण—रेखा चित्र—संश्लिष्ट चित्रण—कलात्मक चित्रण—आदर्श चित्रण तथा रुढ़िवाद—स्वर्ग की कल्पना।
प्रकृति का व्यञ्जनात्मक प्रयोग—व्यञ्जना और उपमान—उपमानों में रूपाकार—उपमानों से स्थितियोजना—उपमानों से भाव व्यञ्जना।

द्वितीय भाग

हिन्दी साहित्य का मध्य युग (प्रकृति और काव्य)

प्रथम प्रकरण

काव्य में प्रकृति की प्राचीन परम्परा १२९–१५९

(मध्ययुग की पृष्ठ भूमि) काव्य और काव्य शास्त्र।

काव्य शास्त्र में प्रकृति—काव्य का मनस् परक विषयि पक्ष—संस्कृत काव्य शास्त्र में इसका उल्लेख—उपेक्षा का परिणाम—रस की व्याख्या—उद्दीपन विभाव—आरोप—अलङ्कारों में उपमान योजना—हिन्दी काव्य शास्त्र।

काव्य परम्परा में प्रकृति—काव्य रूपों में प्रकृति—सांस्कृतिक आदर्श रूढ़िवाद—वर्णना शैली।

प्रकृति रूपों की परम्परा—आलंबन की सीमा—उन्मुक्त आलम्बन पृष्ठ भूमि : वस्तु आलंबन—भाव आलंबन—आरोपवाद—उद्दीपन की सीमा—विशुद्ध उद्दीपन विभाव—अलंकारों में उपमान—सौन्दर्य से वैचित्र्य—भाव व्यंजना और रूढ़िवाद—हिन्दी मध्ययुग की भूमिका।

द्वितीय प्रकरण

मध्ययुग की काव्य प्रवृत्तियाँ १६०–१९०

युग की समस्या—शंकरा की कड़ी—युग चेतना तथा राजनीति—स्वच्छंद वातावरण।

युग की स्थिति और काव्य—दर्शन और जीवन—सहज आत्मानुभूति—समन्वय दृष्टि—विधानात्मक अद्वैत—व्यापक समता—उन्मुक्त दर्शन—धर्म और समाज का नियमन—विद्रोह और निर्माण—मानव धर्म।

काव्य में स्वच्छंदवाद—साधना की दिशा—प्रेम और भक्ति—सहज आत्माभिव्यक्ति—साधक और कवि—उदाहरण।

माया—स्वच्छंद जीवन—अभिव्यक्त भावना—चरित्र-चित्रण—असफल आन्दोलन।
प्रतिक्रियात्मक शक्तियाँ—सांप्रदायिक रूढ़िवाद—धर्म और विरक्ति—भारतीय आदर्श भावना—काव्य शास्त्र की रूढ़ियाँ—रीति काल।
स्वच्छंदवाद का रूप।

तृतीय प्रकरण

आध्यात्मिक साधना में प्रकृति १९१—२४५

साधना युग।
साधना और प्रकृतिवाद—प्रकृति से प्रेरणा नहीं—अध्यात्म का आधार—अनुभूति का आधार: विचार—ब्रह्म का रूप—ईश्वर की कल्पना—प्रेम भावना—भारतीय सर्वेश्वरवाद।
संत साधना में प्रकृति-रूप—सहज जिज्ञासा—आराध्य की स्वीकृति—एकेश्वरवादी भावना—प्रवहमान् प्रकृति—आत्म तत्त्व और ब्रह्म तत्त्व का संकेत—आध्यात्मिक ब्रह्म की स्थापना—सर्जना की अस्वीकृति तथा परावर—अज्ञात सीमा: निर्मल तत्त्व—सर्वमय परम सत्य—विश्वसर्जन की आरती—आत्मा और ब्रह्म का संबन्ध—भौतिक तत्त्वों के माध्यम से—परम तत्त्व रूप—भावाभिव्यक्ति में प्रकृति रूप—प्रेम की व्यंजना—शांत भावना—रहस्यानुभूति की व्यंजना—तत्त्वों से संबन्धित व्यंजना—इंद्रिय प्रत्यक्षों का संयोग—अधिभौतिक और अलौकिक रूप—विश्वात्मा की कल्पना—अतीत की भावना—अतिप्राकृत का आश्रय—रहस्यवादी भाव व्यंजना—दिव्य प्रकृति से—साधना में उद्दीपक प्रकृति रूप—अन्तर्मुखी साधना और प्रकृति—उलटबाँसियों में प्रकृति उपमान—प्रेम का संकेत—चरम सत्य में रूपों का विचित्र संयोग।

चतुर्थ प्रकरण

आध्यात्मिक साधना में प्रकृति रूप (क्रमशः)

प्रेमगाथाओं की व्यंजना में प्रकृति-रूप—फ़ारस के सूफ़ी कवि—एकेश्वरवाद की भावना—परिव्याप्त सत्ता—अन्यरूप—वातावरण निर्माण में आध्यात्मिक व्यंजना—सत्य और प्रेम—अलौकिक सौन्दर्य (रूपात्मक)—भावात्मक-प्रेम संबन्धी व्यंजना—प्रतिबिंब भाव—सौन्दर्य आलंबन—भावात्मक सौन्दर्य का प्रभाव—संकेत रूप और प्रकृति में प्रतिबिंब भाव—सौन्दर्य से मुग्ध और विमोहित प्रकृति—नखशिख योजना, वैभव और सम्मोहन, जायसी की नख-शिख कल्पना—अन्य कवि और नख शिख—प्रकृति और पात्र—प्रकृति उपमानों से व्यंजना—जीवन और जगत् का सत्य। २४६–२८५

पंचम प्रकरण

आध्यात्मिक साधना में प्रकृति रूप (क्रमशः)

भक्ति भावना में प्रकृति रूप—रूप की स्थापना—प्रकृतिवादी सौन्दर्योपासना और सगुणवादी रूपोपासना—रूप में शील और शक्ति—रूप-सौन्दर्य—रूप में आकार और व्यक्तित्व—वस्तु रूप स्थिर सौन्दर्य—सचेतन गतिशील सौन्दर्य—अनन्त और असीम सौन्दर्य—अलौकिक सौन्दर्य कल्पना—युगुल सौन्दर्य—अन्य वैष्णव कवियों में—विद्यापति—रीतिकालीन कवि—विराट रूप की योजना—प्रकृति का आदर्श रूप—कृष्ण काव्य में—प्रभावात्मक क्रीड़ाशील प्रकृति—ऐश्वर्य का प्रभाव—लीला की प्रेरणा—लीला के समक्ष प्रकृति—स्तब्ध और मौन मुग्ध—आनन्दोल्लास में मुखरित। २८६–३२८

षष्ठम प्रकरण

विभिन्न काव्य रूपों में प्रकृति ३२८–३७६

काव्य की परम्पराएँ

कथा काव्य की परम्परा—मध्ययुग के कथा काव्य का विकास—लोक गीति तथा प्रेम कथा काव्य—स्थानगत रूप रंग (देश)—काल—वातावरण में भाव व्यंजना—लोकगीति में स्वच्छंद भावना—व्यापक सहानुभूति—सहचरण की भावना—दूत का कार्य—प्रेम कथा काव्य—प्रकृति का वर्णन—आलंबन के स्वतंत्र चित्र—वर्णन की शैलियाँ—कथा की पृष्ठ भूमि में—जनगीतियों की परम्परा: बारहमासा—साहित्यिक प्रभाव—सहानुभूति का स्वच्छंद वातावरण—राम काव्य की प्रेरणा—स्वतंत्र वर्णन—ऋतु वर्णन—कलात्मक चित्र—सहज संबन्ध का रूप—अलंकृत काव्य परम्परा 'रामचन्द्रिका'—वर्णना का रूप और शैली—कथानक के साथ प्रकृति—वेलि; कलात्मक काव्य—कलापूर्ण चित्रण—एक कथात्मक लोकगीति।

सप्तम प्रकरण

विभिन्नकाव्य-रूपों में प्रकृति (क्रमशः) ३७७-४२२

गीति काव्य की परम्परा—पद गीतियाँ तथा साहित्यिक गीतियाँ—स्वच्छंद भाव तादात्म्य—पदगीतियों में अध्यन्तरित भाव स्थिति—विद्यापति : यौवन और सौन्दर्य—भावात्मक सम—पद गीतियों के विभिन्न काव्य रूप—वृन्दावन वर्णन—रास और विहार—सहचरण की भावना—अन्य प्रसंगों में प्रकृति सादृश्य—उपालम्भ की भावना - अन्यत्र—ऋतु संबन्धी काव्यरूप—अन्य रूप।

मुक्तक काव्य परम्परा—मुक्तकों की शैली—वातावरण और

प्रबन्ध—पृष्ठ भूमि—वाग्दमार्गी की उन्मुक्त भावना—मुक्तकों में इसका रूप—ऋतु वर्णन काव्य—कुछ अन्य रूप।

रीति काव्य की परम्परा—काव्य शास्त्र के रूप—बिहारी के संश्लिष्ट चित्र—सेनापति—यथार्थ वर्णन—कलात्मक चित्रण—आलंकारिक वैचित्र्य—भाव व्यंजना।

षष्ठम प्रकरण

उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत प्रकृति ४०३–४७४

आलंबन और उद्दीपन का रूप—विभाजन की सीमा—उद्दीपन की सीमा—जीवन और प्रकृति का समतल—भाव के आधार पर प्रकृति—प्रकृति का आधार—अनुभावों का माध्यम—आरोपवाद।

राजस्थानी काव्य—ढोला मारूरा दूहा—माधवानल कामकन्दला प्रबन्ध—वेलि क्रिसन रुकमणी री।

संत काव्य—स्वच्छंद भावना—भावों के आधार पर प्रकृति—आरोप।

प्रेम कथा काव्य—प्रकृति और भावों का सामंजस्य—क्रिया और विलास—स्वतंत्र प्रेमी कवि।

राम काव्य—रामचरितमानस—रामचन्द्रिका।

उन्मुक्त-प्रेम काव्य—विद्यापति में यौवन का स्फुरण—आरोप से प्रेरणा—मीरा की उन्मुक्त उद्दीपक प्रकृति—अन्य कवि और रीति का प्रभाव।

पद काव्य—भाव सामंजस्य—भावों के आधार पर प्रकृति—आरोप का आधार।

मुक्तक तथा रीति काव्य—समान प्रवृत्तियाँ—समानान्तर प्रकृति और जीवन—चमत्कृत तथा प्रेरक रूप—स्वाभाविक प्रभाव—भावात्मक पृष्ठ भूमि पर प्रकृति—भाव का आधार—

प्रत्यक्ष स्मृति—उत्तेजक प्रकृति—आशंका और अभिलाषा—भावों की पृष्ठभूमि में प्रकृति—व्यथा और उल्लास—विलास और ऐश्वर्य—आरोपवाद।

नवम प्रकरण

उपमानों की योजना में प्रकृति ४७५–५०२

उपमान या अप्रस्तुत—प्रकृति में स्थिति—काव्य योजना—उपमान और रूपात्मक रूढ़िवाद—मध्ययुग की स्थिति—विवेचन की सीमा।

स्वच्छंद उद्भावना—सामान्य प्रवृत्ति—ढोला मारूरा दूहा—मौलिक उपमानों की कल्पना—परम्परा की सुन्दर उद्भावना—भाव-व्यंजक उपमान—दृष्टान्त आदि—संतों के प्रेम तथा सत्य संबन्धी उपमान।

कलात्मक योजना—विद्यापति—सूरदास—तुलसीदास।

रूढ़िवादी प्रयोग—संस्कृत का अनुसरण—पृथ्वीराज—केशव—रीतिकाल की प्रमुख भावना।

प्रथम भाग

प्रकृति और काव्य

प्रथम प्रकरण

प्रकृति का प्रश्न

(रूपात्मक और भावात्मक)

§१—प्रश्न उठता है प्रकृति क्या है ? काव्य के संबन्ध को लेकर जिसकी व्याख्या करनी है, वह प्रकृति है क्या ? आवश्यक है कि इस शब्द के प्रयोग की सीमाओं को निर्धारित कर लिया जाय। साथ ही यह भी विचार लेना उचित होगा कि व्यापक अर्थ में प्रकृति शब्द क्या बोध कराता है; परम्परा इसे किस अर्थ में ग्रहण करती है; तथा तत्त्ववाद में इसका किस पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग होता है। और इन सबके साथ हमारे निर्धारित अर्थ की संगति भी होनी चाहिए। यहाँ प्रकृति शब्द अङ्गरेज़ी भाषा के 'नेचर' शब्द के लगभग समान अर्थों में समझा जा सकता है। परन्तु यह 'नेचर' शब्द भी अपने प्रयोगों की विभिन्नता के कारण कम भ्रामक नहीं है। परम्परा के

प्रकृति क्या है

अर्थ में समस्त बाह्य जगत् को उसके इंद्रिय-प्रत्यक्ष की रूपात्मकता में और उसमें अधिष्ठित चेतना के साथ प्रकृति माना गया है। परन्तु यह तो व्यापक सीमा है, इसके अन्तर्गत कितने ही स्तरों को अलग अलग प्रकृति के नाम से कहा जाता है। प्रकृति की अनुमानित चेतना को अधिकांश में किसी दैवी-शक्ति के रूप में माना गया है। बाद में समस्त विवेचना के उपरान्त इसी सहज मान्य अर्थ के निकट हमारे द्वारा प्रयुक्त प्रकृति का अर्थ मिलेगा। तत्त्ववादियों ने प्रकृति का प्रयोग दृश्य जगत् के लिए किया है, और इसके परे किसी अन्य सत्य के लिए भी। इस विषय में भारतीय तत्त्ववाद में प्रकृति का प्रयोग दूसरे ही अर्थ में अधिक हुआ है; जब कि योरप के दर्शन में प्रमुख प्रवृत्ति पहले अर्थ की ओर ही लगती है। साथ ही योरप में (कदाचित् जड़-चेतन के आधार पर ही) भौतिक-तत्त्व को प्रकृति के रूप में और विज्ञान-तत्त्व को परम-सत्य के रूप में भी स्वीकार किया गया है। वैसे प्रकृति को लेकर ही भौतिक-तत्त्व और विज्ञान त— का विभाजन किया जाता है। इस दृष्टि से तो प्रकृति भी सत्य है वस्तुतः यह भेद प्रकृतिवादी और ईश्वरवादी विचारकों के दृष्टिकोण कारण है। जहाँ तक भौतिकवादियों और विज्ञानवादियों का प्रश्न वे एक तत्त्व के द्वारा अन्य तत्त्व की व्याख्या करते हुए भी प्रकृति को स्वीकार करते हैं। इनमें से ईश्वरवादी प्रकृति को ईश्वर का स्वभाव मान कर समन्वय उपस्थित कर लेते हैं और इस सीमा पर उनका मत भारतीय विचार धारा के समान हो जाता है। भारतीय तत्त्ववाद के क्षेत्र में एक परम्परा ने पुरुष और प्रकृति की व्याख्या की है। इसके अनुसार प्रकृति पर पुरुष की प्रतिकृति ही बाह्य-जगत् की दृश्यात्मक सत्ता का कारण है। दार्शनिक सीमा में भौतिक-तत्त्व और विज्ञान-तत्त्व से समन्वित प्रकृति का रूप हमारे लिए अधिक ग्रहणीय है।[१]

---

१ अगले भाग के सांस्कृतिक साधना में प्रकृति संबन्धी प्रकरणों में

सहज बोध को लेकर यही मान्य है। तत्त्ववाद में विरोधी विचारों को लेकर दोनों तत्त्वों की एकान्त भिन्नता समझी जा सकती है। परन्तु सहज बुद्धि इसे ग्रहण नहीं कर सकेगी। उसके लिए तत्त्ववादियों का भौतिक-तत्त्व हो अथवा विज्ञान-तत्त्व हो, वह तो उन्हें प्रकृति के चेतन अचेतन भाव-रूपों में सोच समझ सकेगा। वह विज्ञानात्मक आइडिया की व्याप्ति में विश्व को सचेतन भावमय प्रकृति समझ पाता है और भौतिक पदार्थ के प्रसार में विश्व को अचेतन रूपमय प्रकृति मानता है। व्यापक अर्थ में प्रकृति विश्व की सर्जनात्मक प्रतिकृति समझी जाती है। आगे की विवेचना में देखना है कि इस सहज बोध के दृष्टिकोण ने किस प्रकार दार्शनिकों के विभिन्न विरोधी मतवादों को समन्वय का रूप देने का प्रयास किया है। और साथ ही इस समन्वय के आधार को प्रस्तुत करना है जो काव्य जैसे विषय में आवश्यक है।

यहाँ एक बात स्पष्ट कर लेनी आवश्यक है। हम आमुख में प्रकृति और काव्य के मध्य में मानव की स्थिति की ओर संकेत कर चुके हैं। परन्तु प्रकृति को समस्त सर्जनात्मक अभिव्यक्ति स्वीकार कर लेने पर मानव भी प्रकृति के ही अन्तर्भूत हो जाता है। फिर प्रकृति संबन्धी हमारी उलझन कठिन हो जाती है। जब हम, मनस्-युक्त शरीरी अपने से अलग-अलग किसी प्रकृति का उल्लेख करते हैं तो वह क्या है? परन्तु सहज बोध इस विषय में अधिक सोच विचार का अवकाश नहीं देता है। वह तो मानवीय मनस् को एक धरातल पर स्वीकार करके चलता है। इस धरातल पर मनस् और उसको धारण करने वाले शरीर को (साथ ही जैसा आमुख में उल्लेख किया गया है मनुष्य के निर्माण-भाग को भी) छोड़कर अन्य समस्त सचेतन

हम देखेंगे कि किस प्रकार भारतीय साधना में इस भावधारा की प्रमुखता रही है।

और अचेतन सृष्टि प्रसार को प्रकृति स्वीकार किया जाता है। प्रश्न हो सकता है कि सहज बोध के स्वयं-सिद्ध निर्णय को स्वीकार करने के लिए कुछ आधार भी है अथवा यों ही मान लिया जाय। अगले प्रकरण के शरीर और मनस् संबन्धी अनुच्छेद में इस विषय में तत्त्ववादियों और वैज्ञानिकों के मतों की विवेचना की जायगी। लेकिन सहज बोध का मत उपेक्षणीय भी नहीं है।

§२—वस्तुतः सहज बोध की दृष्टि हमारे लिए आवश्यक भी है। हमारा विषय साहित्य है, हमारा क्षेत्र काव्य का है। काव्य में तर्क से अधिक अनुभूति रहती है जो समन्वय के सहज आधार पर ही ग्रहण की जा सकती है।

सहज बोध की दृष्टि

साथ ही काव्यानुभूति में प्रवेश पाने की शर्त रसज्ञता है विद्या का वैभव नहीं। इसलिए भी सहज बोध का आधार हमारी विवेचना के लिए अधिक उचित है। देखा जाता है कि वैज्ञानिकों और तत्त्ववादियों का मत अपनी सीमाओं में सत्य होकर भी एक दूसरे का बहुत कुछ विरोधी होता है। तत्त्ववाद के तर्क हमको ऐसे तथ्यों पर पहुँचा देते हैं, जो साधारण व्यक्ति के लिए आश्चर्य का कारण हो सकता है पर उनके विश्वास की वस्तु नहीं। इस प्रकार के विरोधों को दूर करने के लिए तथा सत्य को बोध-गम्य बनाने के लिए साधारण व्यक्ति के सम्मुख समन्वय का विचार रखना आवश्यक है। दार्शनिकों और वैज्ञानिकों के लिए भी सहज बोध के साक्ष्य पर उसे छोड़ने के पूर्व, विचार कर लेना आवश्यक है। साधारण व्यक्ति और सहज बोध के साक्ष्य का यह तात्पर्य नहीं है कि यह अवैज्ञानिक या अतार्किक मत है अथवा निम्नकोटि की बुद्धि से संबन्धित है। इसका अर्थ केवल यह है कि यह सहजग्राही है। पर यह स्वतः भी अपनी सीमा में वैज्ञानिक तथा तार्किक दृष्टि है।[२] हमारी विवेचना को

---

२ यहाँ सहज बोध सर्व साधारण से संबन्धित नहीं माना जाता

विषय काव्य, मानवीय जीवन और समाज के विकास का एक अंग है। इसलिए हमारे विवेचन का आधार सहज बोध के अनुरूप होना ही चाहिए। जहाँ तक मानवीय समस्याओं की समष्टि रूप से समझने का प्रश्न है तत्त्ववाद और भौतिक विज्ञान एकांगी हैं। एक तो अति-व्याप्ति के दोष से हमारे सामने विरोधी विचारों को उपस्थित करता है जो साधारण व्यक्ति की बुद्धि और अनुभव के पकड़ में नहीं आ सकते। दूसरा अपनी सीमा में इतना संकुचित है कि उससे हमारी जिज्ञासा को संतोष भी नहीं मिलता और व्यापक प्रश्न भी अधूरे रह जाते हैं। इस कारण हमारी विवेचना का आधार प्रमुखतः सहज बोध ही रहेगा। इससे दर्शन और विज्ञान (भौतिक) के सिद्धान्तों के समन्वय का अवसर मिलेगा। साथ ही विवेचना का विषय प्रस्तुत कार्य की परम्परा से अधिक दूर नहीं हो सकेगा।

§३—प्रकृति के स्वरूप के विषय में विचार करने के पूर्व एक उल्लेख और भी कर देना आवश्यक है। इस प्रकरण की व्याख्या किसी विकासोन्मुखी परम्परा या ऐतिहासिक क्रम का अनुसरण न करके अपने प्रतिपादन के क्रम से चलेगी। ऐसी स्थिति में दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक

विवेचना का क्रम

चाहिए और न साधारण व्यक्ति का अर्थ जन साधारण से ही लेना चाहिए। इस विषय में स्टाउट का कथन इस प्रकार है—'व्यावहारिक योग्यता के लिए जो कुछ सिद्धान्त वस्तुतः अपरिहार्य रूप से निश्चित हैं वे सहज बोध द्वारा स्वीकृत माने जाते हैं। फिर भी दार्शनिक ही अपने उच्च स्तर से तथा अपनी प्रणाली से इसकी यथार्थता का निश्चय कर सकता है। लेकिन जब दार्शनिक इस प्रकार आगे बढ़ता है, वह केवल एकान्त रूप से जन साधारण को संतोषित नहीं करता। सहजबोध के नाम पर वह जो कुछ वस्तुपूर्वक कहेगा, व्यापक रूप से मानवीय अनुभवों की तुलनात्मक विवेचना पर ही आधारित होगा।' (मानुअल ऑफ साइक०; प्रथम प्रकरण, कामनसेंस ऐण्ड फ़िलासफ़ी पृ० ६)

सिद्धान्तों में विपर्यय हो सकता है। यह भी सम्भव है कि विकास की किसी प्राथमिक स्थिति को बाद में उठाया जाय और विकास की अन्य कड़ी का उल्लेख पहले ही कर दिया जाय। यहाँ उद्देश्य विषय की सच्ची और पूर्ण व्याख्या उपस्थित करना है। उसमें कोई भी दार्शनिक सिद्धान्त या ऐतिहासिक सत्य प्रस्तुत विषय के समर्थन के लिए कहीं भी उपस्थित हो सकता है।

भौतिक प्रकृति

यहाँ भौतिक प्रकृति से भौतिक-तत्त्व रूप प्रकृति का अर्थ नहीं है। इस स्थल पर भौतिक प्रकृति का प्रयोग मनस् के द्वारा इन्द्रिय प्रत्यक्षों से अनुभूत प्रकृति के रूप से अलग करके समझने के लिए हुआ है। इसको इस प्रकार कह सकते हैं कि द्रष्टा के विचार से अलग करके दृश्य जगत का जो रूप हो सकता है; उस पर इस विभाग में विचार किया जायगा। व्यावहारिक दृष्टि से ऐसा सम्भव नहीं है, पर तत्त्ववाद इस प्रकार की विवेचनाओं का अभ्यस्त है। और इन्हीं विवेचनाओं की समीक्षा भी यहाँ करनी है। हम देखेंगे कि तत्त्ववादियों की भौतिक-प्रकृति संबन्धी विवेचनाओं में भी प्रकृति में सन्निहित भाव और रूप का आश्रय लिया गया है। यह सहज बोध के अनुरूप है।

§४—मिथयुग मानव की प्रवृत्तियों का विकास-युग था। उस समय जैसे मानवीय चेतना प्रकृति के अचेतन क्रोड़ से मनस् की स्वचेतन स्थिति में प्रवेश कर चुकी थी। इस युग का अध्ययन मानवीय प्रवृत्तियों तथा भावों के विकास के लिए आवश्यक है। साथ ही मानव की अध्यात्म संबन्धी रहस्यात्मक चेतना का मूल भी इसी में खोजा जा सकता है। परन्तु इस युग के बाद ही, वरन जब मानव उस युग की स्थिति से अलग हो ही रहा था, वह विश्व रूप प्रकृति के प्रति प्रश्नशील हो उठा। यह सब क्या है, कैसे है और क्यों है। अपने

भौतिक-तत्त्व और विज्ञान तत्त्व

चारों ओर की नाना-रूपात्मक, आकार-प्रकारमयी, ध्वनि-नादों से युक्त, प्रवाहित गतिमान् परिवर्तनशील सृष्टि, प्रकृति के प्रति मानव स्वयं ही धीरे-धीरे जागरूक हुआ—प्रश्नशील हुआ। इसी आधार पर आगे चल कर सर्जन का दार्शनिक प्रश्न सामने आता है और आदि तत्त्व की खोज होती है। पूर्व पश्चिम के अनेक तत्त्ववादियों ने अनेक उत्तर दिए। कोई जल कहता था तो कोई अग्नि। इस व्याख्या के समानान्तर वैदिक-युग के देवताओं की प्रतिद्वन्द्विता का स्मरण आता है। कभी आदि देव सूर्य हैं तो कभी इन्द्र। इन एक और अनेक भौतिक-तत्त्वों से संबन्धित मतवादों के साथ ही वस्तु पदार्थों की तत्त्वतः विज्ञानात्मक स्थिति माननेवाले मत प्रमुख होते गए। जिस प्रकार भौतिक मतवादों में पदार्थ के वस्तु-रूपों पर बल दिया गया, उसी प्रकार विज्ञानात्मक मतवादों में पदार्थ के मनस् से संबन्धित भावों को लेकर चला गया। मनस् का विज्ञानात्मक स्थिति से संबन्ध अगले प्रकरण में अधिक स्पष्ट हो सकेगा। वस्तुतः तत्त्ववाद की दृष्टि में जो भौतिक है वह साधारण अर्थ में प्रकृति का रूप है और जो विज्ञान है वह भाव माना जा सकता है। विज्ञानवादियों में भी अद्वैत तथा द्वैत का मतभेद चला है। यद्यपि तत्त्ववाद में इस सर्जन के सत्य को लेकर अनेक मत प्रचलित रहे हैं; लेकिन आगे चल कर विज्ञानवादियों और भौतिकवादियों की स्पष्ट विरोधी स्थिति उत्पन्न हो गई। एक विज्ञान तत्त्व के माध्यम से समस्त प्रकृति-सर्जना को समझने का प्रयास करता है तो दूसरा सर्जन-विकास के आधार पर भौतिक-तत्त्वों द्वारा मनस् की भी व्याख्या करने का दावा रखता है।

भारतीय तत्त्ववाद

§५—भारतीय तत्त्ववाद यूनानी तत्त्ववाद के समान ही प्राचीन है और महान है। वरन भारतीय दर्शन की परंपरा अधिक प्राचीन तथा व्यापक कही जा सकती है। यहाँ इस समस्या से हमारा कोई संबन्ध नहीं है। हमें तो दोनों ही तत्त्ववादी परंपराओं की समीक्षा में सहज बोध के योग्य

तथ्यों को देखना और ग्रहण करना है। भारतीय दर्शन में वैदिक काल से ही प्रकृति का प्रश्न मिथ संबन्धी रहस्य भावना से हटकर विश्व के रूप में उपस्थित हुआ था। अनेक लोकों के देवता अनेक होकर भी विश्व एक है। यह एकत्व का विश्वास वैदिक ऋषियों को एक परम सत्य की ओर ले गया। सर्जन और विकास दोनों का भाव इसमें मिलता है। वेदों में इन्द्रियातीत परावर सत्ता का उल्लेख भी मिलता है जो विज्ञानात्मक कही जा सकती है। साथ ही पृथ्वी और स्वर्ग की भावना प्रारम्भ से ही भौतिक तत्त्व तथा विज्ञान-तत्त्व का संकेत देती है। अनन्तर उपनिषद्-काल तक भौतिकवादी वेदों के प्रपंच के साथ निष्प्रपंच विश्व की व्याख्या की जाने लगी। आत्मा और विश्वात्मा के रूप में विज्ञान-तत्त्व को ही अधिक महत्त्व मिला। आत्म-तत्त्व विश्व का अन्तर्तम सर्जनात्मक सत्य माना गया। भौतिक स्थिति विश्व की बाहरी रूपात्मकता है, जिसकी कल्पना से ही ब्रह्म (विश्वात्मा) तक पहुँचा जा सकता है। उपनिषदों के मनीषियों में अद्भुत समन्वय बुद्धि है, और इसी कारण उनमें विरोधी बातों का उल्लेख जान पड़ता है। पर वस्तुतः प्रकृति के भाव और रूप दोनों को लेकर मानव चल सका है। और आत्मवाद के रूप में उपनिषद् चरम विज्ञानवाद तक पहुँचते हैं—'वही तू है और मैं ब्रह्म हूँ।' व्यक्ति और विश्व दोनों एक हैं, सत्य अमर है। मनुष्य और प्रकृति, फिर इन दोनों तथा परमतत्त्व में कोई भेद नहीं है। बौद्ध तत्त्ववाद विश्व के विषय में नितान्त यथार्थवादी था। विश्व की क्षणिकता, परिवर्तनशीलता पर ही उसका विश्वास था। बाद में बौद्ध तत्त्ववाद के विकास में भौतिकवाद से विज्ञानवाद की ओर प्रवृत्ति रही है। नागार्जुन के शून्यवाद में तो विज्ञान-तत्त्व भी अपने चरम से लो जाता है पर वैभाषिकों का मत समन्वयवादी रहा है।

भारतीय दर्शन के मध्य युग में न्याय-वैशेषिक तत्त्ववादी भौतिकवादी हैं और अनेकवादी यथार्थ पर बल देते हैं। इन्होंने आत्मा को

एक द्रव्य मात्र माना है, इससे स्पष्ट है कि इन्होंने आत्म-तत्त्व को व्यापक तत्त्व नहीं स्वीकार किया है। ये अरस्तू के समान सभी तत्त्वों को यथार्थ मानकर चलने के पक्ष में हैं। इनके साथ ही सांख्य-योग के तत्त्ववादी भी अनेक को मान कर चलने वाले यथार्थ को स्वीकार करते हैं। परन्तु उनके मतवाद में पुरुष की प्रमुखता के रूप में विज्ञानवादी दृष्टिकोण भी है। निश्चल और निष्क्रिय पुरुष के प्रति-बिम्ब को ग्रहण कर प्रकृति क्रिया-शील हो उठती है। यह मतवाद प्लेटो के विज्ञानात्मक आइडिया के समकक्ष है। आगे चलकर शंकर के अद्वैतवाद में माया के सिद्धान्त को लेकर समन्वय की चेष्टा है, पर वह ब्रह्म को परमसत्य मानकर विज्ञानवाद की ओर ही अधिक जान पड़ता है। इस युग में रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत में प्रमुखतः यह समन्वय अधिक प्रत्यक्ष हो सका है। तर्क और युक्ति के अनुसार शंकर का समन्वय अधिक ठीक है. रामानुजाचार्य का मत सहज व ध के लिए अधिक सुगम रहा है। और अगले भाग में हम देखेंगे कि हिन्दी साहित्य के मध्ययुग के काव्य में इसी समन्वयवाद का आधार रहा है।

§६—यूनान में, सर्वप्रथम अयोनियन तत्त्वजिज्ञासुओं ने मिथ के यूनानी तत्त्ववाद आधार के बिना ही विश्व के भौतिक स्वरूप की व्याख्या प्राकृतिक कारणों से करने का प्रयास किया। उनके मन में भौतिक-तत्त्वों की प्रधानता का कारण, चतुर्दिक फैले हुए विश्व के प्रति उनकी जागरूकता तथा अपनी ज्ञान इन्द्रियों के प्रत्यक्ष पर आश्रित होना समझना चाहिए। योरप में इन्होंने ही आदि तत्त्व पर विचार किया। इन्होंने समस्त भौतिक विभिन्नता और परिवर्तन को किसी परम तत्त्व के स्वरूप परिवर्तन के आधार पर सिद्ध किया है। साधारणतः परीक्षण से भी सिद्ध होता है। एक पदार्थतत्त्व दूसरे पदार्थ-तत्त्व में परिवर्तित होता रहता है; इस प्रकार आदि तत्त्व इन वर्तमान रूपों में परिवर्तित होकर स्थिर है। यह संबन्ध

गति और प्रवाह को लेकर है। फिर क्रम, व्यवस्था और समवाय के आधार पर दिक् के द्वारा विश्व की व्याख्या करने का प्रयास किया गया।[3] अनन्तर प्रकृति के परिवर्तन और भव सर्जन पर निरन्तर दीपशिखा की भाँति प्रज्वलित तथा नष्ट होते विश्व की व्याख्या की गई।[4] अभी तक ये सभी मत भौतिकवादी थे और तत्त्ववादियों का ध्यान प्रकृति के भौतिक रूप पर ही सीमित था। बाद में नितान्त परिवर्तन पर अविश्वास किया गया। विश्व का नियम स्थिरता निश्चित हुआ। कुछ भी अन्य नहीं हो सकता, बिलकुल भिन्न वस्तु नहीं हो सकती। परिवर्तन ससीम का होता है, इन्द्रियातीत असीम का नहीं। आदि तत्त्व का सम्मिलन होता है सर्जन नहीं।[5] इस सिद्धान्त के अन्तर्गत इन्द्रियातीत असीम की कल्पना में ही विज्ञानवाद के बीज सन्निहित हैं। यह मत अपनी व्याख्या में विज्ञानवादी लग कर भी सिद्धान्त की दृष्टि से भौतिकवादी है। इसमें चार आदि तत्त्वों को स्वीकार किया गया है। परन्तु सर्जन की क्रिया शक्ति में जो नाम-रूप परिवर्तनों की व्याख्या की गई है वह सकलन और विकलन के आधार पर की गई है जो राग-द्वेष के समान भावात्मक माने गए हैं। यह प्रकृति की भावात्मकता ही तो विज्ञानवाद की पृष्ठ-भूमि है।

तत्त्ववाद के क्षेत्र में चाहे वह पाश्चात्य दर्शन हो अथवा भारतीय दर्शन, लगभग एक समान परम्परा मिलती है। पहले विभिन्न मतों का प्रतिपादन होता है, फिर विषम स्थिति के कारण ज्ञान पर सन्देह किया जाने लगता है। ज्ञान पर सन्देह का अर्थ है कि उसके माध्यम से परम सत्य को जानना अविश्वसनीय माना जाता है। अन्त में व्यावहारिक क्षेत्र में ज्ञान को स्वीकार करके समन्वय की

---

३ पाइथागोरस : दिक् और संख्या का सिद्धान्त।

४ हेराक्लाइटस् : परिवर्तन का सिद्धान्त

५ एम्पीडाक्लीस : स्थिरतावाद

चेष्टा की जाती है। सोफ़िस्टों ने ज्ञान पर सन्देह किया। परन्तु प्लेटो ने विचारात्मक ज्ञान को विश्व के आदि सत्य को समझने के लिए स्वीकार किया और समन्वयवादी मत उपस्थित किया है। वे परमाणुवादी अनेकता के साथ भावात्मक विज्ञान को मानते हैं। प्लेटो का आइडिया विज्ञान मनस् को ही आधार रूप से स्वीकार करता है। लेकिन यह विज्ञानमय आइडिया मनस् ही नहीं वरन परावर असीम है। इस सामान्य से ही विशेष विज्ञान-रूप महत्त्व करते हैं। यह एक प्रकार का प्रतिबिम्बवाद कहा जा सकता है। साथ ही प्लेटो शुद्ध पूर्ण परावर विज्ञान की बाह्य-दृश्यात्मकता के लिए अभावात्मक पदार्थ की कल्पना भी करते हैं। इस प्रकार उनके सिद्धान्त में व्यावहारिकता को लेकर जैसे भौतिक और विज्ञान दोनों तत्त्वों को स्वीकार किया गया है। समन्वय की दृष्टि से इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के जगत् को समझने के लिए इस भावात्मक विज्ञान-तत्त्व से भिन्न अभावात्मक तत्त्व स्वीकार करना पड़ा। यह शंकर की माया से भिन्न है, क्योंकि यह अभावात्मक तत्त्व विज्ञान-तत्त्व से निम्न श्रेणी का माना गया है, वैसे सत्य है। अपने आप में यह समस्त विशिष्टताओं से शून्य आकारहीन अप्रमाणित और अविचारणीय है। प्रकृति का अस्तित्व इसी अभाव-तत्त्व पर जब विज्ञान-तत्त्व प्रभाव डालता है तभी संभव है। जिस प्रकार किरण आतशी शीशे पर पड़कर अनेक में प्रकट होती है, उसी प्रकार विज्ञान-तत्त्व रूप भावात्मक आइडिया भौतिक-तत्त्व रूप अभावात्मकता में अनेक रूप धारण करता है। फिर भी प्लेटो के सिद्धान्त का झुकाव विज्ञानवाद की ओर है और इसी की प्रतिक्रिया अरस्तू के भौतिकवाद में मिलती है।

योरप का मध्ययुग अंधकार का युग था, इसमें दर्शन और विज्ञान दोनों की विचार-धाराओं का लोप रहा। इस युग में केवल धर्म और अध्यात्म का प्रकाश मिलता है। बाद के नवयुग में यूनानी परम्परा के आधार पर ही दार्शनिक मतों का प्रतिपादन और विकास हुआ है। और तत्त्ववाद में विज्ञानवादी और भौतिकवादियों की

स्थिति लगभग उसी प्रकार रही। साथ साथ दोनों के समन्व
प्रयत्न भी हुआ है। विज्ञानवादियों में यदि स्पिनोज़ा और बार्क
नाम लिया जा सकता है तो भौतिकवादियों में हाब्स और ह्यू
उल्लेख किया जा सकता। हेगल और कान्त ने विज्ञान-तत्त्व के
भौतिक-तत्त्व की भी स्वीकृति दी है इस प्रकार वे समन्वय
कहे जा सकते हैं। इस युग में प्रयोगवादी तथा बुद्धिवादी आ
पर भी द्वैताद्वैत की प्रतिद्वन्द्विता चलती रही है। इस युग में भौ
विज्ञानों के विकास के साथ हमारी अन्तर्दृष्टि भौतिक-पदार्थों में अ
हो गई है। हमारा मानसिक स्थितियों का ज्ञान भी मानसशास्त्र
सहारे बढ़ गया है। ऐसी स्थिति में दोनों मतों के प्रतिपादक
और उनका समन्वय करने वाले तत्त्ववादी भी।

§७—इन समस्त दार्शनिक तत्त्ववादों की सूत्र-रूप व्याख्या
पश्चात् देखना है कि सहज बोध किस सीमा तक इनको ग्रहण

सहज बोध की स्वीकृति

सकता है। साधारण व्यक्ति यथार्थ जगत
स्वीकार करके चलता है। इस यथार्थ के लि
जब तक पर्याप्त कारण नहीं मिलता वह ऐसा ही करे
किसी वृक्ष को देखकर हम वृक्ष ही समझते हैं (आकार-प्र
रंग-रूपमय)। परम सत्य न मानकर भी हम सत्य उसे अव
मानते हैं। पर इस यथार्थ के प्रति सन्देह करने के कारण हैं।
और गुण, इन्द्रियों के विरोधी तथा भ्रमात्मक प्रत्यक्ष इस सन्देह
माध्यम हैं। इन विरोधों को, यथार्थ को अस्वीकार करने के लि
अपर्याप्त भी सिद्ध किया जा सकता है। परंतु ऐसी स्थिति में विश्व
समझने के लिए बहुत सी अदृश्य आवश्यकताओं की उलझनें उत
हो जायँगी। इस प्रकार सहज बोध के लिए सामान्य यथार्थ के परे वि
इन्द्रियातीत सत्ता को मानना आवश्यक हो जाता है। सहज बोध

विज्ञान-तत्त्व की ओर ले जाती है। साथ ही उसका क्रमिक विकास भौतिक-विज्ञानों के भविष्य कथन में सहायक होता है। यद्यपि परिणामवाद में कारण ही कार्य का परभाग है, इसलिए अधिक दूर तक उसे सत्य नहीं माना जा सकता है। इसका तात्पर्य केवल इतना है कि प्रत्येक घटना की संकेत देनेवाली सत्य-स्थिति, किसी विशेष समय में, अन्य सत्यों से संबन्ध रखने वाली संकेतिक घटनाओं के प्रसरित भाग को आत्मसात् किए रहती है। फिर भी परिणामवाद से संबन्धित विश्वास में सहज बोध प्रकृति में भौतिक के साथ किसी अन्य सत्ता को भी स्वीकार करता है। इस प्रकार सहज बोध से हम प्रकृति के रूप और भाव दोनों पक्षों को ग्रहण कर लेते हैं। और यही तो तत्त्वादियों के भौतिक-तत्त्व तथा विज्ञान-तत्त्व का आधार है। ऐसा ही हम ऊपर की विवेचना में देख चुके हैं।

दृश्य प्रकृति

६—दृश्य-जगत् का प्रश्न हमारे सामने उपस्थित हो चुका है। हम निश्चित कर चुके हैं कि तत्त्ववाद की एक स्थिति ऐसी है जिसे सहज बोध ग्रहण कर सकता है। इस सीमा पर हम भौतिक प्रकृति को भावात्मक विज्ञान-तत्त्व और रूपात्मक भौतिक-तत्त्वों में स्वीकार कर चुके हैं। साधारणतः जिसे प्रकृति संबन्धी भाव और रूप कह सकते हैं। व्यावहारिक दृष्टि से जब मनस् और वस्तु को स्वीकार कर लेते हैं, तब मनस् का प्रतिबिम्ब वस्तु पर पड़ने से दृश्य जगत् की सत्ता मानी जा सकती है। दृश्य जगत् के संबन्ध में मनस् का महत्त्व अधिक है। मनस् ही द्रष्टा है। यही मनस् मानव के संबन्ध में मानस या मन माना जा सकता है। इस मन के साथ उसके धारण करने वाले शरीर का प्रश्न भी आ जाता है। मन की क्रिया शरीर के आधार पर है। उसकी प्रक्रिया मस्तिष्क पेशियों और स्नायु तन्तुओं से

मन और शरीर

परिचालित है। साधारणतः यह स्वीकार किया जाता है। परन्तु शरीर भौतिक तत्त्व है और मन (मनस् का ही रूप होने से) विज्ञान तत्त्व है हम इन दोनों ही तत्त्वों को स्वीकार कर चुके हैं। अब प्रश्न है कि ये विभिन्न तत्त्व क्रियाशील कैसे होते हैं। और इस प्रक्रिया का प्रभाव द्वयात्मक प्रकृति पर क्या पड़ता है।

क—मन और शरीर के संबन्ध पर विचार करने वाले तत्त्व-वादियों ने विभिन्न प्रकार से इस संबन्ध की कल्पना की है। मन और वस्तु को अलग स्वीकार करनेवाले विचारकों ने मानवीय मानस को मनस्-तत्त्व रूप मन और वस्तु तत्त्व रूप मस्तिष्क से युक्त माना है। इन दोनों की अलग तथा भिन्न स्थिति के कारण इनमें क्रिया-प्रतिक्रिया का क्रमिक संबन्ध नहीं स्थापित हो सकता। केवल इनकी पूर्णतः समस्थिति स्वीकार की जा सकती है। इनमें से एक मानसिक स्थिति से तथा दूसरी शारीरिक घटना से संबन्धित हो सकती है। इसी क्रिया-प्रतिक्रिया को मनस्-भौतिक समानान्तरवाद के नाम से कहा गया है।[१] कुछ तत्त्ववादी भौतिक-विज्ञानों के आधार पर एकान्त प्रक्रियावाद को मानते हैं। उसी प्रकार कुछ विज्ञान-तत्त्व के आधार पर दूसरे भौतिक-तत्त्वों का विकास मानते हैं। इसको इस प्रकार समझा जा सकता है कि एक मत से, मन से मस्तिष्क परिचालित है और दूसरे मत में मस्तिष्क की विषमता ही मन की व्याख्या है। परन्तु स्वयं भौतिक विकासवादियों ने जीवन के मानसिक स्तर का कोई समुचित उत्तर नहीं पाया है। विलियम जेम्स स्वीकार करते हैं कि नैसर्गिक वरण का सिद्धान्त मानसिक विषमताओं और उसके विकास को स्पष्ट नहीं करता। इस आधार पर भौतिक विकास से उत्पन्न मनस् की कल्पना नहीं की जा सकती।

समानान्तरवाद

---

१ साइकोफिज़िकल पैरेललिज्म (जेम्स वार्ड से)

ख—समानान्तरवाद में दोनों तत्त्वों को अलग अलग माना
ा है और उनकी प्रक्रिया में कार्य-कारण का संबन्ध स्वीकार किया
गया है, जो उचित नहीं। मानसिक भावना और
तेनन प्रक्रिया
इच्छा आदि का पूर्ण विश्लेषण मानस-शास्त्र
कर सका है। और विभिन्न भौतिक-विज्ञानों के द्वारा जीवन
ाभ हल नहीं हो सका है। ऐसी स्थिति में यह कहना उचित
है कि किसी सीमा पर ये दोनों एक दूसरे को स्पर्श कर
ं हैं। अपनी अपनी घटनात्मक स्थिति में ये पूर्ण संबन्धी हो
हैं। भौतिक घटनाएँ किसी स्थान से संबन्धित होती हैं और
ेक घटना किसी मानस के इतिहास में स्थित। फिर इनमें कार्य-
ं का संबन्ध कैसे सम्भव है। परन्तु इससे यह भी सिद्ध नहीं कि
ोनों में कोई पूर्ण संबन्ध नहीं है। दृश्यात्मक प्रकृति मन की
ाकता से संबन्धित है; और शरीर के साथ रूपात्मक स्थिति
इस दृष्टि से भी दोनों के संबन्धी होने में तो कोई विरोध नहीं
ाता। डेकार्टे इनको 'लगभग एक तत्व' मानते हैं। कुछ
ी मनस् को शारीरिक विकास के माध्यम से समझते हैं। और
वादों से कम से कम यह सिद्ध होता है कि इनमें एक संबन्ध
हो सकता। जिस सहज बोध के स्तर पर हम विवेचना कर
नमें समन्वय की प्रवृत्ति प्रमुख है।
–यद्यपि द्वन्द्वात्मक तत्त्वों में क्रिया-प्रतिक्रिया सम्भव नहीं मानी
र भी सहज बोध के स्तर पर मन और मस्तिष्क के विषय में
इसकी कल्पना की जा सकती है। यदि भौतिक
ेर से
तत्त्व केवल निम्न कोटि का विज्ञान-तत्त्व ही है,
रेणामवाद में केवल क्रमिक संबन्धों की स्थिति भर है; तब
क्रिया-प्रतिक्रिया सम्भव ही है। उस समय यह समानान्तर
ामान है। पर ऊपर हम सिद्ध कर चुके हैं कि अपने अपने
ातंत्र मानकर भी इन दोनों में संबन्ध स्वीकार किया जा

सकता है। यह सचेतन प्रक्रिया का संबन्ध है। ऐसा
लेने पर मानसिक घटनाओं में कुछ शारीरिक घटनाओं
होता है और उसी प्रकार शारीरिक अवस्थाओं
स्थितियों का प्रभाव पड़ता है। यही सचेतन-प्रक्रिया
स्वीकार कर सकते हैं। इसके विरोध में स्वतः क्रिया-श
उठाया जा सकता है, क्योंकि इससे कार्य-कारण स्वयं
है। परन्तु स्वतः क्रिया-शक्ति परीक्षण से असफल ठहरती
सम्पूर्ण चेतना केवल भौतिक-शक्ति के द्वारा सिद्ध नहीं हं
मन की इच्छा-शक्ति को समझने के लिए मस्तिष्क के र
की प्रक्रिया पर्याप्त नहीं है। इस प्रकार दोनों ओर से स
को स्वीकार करके ही हम सहज बोध के साथ तत्ववाद
विज्ञानों के मत का संतुलन कर सकते हैं। इससे एक
रूपात्मक प्रकृति का स्वरूप मानसिक आधार पर स्थापित
और दूसरी ओर मनुष्य के विकास के लिए जो परिवर्तन मा
में हुए हैं उनकी व्याख्या भी हो जाती है। यहाँ हम
का तात्पर्य केवल यह है कि प्रकृति में रूप और भाव
स्वीकार किए गए हैं उनको ग्रहण करने के लिए हमा
शरीर की सचेतन-प्रक्रिया आवश्यक है। सहज बोध के
किसी की उपेक्षा नहीं कर सकेंगे। अगले प्रकरणों में
अधिक प्रकाश पड़ सकेगा कि इन्द्रियों द्वारा ग्रहीत प्रकृति
संबन्ध हमारे शरीर के स्नायु-तन्तुओं या मस्तिष्क के
अथवा शारीरिक अनुभावों का जो प्रभाव भावनाओं पर
उनका मानव की कलात्मक प्रवृत्ति के विकास में क्या योग

§६—ऊपर की समस्त विवेचना के बाद हम सहज
धरातल पर स्थिर होते हैं, जिस पर शरीर से अनुप्राणित

में संबन्धित भी है ; साथ ही विश्व की अनेक वस्तुओं को विभिन्न घटनात्मक स्थितियों में पाता है। मन इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के द्वारा भौतिक वस्तुओं का स्थिति-ज्ञान प्राप्त करता है। परन्तु ये स्थितियाँ एक ही समय में अथवा विभिन्न समय में अन्य मन की गोचर विषय हो सकती हैं। शरीर में इन्द्रियों का विभाजन (साधारणतः मान्य) भौतिक तत्त्वों के अनुरूप हुआ है। अथवा यों भी कहा जा सकता है कि मन अपनी प्रतिकृति भौतिक तत्त्वों पर इन्द्रियों के माध्यम से ही डालता है। यह एक ही सत्य को कहने की दो भिन्न रीतियाँ हैं। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वस्तु-गुण उनकी स्थितियों के आधार पर है अथवा प्रत्यक्षीकरण की क्रिया पर निर्भर है। परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से यह इस प्रकार मान्य है। क्रियात्मक प्रवृत्ति के रूप में तन्मात्राओं गन्ध, रस, रूप-स्पर्श और ध्वनि की स्थितियों का बोध मन नासिका, जिह्वा, चक्षु, स्पर्श आदि ज्ञान-इन्द्रियों के माध्यम से ही करता है। परन्तु इनके आधार में भौतिक तत्त्वों के रूप में स्थित पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश हैं। मन केवल इन्द्रिय प्रत्यक्षों के आधार पर नहीं चलता। उसमें विचारात्मक अनुमेय के साथ स्मृति तथा संयोग पर आधारित कल्पना का भी स्थान है। बौद्ध दार्शनिकों ने यद्यपि अनात्मवादी होने के कारण चित् को केवल शरीर संबन्धी माना; पर उसकी अनुमेय और कल्पना शक्ति को वे भी स्वीकार करते हैं। भारतीय अन्य तत्त्ववादियों ने आत्मा और शरीर की सम्बन्धात्मक स्थिति को ही चित् माना है। यह सहज बोध द्वारा स्वीकृत मन की स्थिति को एक प्रकार से अनुमोदित ही करना है। अगले प्रकरणों में इसी निष्कर्ष के आधार पर हम विचार करेंगे कि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और प्रवृत्तियों का भावनाओं के विकास में क्या संबन्ध रहा है तथा अनुमान और कल्पना में इनकी क्या स्थिति रहती है। क्योंकि काव्य और प्रकृति का संबन्ध इन्हीं को लेकर समझा जा सकता है। यहाँ इतना ही कह देना पर्याप्त है कि

सकता है। यह सचेतन प्रक्रिया का
लेने पर मानसिक घटनाओं में कुछ इ
होता है और उसी प्रकार शारीरि
स्थितियों का प्रभाव पड़ता है। द
स्वीकार कर सकते हैं। इसके विरोध
उठाया जा सकता है, क्योंकि इसमें क
है। परन्तु *स्वतः क्रिया शक्ति परीक्षण*
सम्पूर्ण चेतना केवल भौतिक-शक्ति के द्व
मन की इच्छा-शक्ति को समझने के लि
की प्रक्रिया पर्याप्त नहीं है। इस प्रकार
को स्वीकार करके ही हम सहज बोध के
विद्वानों के मत का संतुलन कर सकते
रूपात्मक प्रकृति का स्वरूप मानसिक आ
और दूसरी ओर मनस् के विकास के लिए
में हुए हैं उनकी व्याख्या भी हो जाती
का तात्पर्य केवल यह है कि प्रकृति में
स्वीकार किए गए हैं उनको ग्रहण करने
शरीर की सचेतन-प्रक्रिया आवश्यक है।
किसी की उपेक्षा नहीं कर सकेंगे। अगले
अधिक प्रकाश पड़ सकेगा कि इन्द्रियों द्वार
संबन्ध हमारे शरीर के स्नायु-तन्तुओं या
अथवा शारीरिक अनुभावों का जो प्रभाव
उनका मानव की कलात्मक प्रवृत्ति के विका

६६—ऊपर की समस्त विवेचना
धरातल पर स्थिर होते हैं, जिस

है और
द्रष्टा और दृश्य, के

ा के मतवाद से लेकर विज्ञानवादी आइडिया तथा अद्वैत मतों
इसका आश्रय लिया गया है। यथार्थवादी वैशेषिकों ने इसको
पदार्थ के अन्तर्गत माना है। कर्म-पदार्थ में गति और परिवर्तन
न्तर्भुत कर लिया गया है। यहाँ इस विवेचना को प्रस्तुत करने
त्यर्य है। वस्तुओं की स्थिति-परिस्थिति को दिक्-काल की अपेक्षा
समझा जा सकता है। इनके द्वारा विश्व की क्रियात्मक प्रवृत्ति
ति का कार्य-कारण तथा प्रयोजन ज्ञात होता है। साथ ही
ाल विश्व के प्रश्न में विज्ञान-तत्त्व की खोज करने की प्रेरणा के
ी भी है।

—वस्तु के माध्यमिक गुणों को वैशेषिक पदार्थ मानते हैं।
ोग में ये तन्मात्राएँ मानी गई हैं। इनको हम पंच भूत-तत्त्वों
के माध्यम से समझ पाते हैं। दिक्-काल में स्थित
क गुण वस्तु का बोध इन्हीं गुणों के आधार पर होता है।
पम रूप ही अधिक महत्वपूर्ण है। कदाचित् इसी कारण अग्नि
और उससे संबन्धित सूर्य को अधिक महत्त्व मिला है। गुण
र दूसरा स्थान शब्दमय आकाश का होना चाहिए। परन्तु
वाद में ही स्वीकृत हो सका है, इसका कारण आकाश-तत्त्व
ा है जिससे वह सरलता से बोधगम्य नहीं है। गंध का
वी-तत्त्व से, रस का जल-तत्त्व से और स्पर्श का वायु-तत्त्व
कार माना गया है। यही समवाय का बोध मनस् की शरीर
विशेष स्थिति है। वैशेषिक इसके विचार को भी पदार्थ
रते हैं। अस्ति में ही नास्ति का प्रश्न सन्निहित है। यद्यपि
क दूसरा रूप है, पर समवाय से समवाय का विचार-भिन्न
ा जा सकता है। न्याय-वैशेषिकों ने इसी को अभाव के
र्थों में जोड़ दिया है। वस्तुतः नागार्जुन के सन्देहवाद और
ा आधार भी यही है।

नसिक प्रक्रिया में विचार और कल्पना दोनों ही स्थितियों

में संयोग और विरोध से काम पड़ता है जिसका आधार साम्य है। साम्य के लिए सामान्य और विशेष का भेद होना आवश्यक है। द्रव्यों में रहनेवाला नित्य पदार्थ सामान्य है और दृश्य-जगत् में उसकी विशिष्ट स्थितियाँ ही सामने आती हैं। साथ ही पार्थिव वस्तुओं में भी सामान्य का भाव और विशेष का संयोग रहता है। वैशेषिकों ने विशेष के अर्थ को द्रव्य की विशिष्टता में लिया है और इसी कारण उसे नित्य भी माना है। पर यहाँ साधारण अर्थ में, विशेष को वस्तुओं की विशिष्ट विभिन्नताओं के रूप में भी लिया जा सकता है। दृश्य-जगत् की कल्पना करने के लिए सामान्य विशेष दोनों का भाव होना आवश्यक है। इसीलिए इनको पदार्थ माना गया है। इस दृश्यात्मक प्रकृति को उपस्थित करने से मानव और प्रकृति का संबन्ध स्पष्ट हो सका है। साथ ही एक प्रकार से प्रकृति को समझने की रूपरेखा भी उपस्थित हो सकी है। यह रूपरेखा काव्य में प्रकृति के प्रदर्शन को समझने में भी सहायक हो सकती है।

सामान्य और विशेष

आध्यात्मिक प्रकृति

§११—प्राथमिक गुणों का उल्लेख किया गया है। इनको मानव अपने शरीर के संबन्ध में अथवा अपनी घटनाओं के इतिहास में समझ सका है। इनका प्रसरित रूप सर्वदा इन्द्रियों के लिए भ्रामक ही रहा है। दिक्-काल का संबन्धात्मक ज्ञान मानव के मानसिक विकास में बहुत पीछे की बात है। शिशु की अवस्था में यह भ्रम भी परीक्षण का विषय हो सकता है। बच्चों का दिक्-काल संबन्धी ज्ञान अपूर्ण और भ्रामक होता है। उनकी मानसिक स्थिति इस प्रकार के संबन्धात्मक विचारों के योग्य नहीं होती। परन्तु उनकी भूल को सुधारने के लिए बड़े लोग सदा ही तत्पर रहते हैं। विकास की प्रारम्भिक स्थिति

दिक्-काल का दायारूप

में मानव का ज्ञान दिक्-काल के विषय में अपूर्ण था, और उसके पास उसे ठीक करने के लिए क्रमिक अवस्था के अतिरिक्त कोई भी साधन नहीं था। ऐसी स्थिति में असीम दिक्-काल में वह अपने को असहाय पाकर कभी भयभीत और कभी आश्चर्य चकित हो उठता होगा। मिथ-युग के अध्ययन से हमको यही बात जान भी पड़ती है; मिथ संबन्धी अनेक कहानियों में संकेत भी इसका मिलता है। अन्य विचारात्मक स्थितियों का ज्ञान भी उसका स्पष्ट नहीं था। इसी कारण वह प्रकृति के दृश्य-जगत् के स्वरूप को प्रत्यक्ष से भिन्न और विरोधी देखकर भयभीत होता था। यह उसकी भावनाओं पर दिक्-काल की अस्पष्टता के प्रभाव का परिणाम था। साथ ही प्रकृति के क्रियाशील क्रम को व्यवस्थित रूप में न देख सकने के कारण भी ऐसा होना सम्भव है। यह भय, विस्मय का मिथ-युग दिक्-काल की अस्पष्ट भावना को लेकर ही चल रहा था, साथ ही जैसा कहा गया है प्रकृति की क्रिया-शक्ति तथा उसके समवाय के प्रति अव्यवस्थित दृष्टिकोण भी रखता था। इसके परिणाम स्वरूप इस युग में भय प्रदान करने वाले देवताओं की पूजा मिलती है और इसी के आधार पर बाद में प्रकृति की शक्ति के प्रतीक विभिन्न देवताओं की स्थापना भी हुई है।

क—इस युग में प्रत्यक्ष ज्ञान विभिन्न माध्यमिक गुणों के प्रति स्पष्ट नहीं हो सका था और उसके लिए इनका संयोग स्थापित करना भी कठिन था। इन गुणों में भ्रम तो आज भी हो जाता है। उस समय तो विभिन्न इन्द्रियों के प्रत्यक्षों को समुचित रूप से समझने की भावना भी पूर्ण रूप से विकसित नहीं हो सकी थी। वस्तुओं के रूप-रंग, तथा उनसे संबन्धित ध्वनि, गंध स्वाद आदि को अलग अलग ग्रहण करके उनका सामञ्जस्य करने में असमर्थ मनस् चकित था। मानव फिर धीरे-धीरे उत्सुकता से समन्वय की ओर बढ़ सका है। परन्तु उसके मन में प्रकृति की रहस्य-भावना की स्थापना उसी समय से हुई है। मानसिक विकास के क्षेत्र में

भ्रमात्मक स्थिति

रहस्य की भावना विज्ञानात्मक प्रज्ञा के प्रति उपस्थित हुई है। और यही रहस्य-भावना अध्यात्म की आधार-भूमि है।

§ १२ क—प्रारम्भ में मानव समस्त प्रकृति-रूपों को अपने समान देखता था। इस प्रकार आदि काल से वह प्रकृति को मानव रूप में समझने की भूल करता था। वस्तुतः उसको इस भावना की प्रेरणा प्रकृति की सचेतनता से मिली है। चाहे तत्त्ववादी हो या मूल विज्ञानी अथवा साधारण व्यक्ति हो, किसी की दृष्टि से भी यह प्रकृति की सचेतनता भ्रामक कह कर टाली नहीं जा सकती। यदि यह समझी नहीं जा सकती, तो इसे भ्रामक सिद्ध करना भी कठिन हो जायगा। इस भ्रम का कारण बताना सहज नहीं होगा। साथ ही प्रकृति के मानवीकरण के युग के आगे उसे सचेतन मानने के विषय में भी प्रश्न उठेगा। पहले ही कहा गया है मानव के सम्मुख परिवर्तन के रूप में विश्व की क्रिया-शक्ति उपस्थित हुई है। यह शक्ति प्रकृति के स्थिर स्वरूप में क्रियोन्मुखी लग सकती है और उसकी क्रियाशीलता में गतिमान भी जान पड़ती है। इसके समान मानव के अन्तर्जगत् में मन की क्रियोन्मुखी स्थिति है और प्रयास तथा उत्सुकता के रूप में क्रिया की वास्तविक स्थिति भी है। बाह्य और अन्तर्जगत् की इसी समरूपता के कारण मानव में प्रकृति को सचेतन देखने की प्रवृत्ति है। फिर वस्तुओं को निश्चित घटनात्मक स्थिति में न समझ पाने से भी यह स्थिति उत्पन्न हुई। मन की यह प्रवृत्ति है कि वह अपरिचित को साम्य के आधार पर समझने का प्रयास करता है। आध्यात्मिक आधार पर जिन प्रकृति शक्तियों को देवत्व प्राप्त हुआ था उनको आगे चलकर मानवीय आकार मिला और साथ ही उनमें मनोभावनाओं की स्थापना भी हुई। अतः आध्यात्मिक साधना के इसी क्रम में क्रियात्मक कारण के रूप में, मानव रूप में ईश्वर की कल्पना की गई है। और इसी से भावात्मक विज्ञान का सामञ्जस्य स्थापित करने के लि

प्रकृति का मानव करण

श्वात्मा (परमात्मा) की स्थापना हुई। दूसरे भाग के आध्यात्मिक
वना संबन्धी प्रकरणों में भारतीय विचार धारा का यहाँ के काव्य के
ति संबन्धी दृष्टिकोण में क्या प्रभाव पड़ा है, इस पर विचार किया
ा है। यहाँ तो यही कहना है कि इन सब के मूल में प्रकृति को
वीय रूप में देखने की, तथा उस पर स्वचेतना के आरोप की आदि
ते है।

स - प्रकृति में रूप और भाव के साथ, भयभीत करने वाले
रक्षा करने वाले देवताओं का विकास हुआ है। बाद में एक-
देववाद के आधार पर विश्वात्मा की स्थापना हो
सकी। तत्ववाद में एकेश्वरवाद और विश्वात्मा के
पर ब्रह्म तथा अद्वैत की भावना प्रबल रही है। परन्तु सहज
ने विकसित रूपों के सहारे ब्रह्म को भी मानवीय रूप और
ा में समझा है। अगले भाग में हम देखेंगे कि यह व्यावहारिक
ा है। आतंक से उत्पन्न उपासना का स्थान श्रद्धामयी पूजा ने
ग्या। मध्ययुग के देवता वैदिक देवताओं से इसी अर्थ में
। वैदिक देवता प्रकृति की किसी अधिष्ठित शक्ति के प्रतीक
ाद में उनमें रूप का आरोप हुआ है। परन्तु मध्ययुग के
मानवीय विचार और भाव के विशुद्ध रूप में अवतीर्ण हुए
के प्रतीकत्व में इन्हीं दृष्टिकोणों की प्रधानता है। भाव ही इन
क के स्थान पर श्रद्धा और रक्षा के स्थान पर कल्याण की भावना
होती गई। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण रुद्र का शिव के रूप में
ा हो जाना है। भारतीय मध्ययुग के त्रिदेवों में विष्णु और
र्जन-विनाश क्रिया के प्रतीक हैं। परन्तु ब्रह्मा के पालक रूप में
ी सामाजिक प्रवृत्ति को स्थान मिला है, जो स्थिरता का प्रतीक
किया जा सकता है। अन्य देवताओं में भी प्रकृति के रूप के
र उसका भाव ही प्रमुख हो गया है। परन्तु हम अगले
ी देखेंगे कि मानवीय भावना के विकास में बाह्य दृश्य जगत्

आग्न प्रकृति

का संबन्ध रहा है। इसके अतिरिक्त काव्य तथा कला में इन भावनाओं का प्रमुख हाथ है। और इन देवताओं के रूप-निर्माण में इसी कलात्मक रीति से रूप-रंगों का प्रयोग किया जाता है।

ग—वैदिक कर्मकांडों में प्रधानतया प्रकृति के परिवर्तन, सर्जन, विनाश आदि के प्रतीक हैं। इनमें इन्हीं की प्रतिकृतियाँ सन्निहित हैं। इन प्रतीकों में उस युग के ज्ञानात्मक भ्रमों का समन्वय है। इसी कारण बाद के धार्मिक मतवाद इन प्रतीकों में दार्शनिक सत्य की व्याख्या करने में सफल होते रहे हैं। वस्तुतः धार्मिक अध्यात्म का विकास इसी आधार पर हुआ है। वैदिक यज्ञ-कृत्य विश्व-सर्जन के क्रम का प्रतीक है। यह अवस्था उस समय की है जब देवता प्रकृति शक्तियों के अधिष्ठाता थे। देवताओं का तत्त्व-रूप परिवर्तनशील और गतिमय था। यह विश्व सर्जन और विनाश की ओर संकेत करता था। अन्य अनेक कर्मकांडों का प्रतीकार्थ सामाजिक नियमन से संबन्धित है जिसका आधार आचरण समझना चाहिए। मानव-समाज के आचरण संबन्धी नियमन में प्रकृति का अपना योग है। प्रकृति व्यवस्था, क्रम और सामञ्जस्य का नियम मानव के सामने उपस्थित करती रही है।

सामाजिक स्तर

भारतीय मध्ययुग में फिर भक्ति और श्रद्धा के साथ पूजा कृत्यों का विकास हुआ, यद्यपि बौद्ध-धर्म में एक बार कर्म-कांड का पूर्ण खंडन किया गया था। मध्ययुग के आचार्यों ने पूजा, अर्चा, पादसेवन, आरती, भोग आदि को दार्शनिक महत्त्व दिया है। इस आधार के प्रतीकों में भी प्रकृति के व्यापक तत्त्वों को भावात्मक अर्थ दिया गया है। लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से ये साधना के रूप मात्र हैं। यही कारण है कि मध्ययुग के साधना-काव्य में इस दृष्टि से प्रकृति को कोई स्थान नहीं मिला है। अगले भाग के आध्यात्मिक साधना संबन्धी प्रकरणों में यह स्पष्ट हो सकेगा।

§११—धार्मिक पूजा-कृत्यों में भाव से अधिक रूप को स्थान मिला

है। परन्तु अनुभूति का क्षेत्र भावात्मक है। हम देख चुके हैं कि प्रकृति में विज्ञान-तत्त्व के साथ आत्म-भावना की स्थापना हुई है। परन्तु दृश्य-प्रकृति हमारे आकर्षण का विषय है। और उसमें कलात्मक सौन्दर्य के लिए भी आधार है। इस सौन्दर्य के सहारे उसकी भावना में (जो अपने मनस् का प्रसरण है) तन्मय होना विश्वात्मा के साथ तादात्म्य के समान है। साधना के क्षेत्र में योग ने अन्तर्मुखी होने की ओर अधिक ध्यान दिया है। परन्तु अन्तःकरण बाह्य का ही प्रतिबिंब ग्रहण करता है। केवल एकाग्रता के कारण केन्द्रीभूत होकर दृश्यों में व्यापकता और गंभीरता अधिक आ जाती है।* द्वितीय भाग के तीसरे प्रकरण में संत साधकों के प्रकृति-चित्रों में इस प्रकार के दृश्यों का रूप देखा भी जा सकता है। योरप के रहस्यवादियों ने ज्ञान के साथ अनुभूति को विशेष स्थान दिया है। इस अनुभूति का भावनामय तादात्म्य माना जा सकता है। जिस चेतना से अनुभूति का संबन्ध माना गया है, वह प्रकृति-चेतना के आधार पर विकसित हुई है। कुछ अर्थों में वह आज भी उसके निकट है। भारतीय भक्ति साधना में यह चेतना मानवीय भावों के साथ उसके आकार से संबन्धित हो गई है। इस प्रकार यह चेतन प्रकृति से अलग हो जाती है। इस विषय की विशेष विवेचना दूसरे भाग के आध्यात्मिक साधना के प्रकरणों के प्रारम्भ में की जायगी। यहाँ इतना ही संकेत कर देना पर्याप्त है कि हिन्दी साहित्य के मध्ययुग में, साधना काव्य में प्रकृति को प्रमुख रूप न मिल सकने का बहुत कुछ कारण यह भी है।

धार्मिक साधना

योरप में रहस्यवाद प्रकृति के निकट रह सका है। वहाँ प्रकृति के रहस्यवादी कवि उसकी चेतना के प्रवाह से अधिक तादात्म्य स्थापित

---

*-द्वितीय भाग के तीसरे प्रकरण में संत साधकों के प्रकृति चित्रों में इस प्रकार के दृश्यों का रूप देखा भी जा सकता है।

कर सके हैं। अङ्गरेज़ी साहित्य में बाह्य-प्रकृति के प्रति अधिक जा
कता है तथा उसमें अनन्त चेतना में निमग्न प्रकृति के प्रति आक
भी अधिक है। इस कारण उसके काव्य में प्रकृति के संबन्ध में
प्रकार की भावना अधिक सुन्दर रूप से मिलती है। अपने उच्च
पर प्रकृति का यह आकर्षण और सौन्दर्य्य रहस्यवाद की सीमा में
सकता है। भारतीय साधना में प्रकृति के रूपों से प्रकृतिवादी दृष्टि
की तुलना के लिए अगले भाग में अवसर मिलेगा। यहाँ रहस्य
किसी सिद्धान्त विशेष के लिए नहीं माना गया है। अज्ञात ‍
से तादात्म्य स्थापित करने की अनुभूति के लिए ही यह शब्द प्र
हुआ है।

द्वितीय प्रकरण

प्रकृति के मध्य में मानव

§१—आमुख में कहा गया है कि प्रकृति और काव्य संबन्धी विवेचना में मानव बीच की कड़ी है। काव्य मानव की अभिव्यक्ति है। इसलिए प्रकृति और काव्य के विषय में कुछ कहने से पूर्व प्रकृति के मध्य में मानव की स्थिति को समझ लेना आवश्यक है। विश्व सर्जना के प्रसार में मानव का स्थान बहुत अकिंचन लगता है। परन्तु जैसा पिछले प्रकरण में कहा गया है विज्ञानमय मनस्-तत्त्व की स्वचेतन स्थिति मानव में है, इस कारण विश्व-चेतना का केन्द्र भी वही है। स्वचेता मानव अहंकार वश आत्मवान् होकर भी अपने से अलग विश्व-सर्जन पर विचार करता है। यह भ्रम है। वह अपने प्रकृति रूप को भूलकर एक अलग स्थिति से विश्व-प्रकृति पर विचार करता है। परन्तु यह भूलना नहीं चाहिए कि मानव इसी प्रकृति के शृंखला-क्रम की एक

प्रकृति-शृंखला में

कती है। इस प्रकार जब हम मानव और प्रकृति को अलग अलग समझते हैं, उस समय हमारा दृष्टिकोण मानवीय रहता है। यह मानव की इच्छा-शक्ति के आधार पर प्रयोगात्मक और प्रयोजनात्मक है। यह प्रयोगात्मक दृष्टि विभिन्न सिद्धियों को एकत्रित करके उन्हें सम परिणामों के आधार पर वर्गीकृत करती है। इससे भौतिक विज्ञानों के क्षेत्र में मानव के विशेष प्रयोजन की सिद्धि होती है। पर यह दृष्टि हमारे आधार के लिए पर्याप्त नहीं है; क्योंकि जिस आधार पर हम अपने परिणामों तक पहुँचना चाहते हैं वह व्यापक है। यहाँ प्रकृति और काव्य की बात है; काव्य तथा कला मानव की भावात्मकता से संबन्धित है। यह प्रकृति भौतिक विज्ञानों के सीमित तत्वों में संकुचित होकर अपना पूरा अर्थ व्यक्त नहीं कर सकती। मानव सचेतन प्रकृति के शृंखला-क्रम में आ जाता है, ऐसी स्थिति में मानव और प्रकृति इतने भिन्न नहीं जितने समझे जाते हैं वस्तुतः मानव की स्वचेतना (आत्म-चेतना) के विकास में सचेतन प्रकृति का योग है। इसी को स्पष्ट रूप से उपस्थित करने के लिए आगे क्रम से, विश्व के सर्जनात्मक विकास में मानव का स्थान, मानव की स्वचेतना में प्रकृति का योग तथा उसकी अन्तर्दृष्टि में प्रकृति के अनुकरणात्मक प्रतिबिंब का रूप निरखा किया जायगा।

सर्जनात्मक विकास में मानव

§२—यूनान में इलियायियों ने विश्व की परिवर्तनशीलता पर विशेष ध्यान दिया उसी समय सर्जन के गमन का भी उल्लेख हुआ था। बाद में पूर्णरूपेण परिवर्तन पर सन्देह किया गया। इस प्रकार विकासवाद के लिए उसी काल में काफ़ी आधार तैय्यार हो चुका था। गमन के साथ परिवर्तन, परिवर्तन में पूर्व तत्त्व की स्थिति की स्वीकृति से एक प्रकार विकास का पूरा रूप मिल जाता है। विश्व को आदि तत्त्वों आधार पर समझने

विकास के साथ

में भी यही प्रकृति रही है। गमन-शक्ति के प्रवाह में तत्त्वों का केन्द्रीकरण होता है, फिर विभिन्नता के साथ अनेक रूपता उपस्थित होती है। अन्त में निश्चित होकर उनमें एक-रूपता आती जाती है इस प्रकार विभिन्न-धर्मी सर्जन में एक-रूपता और क्रम रहता है। विकसनशील विश्व-सर्जन में अधिकाधिक अनेक-रूपता जान पड़ती है, पर उसकी सम्बन्धों में स्थिति क्रमिकता भी दृढ़ होती जाती है। प्रकृति में एक सचेतन शक्ति-प्रवाह है जो आज के वैज्ञानिक युग में भी तत्त्व-वादियों के आकर्षण का विषय है। यही कारण है कि आधुनिक तत्त्ववाद के क्षेत्र में दार्शनिक विकासवाद मान्य रहा है। भारतीय तत्त्ववाद में विकास का रूप इस प्रकार नहीं मिलता है। पर सांख्य के प्रकृति-स्वरूप में इसी प्रकार का सिद्धान्त संनिहित है। इसमें प्रलय को सर्जन के समान स्थान दिया गया है। परन्तु जिस प्रकार विकास का अर्थ तत्त्ववाद में साधारण निर्माण से संबन्धित नहीं है, उसी प्रकार प्रलय को साधारण नाश के अर्थ में नहीं लेना चाहिए। सृष्टि के पूर्व प्रकृति अपने तीनों गुणों के सम पर स्थिर रहती है। इस सम का भंग होना ही सर्जन-क्रिया है। विषमीकरण सर्जन के मूल में वर्तमान है। सांख्य के अनुसार पुरुष के सान्निध्य से प्रकृति की साम्यावस्था भंग हो जाती है। पुरुष स्वयं निष्क्रिय होकर भी गमन का कारण होता है जैसे चुम्बक पत्थर गतिमान् हुए बिना लोह को गतिशील करता है। पुरुष के सामीप्य मात्र से प्रकृति चंचल हो उठती है; और उसको मुक्त करने के लिए ही प्रकृति की सारी परिणमन क्रिया होती है। यह भारतीय विकासवाद का स्वरूप कहा जा सकता है, यद्यपि इसमें विकास की दिशा अधिक प्रत्यक्ष हो गई है। सहजबोध के लिए विश्व के प्रश्न को लेकर किसी न किसी रूप में विकासवाद मान्य है। यही कारण है कि भारतीय तत्त्ववाद के क्षेत्र में इस सिद्धान्त की अधिक मान्यता नहीं है, पर साधारण परम्परा में इसका अधिक प्रचार रहा है।

§३—पर ऐसा नहीं कहा जा सकता कि विकासवाद सर्जन के सत्य की पूर्ण व्याख्या है। इसमें मानवीय दृष्टि से सर्जन को व्यक्त किया गया है। परन्तु इसके लिए मानव की स्वचेतना में आधार है। हमारा उद्देश्य मानव को लेकर ही प्रकृति पर विचार करना है। इस कारण प्रकृति की इस गमनशील चेतना को देख लेना आवश्यक है जो हमारे सामने अनेक क्रमिक संबन्धों में प्रकट हो रही है। जिस प्रकृति के गमन का यहाँ उल्लेख किया जा रहा है वह दिक् और काल की भावना पर स्थिर है। आकाश की जिस व्यापक असीमता में दिक्-काल की स्थापना की जाती है,वह भी इन्हीं के संबन्धों से जाना जाता है। इस दिक् काल का ज्ञान हमारे अनुभव पर निर्भर है जो प्रत्यक्ष-जगत् में हमारा मार्ग-दर्शक है। यह अनुभव ज्ञान निजकी चेतना और एकाग्रता पर निर्भर है। चेतना का अर्थ परिवर्तनों से परिचित होना है और स्थान की स्थिति का बदल जाना परिवर्तन का भान होना है। इस प्रकार दिक् का छाया सा छोटा बिन्दु हमारी चेतना की एकाग्रता का परिणाम है जो असीम की ओर प्रसरित रहता है। इस प्रसरण का भान भी चेतना को होता रहता है। घटना-क्रम के रूप में काल का अनुभव करनेवाली भी चेतना है जो इन्द्रियातीत काल में व्यापक होती जान पड़ती है। अतः गमन का रूप परिवर्तन पर स्थिर है और परिवर्तन हमारी चेतना की दिक्-काल संबन्धी भावना पर निर्भर है। आगे हम मानवीय चेतना की इस विशेष स्थिति को अधिक स्पष्ट करेंगे। यहाँ प्रकृति के विकास मार्ग में मानव का स्थान निश्चित कर लेना है।

चेतन में दिक्-काल

§४—सहज बोध के स्तर पर प्रकृति में एक से अनेक की प्रवृत्ति के साथ अबाध सचेतन प्रवाह को लेकर विकास को समझा जा सकता है। वस्तुतः इस स्तर पर विकासवाद को छोड़ा नहीं जा सकता। सर्जन की अनेकता में उसका नियमन मर्यादित है, और इसी विभिन्न अनेकता

प्रवृत्ति से प्रत्यक्ष

में उसका प्रवाह चल रहा है। प्रत्यक्ष जगत् में यही तो दृष्टिगत होता है। एक बीज सहस्र सहस्र बीजों का रहस्य छिपाये हुए है। यह विचार समान परिस्थितियों में एक ही प्रकार से होता है। एक रस दूसरे रस से मिलकर तीसरे भिन्न रस की सृष्टि करता है। यह नियम प्राणि जगत् में उसी प्रकार दिखाई देता है जिस प्रकार वनस्पति जगत् में। प्राणि का शरीर केवल बाह्य-जगत् से प्रभाव ही नहीं ग्रहण करता वरन् बाह्य परिवर्तनों के साथ क्रियाशील होने के लिए परिवर्तित भी होता है। बाह्य संबन्धों को स्थापित रखने के लिए शरीर में परिवर्तन होते हैं। शरीर जब तक बाह्य प्रकृति से आन्तरिक अनुरूपता नहीं रखेगा, वह स्थिर नहीं रह सकता। यह अनुरूपता जितनी पूर्ण होगी, उतना ही अधिक शरीर विकसित होगा। अन्तर और बाह्य की अनुरूपता जितनी पूर्ण होगी जीवन उतना ही विकसित माना जायगा। मानव के जीवन में यह अनुरूपता बहुत कुछ पूर्ण मानी जा सकती है।

§४—प्रथम प्रकरण में कहा गया है कि विकास-क्रम में भौतिक-तत्त्व से विज्ञान-तत्त्व की स्थिति नहीं मानी जा सकती। इसका अर्थ है कि जड़ से चेतन की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती। परन्तु विकास पथ पर चेतना भी इन्हीं नियमों पर चल रही है, ऐसा साधारणतः बिना विरोध के माना जा सकता है। मानव-शरीर बाह्य प्रकृति की क्रिया-प्रतिक्रिया का परिणाम हो सकता है। प्राणि-शरीर में भिन्नता बाह्य कारण से उत्पन्न होती है और वह विभिन्नता अनुरूप होने के कारण प्रकृति द्वारा चुन ली जाती है। वह विभिन्नता अपनी वंश परम्परा में चलती जाती है। प्रकृतिवादी विकास के क्रम में एक सेल के शरीरधारी से इन्हीं शारीरिक विभिन्नताओं के द्वारा सूक्ष्म विविधता वाले मानव शरीर को भी मानते हैं। परन्तु इस मानव शरीर की उन्नत स्थिति को स्वीकार कर लेने पर भी मानव के विकास का प्रश्न हल

मानस-विशिष्ट मन्त्र

है

था। मानव की मानसिक विभक्ति का स्वरूप इस विकास
बड़ी कठिनाई है। बहुत से विकासवादी इसको शरीर से
मस्तिष्क की सूक्ष्म क्रिया प्रतिक्रिया के रूप में समझते हैं,
इसको विशेष विभिन्नताओं के रूप में स्वीकार करते हैं।
व्याख्या मानस के प्रश्न को समझा सकने में नितान्त
रहती है। इन विरोधों को यहाँ उपस्थित करने का कोई
है। जिस प्रकार पिछले प्रकरण में उल्लेख कर चुके हैं हम
स्वतन्त्र मान कर चल सकते हैं। प्रस्तुत प्रसंग में तो यह
पर्याप्त होगा कि प्रकृति के जड़ चेतन प्रसार में मानव
स्थिति में) इससे एक रूप होकर भी अपनी मानस शक्ति
अलग है। आगे हम देखेंगे कि यह मन उसकी स्व-
चेतना) को लेकर ही प्रकृति में व्याप्त मनस्-तत्त्व से

स्वचेतन (आत्म-चेतन) मानव और प्रकृति

मानव की मनस् चेतना और प्रकृति की सचेतना में एक
। मानव आत्मवान् स्वचेतनशील है। उसमें मनस् की वह
स्थिति है जिसमें वह अपनी चेतना में स्वयं परिचित
है। हम देखेंगे कि उसकी यह स्वचेतना प्रकृति में
किस सीमा तक संबन्धित है। परन्तु इसके पूर्व
लेना आवश्यक है कि मनस् की स्वचेतना का अर्थ क्या
[illegible] ही मानव की मानसिक स्थिति स्वचेतना की [illegible]
[illegible] है। वह इन्द्रियों के द्वारा प्राकृतिक [illegible] के
[illegible] जगत् के [illegible] पर [illegible] करता रहा और उसके
[illegible] स्थापित होता गया। इसके आधार में उसकी
[illegible] जीवन की [illegible] चेतना को [illegible] की [illegible]
[illegible] मानव की [illegible] किसी बाह्य चेतना से ही

सचेतनशील होगी। वह उन्हीं प्रेरणाओं को ग्रहण करता होगा
उसके जीवन के प्रयोजन से संबन्धित रही होंगी। दूसरे शब्दों में उस
इच्छा शक्ति के माध्यम से प्रकृति के बाह्य-रूप का प्रवेश उसके जी
में हुआ है। इन प्रभावों को ग्रहण करने में ध्यान के विपर्यय से प्र
के रूपों में जो परिवर्तन उपस्थित हुए उन्हीं की क्रमिक निरन्त
घटना का स्वरूप धारण करती है। इस प्रकार चेतनशील होने का ता
परिवर्तनों से परिचित होता हुआ; और चेतना का प्रसार घटनाओं
क्रमिक शृंखला में समझना चाहिए। ये घटनाएँ दृश्य-जगत् की
अथवा ध्वनि-जगत् की। प्रत्येक स्थिति में हमारी चेतना समानता अ
विभिन्नता के विभाजन द्वारा इच्छा के प्रयोजन की ओर ही बढ़ती
इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारा अनुभव ज्ञान प्रत्येक पग पर स
को विभिन्न और समान मानने में अपना प्रयोजन ही ढूँढ़ता है।

§७—मानव मानसिक परिस्थितियों की विभिन्नता और विविध
के साथ ही अपनी चेतना के विषय में भी अधिक स्पष्ट होता गया है

आत्म-मानव और प्रकृति-चेतना

उसकी चेतना प्रकृति चेतना का भाग है और उ
प्रसरित भी है। इस चेतना के बोध के लिये उ
केवल 'स्व' की भावना विकसित हो जाने
आवश्यकता है। यह 'स्व' की भावना जितनी व्यक्त और व्या
होगी, उसी के अनुसार चेतना का प्रसार भी बढ़ता जायगा
सामने फैली हुई प्रकृति का दृश्य-जगत् उसकी अपनी दृष्टि की सीमा
साथ ही अपने अनुभव के विषय का पूरा ज्ञान उसे तभी हो सके
जब उसका अपना 'स्व' स्पष्ट हो जायगा। यहाँ 'स्व' का अर्थ इच्
के केन्द्र में ध्यान को एकाग्र करने के रूप में समझा जा सकता है
मानसिक विकास के साथ 'स्व' भी अधिक व्यापक होता गया है
उसका क्षेत्र प्रत्यक्ष बोध से भावना और कल्पना में फैल जाता है
इस क्षेत्र में 'स्व' का प्रसार अधिक व्यापी होकर विषम और विवि

स्थिति तक पहुँच सकी है।

५८—परन्तु मानव की स्वचेतना के विकास में प्रकृति के साथ समाज का योग भी रहा है। मानव का विकास केवल व्यष्टि में परिसमाप्त नहीं है, उसने समष्टि के समवाय में भी अपना मार्ग ढूँढ़ा है। मानव प्रारम्भ से समाज में रहने की प्रवृत्ति रखता था। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के अनुभव को जान तो नहीं सकता, परन्तु उसका अनुमान लगा सकता है। फिर अपने व्यक्तिगत अनुभवों से तुलना करके किसी एक सिद्धि तक पहुँच सकता है। इस दृष्टि से व्यक्ति की स्वचेतना सामाजिक चेतना का भी एक रूप मानी जा सकती है। और स्वचेतना के इस सामाजिक स्तर तक भौतिक-प्रकृति दो प्रकार से मानी जा सकती है। प्रयोजन से हीन भौतिक क्रम तथा संबन्धों में उपस्थित प्रकृति वर्णनात्मक कही जा सकती है। और जब हम प्रकृति को प्रयोजन से युक्त-अपनी इच्छा-शक्ति के आधार पर देखते हैं, उस समय उसको व्यंजनात्मक कह सकते हैं। प्रकृति में व्यंजना की यह भावना, प्रयोजन का यह स्वरूप, मानव समाज के व्यक्ति की अपनी इच्छा-शक्ति की अभिव्यक्ति में मिलता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छा और अपने प्रयोजन से परिचित है, साथ ही उसी आधार पर समाज के अन्य व्यक्तियों की इच्छा-साधना पर भी विश्वास रखता है। मानव-समाज की स्थिति के विषय में हमारा विश्वास प्रकृति को समझने के पूर्व का है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि मानव को प्रकृति के सम्पर्क में आने के पूर्व सामाजिकता का बोध था। प्रकृति का सम्पर्क तो समाज के पूर्व का निश्चय ही है। परन्तु जब मानव ने प्रकृति के विषय में अपनी कोई धारणा निश्चित की होगी, उस समय उसमें सामाजिक प्रवृत्तियों का पूर्ण विकास हो चुका था। वह इच्छा और प्रयोजन के सामूहिक प्रयास से परिचित हो चुका था। भारतीय काव्य-शास्त्रों में इसी दृष्टि से प्रकृति को केवल उद्दीपन रूप

सामाजिक चेतना का अंग

के अन्तर्गत रखा गया है।[1] प्रारम्भिक युग में मानव को जिस प्रकार
अपना जीवन अस्पष्ट लगता था, उसी प्रकार उसका प्रकृति विषयक
ज्ञान भी अस्पष्ट था। पहले प्रकृति को अस्पष्ट दिक्-काल की सीमा मे
देख कर ही वह प्रकृति की अस्पष्ट सचेतनता की ओर बढ़ सका होगा।
आज की स्थिति में, सामाजिक चेतना के स्तर पर मानव प्रकृति को
अपने समानान्तर देखते हुए व्यंजनात्मक रूप में पाता है। अथवा
अपनी चेतना के प्रति वह अधिक सचेष्ट होकर प्रकृति को केवल अपने
सामाजिक प्रयोजन का साधन मानकर वर्णनात्मक स्वीकार करता
है। इस वर्णनात्मक रूप में प्रकृति भौतिक-विज्ञानों का विषय रह
जाती है। परन्तु सहज बोध के लिए ये दोनों ही रूप मान्य हैं। उसके
लिए प्रकृति जड़ के साथ चेतन है, वर्णनात्मक के साथ प्रयोजनात्मक
भी है। परन्तु इस दृष्टिकोण में सामाजिक प्रवृत्ति फिर भी अन्तर्निहित
रहती है। यही कारण है हमको प्रकृति कभी अपने प्रयोजन का विषय
लगती है और कभी वह अपने स्वयं प्रयोजन में मग्न जान पड़ती है।
आगे काव्य में प्रकृति के रूपों की विवेचना करते समय हम देखेंगे कि
इस कथन का क्या महत्त्व है।

§६—ऊपर इस बात का उल्लेख किया गया है कि प्रकृति का
ज्ञान हमारी 'स्व' की भावना से प्रभावित है, और उसकी सचेतनता
हमारी दृष्टि विशेष का प्रभाव है। परन्तु प्रकृति की

समानान्तर प्रकृति-चेतना

चेतना में मानवीय चेतना का आरोप मात्र ही देखा
नहीं है। प्रकृति के अचेतन लगने का एक कारण
यह अवश्य है कि मानव प्रकृति का ज्ञान अपनी चेतना के द्वारा ग्
ग्रहण करता है। दूसरे शब्दों में, जैसा हम आगे विचार करेंगे, प्रकृ

---

[1] इस भाग के पंचम प्रकरण में इस विषय की विवेचना प्रवृत्ति-रूपों
के भेदों के विषय में की गई है; और दूसरे भाग के प्रथम प्रकरण में भारतीय
काव्य-शास्त्र में प्रकृति के अन्तर्गत भी यह प्रश्न उठाया गया है।

की चेतना से उसकी चेतना सिद्ध है। वह अपनी स्वचेतना के प्रसार में प्रकृति से परिचित होता है और उसकी उसी प्रकार व्याख्या करता है। परन्तु इसके अतिरिक्त प्रकृति का सचेतन स्वरूप मानवीय चेतना के समानान्तर होने से भी सिद्ध है। जब हम कहते हैं कि हम प्रकृति की व्याख्या मानवीय चेतना से प्रभावित होकर करते हैं, उस सम यह निश्चित है कि हम स्वचेतनशील प्राणी हैं। पर समस्त स्थिति व सामने रखकर विचार करने से प्रकृति अपनी सचेतन गतिशीलता मानवीय स्वचेतना के समानान्तर ही अधिक लगती है। आगे ह देखेंगे कि मानव की चेतना प्रकृति के सम्पर्क में विकासोन्मुखी थी और उस समय प्रकृति की समानान्तर चेतना ने उसकी प्रारम्भि प्रवृत्तियों में महत्त्वपूर्ण योग प्रदान किया है।

क—प्रकृति में दृश्य आदि माध्यमिक गुण हैं जो मानवीय इन्द्रिय प्रत्यक्ष के आधार माने जाते हैं। जिस सहज बोध के स्तर पर हम आगे बढ़ रहे हैं उसके अनुसार इन प्रत्यक्षों को उपस्थित करने मे प्रकृति का भी योग है। उसी प्रकार दिक्‌काल संबन्धी भावना प्रकृति के सापेक्ष उतनी है जितनी मानव चेतना है। यह तो प्रकृति के वर्णनात्मक स्वरूप की बात हुई। सहज बोध प्रकृति की व्यंजनात्मक भावना को भी मानव चेतना के समानान्तर मान कर चलता है। उसके पास इसके लिए पर्याप्त आधार है। मानसिक चेतना की प्रत्येक स्थिति अपने प्रवाह में निरन्तर गतिशील है, उसका प्रत्यावर्तन भी सम्भव नहीं। प्रकृति में भी यही दिखाई देता है, उसमें आन्तरिक प्रवाह क्रियाशील है जिसमें प्रत्यावर्तन नहीं जान पड़ता। प्रकृति के बाह्य रूप में, सरिता प्रवाहित है उसका जल वापस नहीं लौटता, दिन रात चले जा रहे हैं न लौटने के लिए, वृक्ष उत्पन्न होता है, बढ़ता है, फूलता फलता है, नष्ट हो जाता है, पर उसकी कोई भी अवस्था लौट कर नहीं आती। मानसिक चेतना में एक स्थिति दूसरी स्थिति को

व्यंजनात्मक तथा प्रयोजनात्मक

प्रभावित कर उससे एकाकार हो जाती है। प्रकृति में भी एक अव
दूसरी अवस्था से प्रभावित हो उसी से एकाकार हो जाती है
सर्जन-क्रम की अगली स्थिति को प्रभावित करने लगती है। उदा
के लिए ध्वनि के स्वर लय को लिया जा सकता है: ध्वनि की स
कार एक तरङ्ग दूसरी को उत्पन्न कर उसी से मिल जाती है और
तरङ्ग तीसरी तरङ्ग को उत्पन्न करती है। मानसिक चेतना के स
प्रकृति में भी सहायक परिस्थितियों के उपस्थित होने पर निि
स्वभाव की प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। दिन रात तथा ऋतु वि
आदि उसी प्रकार प्रकृति के स्वभाव कहे जा सकते हैं। इसके अ
रिक्त प्रकृति में सचेतन विकास का रूप भी सन्निहित है। इससे
स्पष्ट है कि प्रकृति में मानसिक चेतना की समरूपता बहुत अंश
मिलती है। यह केवल स्तर भेद के कारण अधिक दूर की लगती
अतः हम प्रकृति चेतना के उसी प्रकार भाग हैं जिस प्रकार सामा
चेतना के। भेद केवल विकास क्रम में चेतना के स्तरों को लेकर है

§१०—यहाँ हम प्रकृति और मानव के अनुकरणात्मक प्रति
भाव पर विचार आरम्भ करने के पूर्व इसी के समान भारतीय सि

सत्-चित्-आनन्द

की ओर संकेत कर देना चाहते हैं। भा
तत्ववाद में इस सिद्धान्त का उल्लेख पहले ह
चुका था, परन्तु वल्लभाचार्य ने इसकी अधिक स्पष्ट व्याख्या
है। भारतीय तत्ववाद में जड़ और जीव का (जिसे स्वचेतन
चुके हैं) भेद करते हुए सत् का उल्लेख किया गया है। प्र
में (यहाँ जड़ प्रकृति से अर्थ है) केवल सत् है और जीव
सत-चित्; परन्तु आनन्द का अभाव दोनों में ही है। आ
केवल ब्रह्म की विशेषता है। आगे कहा गया है कि जीव बन्धन
मुक्त होकर सम-स्थिति पर आनन्द प्राप्त कर सकता है। इस मत
हम सहज रूप से इस प्रकार समझ सकते हैं। प्रकृति चेतन
विस्मृत स्थिति है, और ब्रह्म पूर्ण चेतना की स्थिति। जीव दोन

की स्थिति है। वह अपनी स्वचेतना से एक ओर प्रकृति को
ाशील करता है; दूसरी ओर स्वचेतना को पूर्ण चेतना की ओर
करके आनन्द का सम भी प्राप्त करता है। हमारी विवेचना में
की चेतना का जड़त्व तथा मानवीय चेतना का स्व भी इस
ंकेत करता है।[१]

अनुकरणात्मक प्रतिबिंब भाव

कृति चेतना से सम स्थापित कर मानव की चेतना पूर्ण मनस्
की ओर विकसनशील है। प्रकृति का सचेतन सम मानव की
ना का स्रोत है। और पूर्ण मनस्-चेतना की ओर उसकी प्रगति
आदर्श भावना का रूप है। यही पूर्ण मनस् चेतना आध्या-
ोत्र में ब्रह्म या ईश्वर आदि का प्रतीक ढूँढ़ लेती है। मानव
मानसिक चेतना में अधिक ऊँचा उठता जाता है, और वह
स्वचेतना (आत्मा) के पूर्ण विकसित रूप में ब्रह्म प्राप्त करता
का रूप आनन्द कहा जा सकता है। दूसरे भाग के साधना
प्रकरणों में इस विकास के साथ प्रकृति रूपों की विवेचना
त की जायगी। यहाँ तो यह दिखाना है कि मानव की इस
में प्रकृति का किस प्रकार महत्त्वपूर्ण य ग रहा है, और यहाँ
मुन-चेतना का सम मानव की चेतना के लिए किस सीमा तक
क है।

१—तत्ववाद के क्षेत्र में जो कहा गया है वह मानसशास्त्र के
पर भी सिद्ध हो जाता है। मन अपनी मानसिक अवस्थाओं में
बोध, राग और क्रिया में स्थित है। मन की यह
स्थिति किसी न किसी रूप में मानव इतिहास के साथ

दूसरे भाग के [illegible] प्रकरण में [illegible] के [illegible] के
विवेचन में इस [illegible] को लेकर [illegible] भी [illegible] है।

करते हैं वह वस्तु-ज्ञान है। ऊपर तत्त्ववाद के क्षेत्र में प्रकृति के जिस चेतन् (सत) रूप का उल्लेख किया गया है इससे भी इसी परिणाम पर हम पहुँचते हैं। मानव चेतना पर जब प्रकृति की चेतना का प्रभाव पड़ता है, वह अनुभूति के सहारे 'स्व' की ओर गतिशील होता है। और जब मानव की चेतना प्रकृति चेतना के सम्पर्क में आती है उस समय उसका प्रत्यक्ष बोध मात्र होता है। यहाँ मानव और प्रकृति दोनों की चेतना तो सत् के रूप में स्वीकार की गई है; पर मानव का 'स्व' जब चेतना के साथ मिलता है तब उसमें सत् के साथ चित का योग हो जाता है। जैसे किसी पूर्व परिचित को देखकर हम उसको पहिचान लेते हैं, उसी प्रकार प्रकृति की चेतना (सत्) को मानव चेतना (सत् अंश) पहिचान लेती है और जब उससे प्रतिबिंबित होती है वह आत्मचेतना के पथ पर आगे बढ़ती है। मानसिक चेतना को धारण करने वाला शरीर इसी सत्य को प्रकट करता है। उसमें प्रकृति के साधारण तत्त्वों को समझने के लिए विभिन्न इन्द्रियाँ हैं; या वह विभिन्न इन्द्रियों से प्रकृति को विभिन्न गुणों वाली अनुभव करता है। इस प्रकार प्रकृति का प्रत्यक्ष-बोध तो मन उस सम के आधार पर करता है, जिसको हमने इन्द्रिय-बोध के नाम से अन्तर्जगत् की बहिर्जगत् पर क्रियाशीलता कहता है और जो प्रभाव प्रकृति हमारे मन या अन्तर्जगत् पर छोड़ती है, वह हमारी अनुभूति का रूप है। परन्तु जब हम इन दोनों, ज्ञान और अनुभूति को प्रकट करना चाहते हैं, उस समय ये फ़ोटो-चित्रों की भाँति उलट जाते हैं और परिवर्तित रूप ग्रहण कर लेते हैं। अर्थात् अनुभूति की अभिव्यक्ति की जाती है और ज्ञान ग्रहण किया जाता है। वस्तुतः यह एक प्रकार का अनुकरण है, जिसमें मन और प्रकृति एक दूसरे में प्रतिबिंबित दिखाई देते हैं। अन्तः (मन) का अनुकरण करती हुई प्रकृति ज्ञान के रूप में दिखाई देती है और प्रकृति का अनुकरण करता हुआ अन्तः अनुभूतिशील हो उठता है।

§१२—मानसिक चेतना से युक्त मानव अपने सामने देखता है—

'हरी भरी घाटी में कल-कल करती हुई सरिता—किनारे के घ
की पंक्ति जो उस पार के ऊँचे पहाड़ों की
घन तथ म थ पच्च मिल सी गई है—।' इस दृश्य को देखने के
भ्रता के साथ उसकी मनःस्थिति में विभिन्नता निश्चित है औ
उसके मन में दो प्रक्रियाओं का विकास सम्भव और स्वाभावि
रूप आकार आदि के सहारे वह जल, वृक्ष आदि को पहचा
इनसे उसके जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। प
दुर्गमता आदि का उसे बोध है, क्योंकि शिकार आदि के प्रसंग में
मार्ग में बाधाएँ उपस्थित होती रहती हैं। यह उसका ज्ञान
परन्तु साथ ही जल की तरलता, वृक्षों का रंग-रूप और प
विशालता आदि ने उसके हृदय को अनुभूतिशील किया है। य
उसका अन्तर्मुखी अनुभूति-तत्त्व है। परन्तु मानव की इन म
स्थितियों का विकास एकांगी नहीं समझना चाहिए। जिस प्र
दोनों मानसिक स्थितियाँ एक दूसरे से संबन्धित हैं, उसी प्रकार
के अनुकरणात्मक संबन्ध में ज्ञान और अनुभूति का यह रूप ए
के आश्रित और संबन्धित है। इनका अस्तित्व अपने आप में पृ
है। जब तक ज्ञान सामाजिक आधार तक विकसित नहीं हुआ
व्याख्या की आवश्यकता नहीं हुई। परन्तु अनुभूति आन्तरिक अ
होने के कारण व्यक्ति में भी अभिव्यक्ति प्राप्त कर सकी। इसी
मानव के इतिहास में विचारों से पूर्व भावना को अभिव्य
अवसर मिला है। अभिव्यक्ति की ... और विकसि
भाषा का मूल भावना की अ ... ता है।
प्रारम्भिक स्वरूप में भाषा भी
जिस प्रकार मूल्य,
शील आदिम

विकास के साथ प्रत्यक्ष-बोध से सीधे प्रेरणा न लेकर परम्परा‍ओं से अधिक संबन्धित होती गई। इस प्रकार वह विचारों के प्रकट करने के लिए अधिक प्रयुक्त होने लगी। दूसरी ओर भावनाओं को अभिव्यक्त करने के लिए भाषा को व्यंजना का सहरा लेना पड़ा।[४]

§१३—यहाँ जिस विकार (राग) पर विचार किया गया है वह मानसिक प्रवाह का अंग है। यह हमारी संवेदनाओं और भावों के मूल में तो होता है, पर उनसे एक नहीं समझा जा सकता। और अभी तक प्रकृति के जिस भावात्मक अनुकरण की बात कही जा रही थी वह भावनाओं को उत्पन्न करने के अर्थ में नहीं। मानस की इस प्रवृत्ति में पीड़ा और तोष की भावना सन्निहित है।[५] परन्तु पीड़ा और तोष की संवेदना में तथा अन्य भावों में समानता नहीं है। केवल भावनाओं में पीड़ा और तोष की संवेदना भी सन्निहित होती है। भावना और भावों के विकास में प्रकृति का क्या हाथ रहा है, इस पर विचार तृतीय प्रकरण में किया जायगा। यहाँ यह देख लेना आवश्यक है कि पीड़ा और तोष की संवेदनात्मकता से प्रकृति का क्या संबन्ध रहा है। प्रथम तो प्रकृति के मानसिक संबन्ध में यह आवश्यक भावना है, साथ ही मानव प्रकृति का अनुकरण भी इसीकी प्रेरणा से करता है। यह पीड़ा और तोष की संवेदनात्मक भावना मानव के नाद तथा शारीरिक संचलन से अधिक संबन्धित है। परन्तु प्रकृति के संचलन तथा नादों के शारीरिक अनुकरण के अतिरिक्त भी प्रकृति के रंग-रूप तथा प्रकाश आदि का तोषप्रद (सुखद) प्रभाव मानव पर पड़ता है। अगले प्रकरणों में यह

पीड़ा तथा तोष की वेदना

४—उपमानों के अलंकारिक प्रयोगों में प्रकृति के रूपों की व्यंजना का उल्लेख आगे किया गया है।

५—प्रचलित शब्द दुःख-सुख में शारीरिक से अधिक मानसिक बोध होता है।

समीक्षा की जायगी कि किस प्रकार प्रकृति के प्रारम्भिक सम्पर्कों को, जिनमें मानव की पीड़ा और तोष की भावना संबन्धित थी, कल्पना के धरातल पर कला का रूप मिल सका है। प्रत्यक्ष-बोध के धरातल पर इनके साथ तोष की भावना सन्निहित है जो एक सीमा के बाद पीड़ा में परिवर्तित हो जाती है। कुछ विद्वानों ने प्रकृति के रूपात्मक (रंग) और ध्वन्यात्मक (नाद) सम्पर्कों को रति-भाव से संबन्धित मान कर ही तोषात्मक तथा आकर्षक स्वीकार किया है। एक सीमा तक यह सम्भव सत्य है। परन्तु इनमें एक प्रकार का एकाग्रता तथा गम्भीरता संबन्धी तोष भी सन्निहित है, जो किसी अन्य भाव की अपेक्षा नहीं रखता।

प्रत्यक्ष बोध

१४—मानव के प्रत्यक्ष-बोधों के विकास में स्पर्श, गन्ध तथा स्वाद का योग उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना दृश्य तथा श्रवण का। इनके बोध में भी पीड़ा और तोष की भावना सन्निहित है, परन्तु इनका संयोग संरक्षक सहज-वृत्ति के साथ अधिक है। साथ ही पूर्वानुराग के अन्तर्गत इन बोधों का कुछ अंशों में महत्व है। परन्तु श्रवण के बोध, ध्वनि-नाद में उसकी क्रमिक लय-ताल के साथ गम्भीर एकाग्रता के रूप में भी तोष की भावना है। उसी प्रकार दृश्य में रूप, रंग, प्रकाश तथा संचलन के बोध के साथ इसी प्रकार की एकाग्र-गम्भीरता से उत्पन्न तोष की सुखानुभूति होती है। यह तोषात्मक सुख समस्त चेतना के अन्य बहिंप्रभावों से मुक्त हो जाने तथा आन्तरिक आत्मविभार स्थिति से उत्पन्न होने से होता है। किसी किसी पाश्चात्य विद्वान ने इस तोष की सवेदना को मूर्च्छना या मादक जैसी स्थिति के समान भी माना है। यह स्थिति भाव को प्रेरणा देने में सहायक तो हो सकती है, परन्तु अपने आप में कोई भाव नहीं हो सकती। इन प्रारम्भिक बोधों की उपयोगिता, उनमें सन्निहित पीड़ा और तोष की संवेदना के साथ, आज के कला और काव्य के क्षेत्र में नहीं जान पड़ती। परन्तु हमारा इतिहास

बताता है कि प्रारम्भिक युग से इन प्रत्यक्ष-बोधों ने मानव ज
संस्कृति के विकास में बहुत कुछ सहायता दी है। और क
कला का आधार भी प्रमुखतः यही है। प्रकाश का प्रत्यक्ष-बो
माथ को अच्छा लगता है। परन्तु प्रारम्भिक युग में जब मान
चेतना के विस्तार को भी आकार और रूप देने का प्रयास
था, उनके जीवन में प्रकाश का बहुत महत्त्व था। आत्म संर
वंश विकसन सहज वृत्तियों के लिए तो इनकी उपयोगिता थी
के साथ ही प्रकाश के प्रत्यक्ष बोधों में रंग की सुख संवेदना भी
रही है। प्रकाश के इस महत्त्व के साक्ष्य में मानव की सूर्य और च
पूजा है। इसी के कारण प्रकाश देवत्व की महिमा से पूजित हु
जगमगाते नक्षत्र-मण्डल से युक्त आकाश के प्रति मानव का
भी इसीलिए रहा है। रंग-रूपों के प्रति हमारा मोह आज भी
बना है। आज की उन्नत सामाजिक स्थिति में रंग-रूप के
बोधों में कितनी ही प्रवृत्तियों तथा भावनाओं का समन्वय मानसिक
में हो चुका है। परन्तु प्रारम्भिक युग से ही रूप-रंग का मद
पूर्वानुराग की तीव्र-संवेदना के अतिरिक्त किसी अन्य तीव्र की सु
दना से संबन्धित रहा है। रंगों का भान उसकी विविधता प
है जो अपने विभिन्न छायान्तर में तीव्र है। इसी प्रकार स
स्थान की विभिन्न स्थितियों के अनुपात के आधार पर ही स्थि
है। इसके प्रति मानव अपनी भ्रमपूर्ण धारणा में भी तीव्र प्राण
है। संचलन का आधार दिक् काल दोनों ही है। प्रवाह के एक
संचलन में तन्मयता की तुष्टि अवश्य रहती है। जिस प्रकार स्प
मानसिक अनुकरण संगीत के स्वरों के लय-ताल पर चलता है;
प्रकार संचलन, मानसिक अनुकरण में शारीरिक अनुकरण में परि

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रकृति का प्रत्यक्ष सम्पर्क मानव की संरक्षण और वंश विकसन सहजवृत्तियों के लिए प्रेरक तथा उपयोगी है ही, साथ ही यह सम्पर्क अनुकरणात्मक स्थिति में भी तोष का कारण हो सकता है। यह प्रकृति का अनुकरण शारीरिक या मानसिक दोनों ही हो सकता है। प्रारंभिक सहजवृत्तियों के आधार पर आगे चल कर विभिन्न प्रवृत्तियों तथा भावों का विकास हुआ है। इस विकास के साथ अनुकरण में सन्निहित तोष की सुखानुभूति का समन्वय चलता रहा। और मानव के काव्य तथा कला के क्षेत्र में इसका बहुत कुछ स्पष्टीकरण अब भी मिलता है।

§१५—मानसिक चेतना के विकास में प्रत्यक्ष-बोध के बाद स्मृति और संयोग के आधार पर परप्रत्यक्ष का स्तर आता है। इस स्थिति में परप्रत्यक्षों की स्पष्ट रूपरेखा और उनका अलग अलग संयोग-ज्ञान आवश्यक है। इनमें भी सामाजिक विकास के साथ भाव-रूप और विचार का भेद हो जाता है। प्रकृति संबन्धी परप्रत्यक्ष जब विचारात्मक होते हैं, उस समय हमारा सामाजिक दृष्टिकोण प्रमुख होता है और यह हमारे मानवीय प्रयोजन के लिए प्रयुक्त होता है। यहाँ मानवीय प्रयोजन का अर्थ सामाजिक प्रयोजन है। इस प्रकार जब हम प्रकृति का विचार करते हैं उस समय उसका कोई स्वरूप हमारे सामने आना आवश्यक नहीं है। हम कहते हैं 'मोहन गंगा के पुल से उस पार गया'; और इस स्थिति में केवल हमारे प्रयोजन का बोध होता है। इस कथन में गंगा के प्रवाह तथा उसके पुल की दृश्यात्मकता से हमारा कोई संबन्ध नहीं है। जब हम कहते हैं—'देवदारु के वनों की लकड़ी' उस समय हमारे सामने लकड़ी का सामाजिक उद्देश्य मात्र है। इस प्रकार विचार के तार्किक क्रम में प्रकृति प्रयोजन का

परप्रत्यक्ष का स्तर

लेख में इस विषय की अधिक विवेचना की गई है (पारिजात जून ४७ ई०)

रूप रंग भर लेते हैं और छायातप प्रदान करते हैं। इसी कारण कल्पना का रूप प्रत्यक्ष भावना से अधिक निकट रहता है। तथा वह अधिक स्पष्ट रूप में उपस्थित होता है। काव्य के प्रकृति-चित्रण में कभी यह कल्पना प्रत्यक्ष से नितान्त भिन्न लगती है।[७] परन्तु अपने कलात्मक सौन्दर्य में ये चित्र अधिक सुन्दर लगते हैं। इसका कारण प्रत्यक्ष और कल्पना की विभिन्न प्रेरक शक्तियों का होना तो है ही साथ सौन्दर्यानुभूति की अपनी भाव स्थिति भी है। इसके बारे में चतुर्थ प्रकरण में कहा गया है। यहाँ एक बात की ओर ध्यान आकर्षित कर देना आवश्यक है। समाज के विकास के साथ मानव और प्रकृति के सम्बन्धों में अधिक विषमता आ गई है जिसको हम प्रारम्भिक रूपों के आधार नहीं समझ सकते। और एकान्त रूप से अन्य भावों के विकास के आधार पर मानव और प्रकृति के संबन्ध की व्याख्या भी नहीं की जा सकती। यह विषय अन्यत्र अधिक विस्तार से उपस्थित किया जायगा, यहाँ तो इतना समझ लेना ही पर्याप्त है कि भौतिक प्रकृति यदि जड़ है तो चेतन भी है। केवल उसकी चेतना में स्वानुकरण की चेष्टा अवश्य नहीं है। मानव स्वचेतनशील प्राणी है और उसमें स्व या आत्मानुकरेण की चेतना भी विद्यमान है। वह अपनी चेतना के विकास में प्रकृति को अपने दृष्टिकोण से देखने का अभ्यस्त हो गया है। उसकी चेतना सामाजिक चेतना की ही अंग है। इसलिए अपनी सामाजिक समष्टि में वह प्रकृति को जड़ और अपने प्रयोजन का साधन समझता है। परन्तु अपनी व्यक्तिगत चेतना में वह प्रकृति से अनुकरणात्म प्रतिबिंब के रूप में राग भी उपस्थित करता है। इस प्रकार प्रकृति मानव के ज्ञान का आधार तो है ही साथ ही उसके अनुक-

---

७—संस्कृत साहित्य में इस प्रकार के अधिक सुन्दर चित्रण मिलेंगे; हिन्दी साहित्य में इस [illegible] चित्रण रूढ़िवादी ही अधिक हैं, पर इन[illegible]

रणात्मक प्रतिबिंब में मानव के सुख दुःख की भावना भी सन्निहित है। यह भावना जैसा हम आगे देखेंगे सामाजिक आधार पर भावों के विकास के साथ अधिक विषम और अस्पष्ट होती गई है।

तृतीय प्रकरण

मानवीय भावों के विकास में प्रकृति :

§१—साधारण मानसिक धरातल पर राग या संवेदना हमारी चेतना का अंश है। यह संवेदना बोध के प्रत्यक्षों तथा चिकीर्षा के साथ मिलकर मानसिक जीवन की समस्त अभिव्यक्ति है।

मानवीय अनुभूति

मानसिक चेतना के बोधात्मक विकास पर विचार किया गया है—साथ ही प्रत्यक्ष तथा कल्पना के प्रकृति-रूपों से संबन्धित संवेदनात्मक पक्ष का भी विश्लेषण हुआ है। प्रस्तुत प्रकरण में मानस के भावात्मक पक्ष पर विचार किया जायगा। यह भावना हमारी मानसिक प्रक्रिया के संवेदना-पक्ष का ही स्पष्ट और विकसित रूप है। मानव-मानस का विकास केवल शुद्ध प्रत्यक्ष, कल्पना और विचार के सहारे सम्भव नहीं हो सका है। वस्तुतः यदि इसी सरल रीति पर मानवीय मानस का विकास सम्भव होता तो मानस की समस्त विषमता प्रत्यक्षों और विचारों की संख्या में ही निहित रहती। मन की इस प्रकार

की विषमता इतिहास में एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य के पास लगभग समान आधार पर चलती आती; क्योंकि मस्तिष्क और प्रकृति का स्वरूप युग युग से वैसा ही चला आ रहा है। मानसिक विषमता का कारण मानस के राग, बोध तथा निर्णयों की क्रिया-प्रतिक्रिया है। जीवधारियों की विकास-शृंखला में ज्ञान के सहारे ही मानव का स्थान अलग और श्रेष्ठ है। परन्तु मानव जीवन का प्रमुख तथा महत्त्वपूर्ण सत्य उसके मानस की विषमता तथा उसकी इच्छा-शक्ति की प्रेरणा है। मानस के मानवेतर स्तर पर पशु पक्षी सभी अपनी प्रमुख सहज-वृत्तियों के सहारे अपने निश्चित स्वभाव की पथ-रेखा पर जीवन यापन करते हैं। इनमें जिस प्रकार बोधन इन्द्रियवेदन तक ही सीमित है, उसी प्रकार संवेदना का स्तर भी सहजवृत्ति तथा इच्छा केवल प्रेरणा तक निश्चित है। परन्तु मानव के मानस में इन्द्रियवेदन का जो संबन्ध प्रत्यक्ष-बोध से है, वही संबन्ध संवेदना का भाव से समझा जा सकता है।[१] जैसा कहा गया है विकास में इन तीनों का प्रतिक्रियात्मक संबन्ध तो रहा ही है, साथ ही भावात्मक स्थितियों में भी विकास के साथ विषमता और दुर्बोधता आती गई है। आज जिन प्रत्यक्ष और विचार बोधों का हम कल्पना में सहारा लेते हैं, वे सैकड़ों वर्ष पूर्व भी इसी प्रकार प्रयुक्त होते थे ऐसा नहीं कहा जा सकता। मानव-शास्त्र तथा भाषा-विज्ञान दोनों से यह सिद्ध नहीं होता। मानसिक चेतना के इस रूप तक आने में संवेदनात्मक भावों का महान योग रहा है, और इस सीमा पर मानस की भावात्मकता में विचार तथा कल्पना की भी अपेक्षा रही है। पिछले प्रकरणों में मानव की समस्त चेतना का प्रश्न साधारणतः दार्शनिक दृष्टि से

१—संवेदनात्मक क्रम में भाव उसी प्रकार है जिस प्रकार प्रत्यक्ष-बोध [illegible] क्रम में। [illegible], 'दि स[illegible]', और दि [illegible]' के [illegible] (पृ० ११)

विचार किया गया है, परन्तु प्रस्तुत प्रकरण में मानवीय भावों पर अपनी विवेचना केन्द्रित करनी है। इस कारण यहाँ मानस-शास्त्र तथा शरीर-विज्ञान का ही अधिक आश्रय लिया गया है। हमारी विवेचना का प्रमुख विषय मनोभावों के विकास में प्रकृति का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष संबन्ध देखना है।

जीवन में संवेदना का स्थान

§२—संवेदना अपने व्यापक अर्थ में प्रभावशीलता है। यह विश्व के समस्त जड़ चेतन जगत् में देखी जा सकती है और यही सर्जन की आन्तरिक प्रेरणा शक्ति मानी जा सकती है। सृष्टि की क्रिया, गति, उसका संचलन तो कार्य मात्र है, पर यह प्रभाव कारण और परिणाम दोनों ही माना जा सकता है। जब तक क्रिया के मूल में और प्रति क्रिया के परिणाम में, किसी प्रभावात्मक शक्ति को नहीं स्वीकार करते, न्याय-वैशेषिकों की समस्त पदार्थ और द्रव्यों की व्याख्या हमारे सम्मुख सृष्टि सर्जन का रूप उपस्थित नहीं कर सकती। साख्य-योग की प्रकृति पुरुष से बिना प्रभावित हुए (ज्ञान की सीमा में) महत् की ओर नहीं बढ़ सकती। तत्त्ववाद के क्षेत्र से हटकर हम पदार्थ-विज्ञान और रसायन-शास्त्र के आधार पर भी इसी निष्कर्ष तक पहुँचते हैं। एक पदार्थ तत्त्व जब दूसरे पदार्थ-तत्त्व के साथ क्रियाशील होकर प्रभावित होता है, उस समय एक नवीन पदार्थ-तत्त्व का निर्माण होता है। यही बात रासायनिक प्रक्रियाओं में भी ऐसे ही घटित होती है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक सर जगदीश चन्द्र बसु ने वनस्पति-जगत् को संवेदनात्मक सिद्ध किया है। और यह तो साधारण अनुभव की बात है—धूप के ताप में पादप किस प्रकार मुरझा जाते हैं; पानी पाकर लताएँ किस प्रकार लहलहा उठती हैं और लईमुई लता·

संवेदना का व्यापक अर्थ

वनस्पति-जगत् में नव वधू जैसी सलज्ज शालीनता का उदाहरण है। जिस सीमा में जीवन में अचेतन स्थिति रहती है, उसमें भी शारीरिक प्रभावशीलता रहती है, और इसी को चेतन-स्थिति की भावात्मकता की पृष्ठभूमि कहा जा सकता है। इन्द्रियवेदन में किसी प्रभाव को ग्रहण करने की तथा प्रतिक्रिया करने की शक्ति होती है। हम जो मानवीय चेतना की स्थिति में ही संवेदना तथा भावना की बात कहते हैं वह मानवीय दृष्टि का अपने को प्रधानता देने के कारण ही।

आकर्षण और उत्क्षेपण

क—हम चेतना की पूर्ण विकसित स्थिति के पूर्व, पिंड में दो प्रवृत्तियाँ पाते हैं। एक मौलिक रासायनिक प्रवृत्ति जो आकर्षण के रूप में मानी जा सकती है, और दूसरी पिंड की आंतरिक प्रवृत्ति जो उत्क्षेपण कही जा सकती है। ये दोनों हमारे भाव-जगत् के मौलिक आधार के दो सिरे हैं। इस अर्थ में पिंड के जीवन में आकर्षण का महत्त्व शोषण और पोषण क्रिया के रूप में है। यौन संबन्धों की प्रत्यक्ष स्थिति तक यह आकर्षण अवश्य कुछ दूसरे प्रकार का हो जाता है, और इस स्थिति में निश्चय ही चेतना के कुछ उच्च-स्तर का संबन्ध है। इसी प्रकार पिंड के द्वारा अपने आवश्यक तत्त्वों को ग्रहण करने के बाद अन्य अनावश्यक पदार्थ के त्याग को उत्क्षेपण के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। पिंड की इसी प्रकार की आन्तरिक प्रभावशील प्रक्रिया के आधार पर हमारी चेतना की संवेदनात्मकता स्थिर है। पिंड शरीर के रूप में इन्द्रिय चेतना को प्राप्त करके अपनी आन्तरिक प्रक्रिया में बढ़ा है। परन्तु इसका अर्थ यहाँ यह नहीं लगाना चाहिए कि हम शरीर की आन्तरिक प्रक्रिया के आधार पर मानसिक संवेदना की व्याख्या कर रहे हैं। यहाँ शारीरिक पूर्णता के समानान्तर चेतना के विकास की बात ही कही गई है और प्रारम्भ में स्वीकार किया गया है कि सहज बोध शरीर और मन को स्वीकार करके चलता है।

§३—शरीर के विकास में जीव के स्तर की रागात्मक संवेदना के मूल में जीवन और संरक्षण की सहजवृत्ति पाई जाती है। चेतना के मानसिक स्तर की सम्भावना के पूर्व ये सहजवृत्तियाँ शरीर से संबन्धित हैं और ये सहज प्रेरणा के अनुरूप अपना कार्य करती रहती हैं। इस स्थिति में जीवन शारीरिक प्रक्रिया में स्वयं ही अपनी रक्षा का भार वहन करता है, उसमें वाह्य प्रभावों को अपने अनुरूप ग्रहण करने की तथा उनके अनुसार कार्य करने की प्रवृत्ति होती है। यह जीवन की स्थिति निम्नश्रेणी के पशुओं में ही नहीं वरन मानव शरीर के विषय में समझी जा सकती है। मानव शरीर स्वयं पूर्ण आन्तरिक एकता में स्थिर है और अपनी आन्तरिक वेदनाओं में क्रियाशील है। यह शरीर की आन्तरिक-वेदना की स्थिति मानवीय चेतना से संबन्धित अवश्य है पर उसका ही भाग नहीं कही जा सकती। शरीर की आन्तरिक वेदना किसी प्रकार की वाह्य-स्थितियों के प्रभाव का परिणाम नहीं है। कहा जाता है ये आन्तरिक वेदनाएँ जीवन की सहजवृत्ति के रूप में बिना किसी वाह्य कारण के, इन्द्रिय-वेदन के आधार के न होने पर भी, भौतिक पीड़न और तोष की अनुभूति का स्रोत हैं। यहाँ दुःख-सुख शब्दों का प्रयोग इस कारण नहीं किया गया है कि इनमें मानसिक पक्ष अधिक है। वस्तुतः ये शब्द अङ्गरेजी प्लेज़र और पेन के पर्यायवाची शब्द नहीं हैं। यहाँ एक बात पर विचार कर लेना आवश्यक है। अभी कहा गया है कि इस शारीरिक पीड़न और तोष की अनुभूति के साथ किसी वाह्य-प्रेरक की आवश्यकता नहीं है। परन्तु प्रश्न है कि क्या किसी प्रकार का वाह्य प्रकृति से इसका संबन्ध सम्भव नहीं है। वस्तुतः जीवन की किसी स्थिति में आन्तरिक-वेदना से संबन्धित पीड़न और तोष की प्रेरक वाह्य प्रकृति न भी हो। परन्तु इन्द्रिय वेदनाओं की प्रेरणा में मानव ने जब अपने जीवन में प्रकृति के कुछ उपकरणों का प्रयोग किया, तब से शारीरिक तोष और पीड़न से प्रकृति का संबन्ध एक

प्रकार से स्थापित हो गया। यद्यपि यह उस प्रकार का संबन्ध नहीं है जो संवेदना का प्रत्यक्ष बाह्य-प्रेरकों से होता है। ये बाह्य-प्रेरक प्रत्यक्ष संवेदनात्मक अभिव्यक्ति के साथ भावों को उत्पन्न करने का भी श्रेय रखते हैं। परन्तु जब बाह्य-प्रेरक के रूप में प्रयुक्त होने वाले प्रत्यक्षों का संयोग प्रकृति की वस्तु-स्थितियों से होता गया और मानस के विकास के साथ इन्होंने परप्रत्यक्ष तथा कल्पना का रूप ग्रहण कर लिया; तब इनका संबन्ध अन्तर्वेदनाओं से भी स्वतः ही हो गया और इस प्रकार अन्तर्वेदनाएँ भी मानसिक स्तर से अधिक संबन्धित हो सकी हैं। वर्तमान मानस-शास्त्री क्षुधा को मानसिक स्तर पर भ... मानते हैं जो इसी प्रकार की सहजवृत्ति पर आधारित है।[१] भूख प्या... के साथ अस्पष्ट भोज्य पदार्थ और पानी की तृष्णा तो होगी ही। आज भोज्य पदार्थ का भूख के साथ और पानी का प्यास के साथ संबन्ध अटूट सा है। यही नहीं विकास की एक स्थिति में नदी को देख कर प्यासा अपनी तृष्णा को अधिक स्पष्ट रूप से संवेदित करता होगा; और शिकार को देख कर क्षुधावृत्ति भी संवेदित हो उठती होगी। इसी प्रकार शयन की प्रवृत्ति के साथ आदि मानव के लिए रात्रि का संबन्ध तथा अपनी अंधेरी गुफा का रूप अधिक व्यक्त होता गया और उसकी थांति के साथ दुर्गम पथ तथा वृक्षों की शीतल छाया का संयोग भी किसी न किसी रूप में होता गया। मिथ-शास्त्र के अध्ययन करने वाले विद्वानों ने एक ऐसे समय की कल्पना की है जिसमें मानव अपनी इन अन्तर्वेदनाओं को प्रकृति के रहस्यात्मक संयोगों के रूप में समझता था। इस स्थिति में वह अपने को प्रकृति से पूर्ण रूप से ...ग नहीं कर सकता था।

...ई४—इससे कहा गया है कि सुख-दुःख शब्द मानसिक संवेदना ...धिक संबन्धित हैं। शारीरिक तोष और पीड़न की अनुभूति

—१५. 'वथ दर मेड दुःख का मन देहन' प० ६६।

आन्तरिक संवेदनात्मक स्थिति कही जा सकती है। यह चेतना के सम और विषम शक्ति प्रवाह से संबन्धित सुख-दुःख के समान ही शारीरिक अनुरूपता के सम और विषम शक्ति प्रवाह का द्योतक है। कुछ मानस शास्त्रियों का मत रहा है कि हमारी इन्द्रिय-वेदनाओं में ही तोष-पीड़न की अनुभूतियाँ सन्निहित रहती हैं और ये विशेष प्रकार के स्नायु तन्तुओं पर निर्भर हैं। परन्तु सर्वमान्य मत इसके विरुद्ध है। इसके अनुसार इन्द्रिय-वेदना के साथ ही तोष और पीड़न की अनुभूति तो मान्य है पर वह उसीकी शक्ति, गम्भीरता और समय आदि पर निर्भर है। इसको इस प्रकार सरलता से समझा जा सकता है। हम देखते हैं, जो इन्द्रिय-वेदना समय की एक सीमा और स्थिति में तोषप्रद विदित होती है, वही परिस्थितियों के बदलने पर पीड़क भी हो सकती है। इस प्रकार प्रत्येक भाव की अनुभूति में सुख-दुःख की संवेदना भी सन्निहित रहती है और सुख दुःख (तोष और पीड़न के रूप में) स्वयं में कोई भाव नहीं कहे जा सकते। अभी तक हम जिस तोष और पीड़न का उल्लेख कर रहे थे वह शारीरिक अन्तर्वेदनाओं से संबन्धित है अथवा इन्द्रिय-वेदनाओं से। इन्द्रिय-वेदन मानस की बहुत प्रारम्भिक स्थिति में ही विशुद्ध रहते हैं, नहीं तो वे प्रत्यक्ष बोध का रूप ग्रहण कर लेते हैं। तोष और पीड़न की जो सुख दुःखात्मक अनुभूति इन्द्रिय-वेदनाओं से संबन्धित है, वह प्रत्यक्ष बोध से भी संबन्ध उपस्थित कर लेती है और फिर यह एक स्थिति आगे परप्रत्यक्षी करण द्वारा विचार और कल्पना से भी संबन्धित हो जाती है। यही संवेदना भावों के विकास में सौन्दर्यानुभूति के मूल में भी है। यद्यपि सौन्दर्यानुभूति में कितने ही भावों की प्रत्यक्ष स्थितियों का प्रभाव और संयोग है, जिस पर बाद में विचार किया जायगा। कोमल-कठोर स्वर, सुगन्ध दुर्गन्ध, मधुर-कर्कश स्वर, मीठा-तीता स्वाद तथा प्रकाश और रंगों के विभिन्न छायातप आदि इन्द्रिय-वेदनाओं के साथ

सुख दुःख की संवेदन

सुख दुखात्मक संवेदना सन्निहित है। बाद में ये अनुभूतियाँ ही प्रत्ययों के आधार पर सौन्दर्यानुभूति के विकास में सहायक हुई हैं।

क—जिन शारीरिक अन्तर्वेदना और इन्द्रिय-वेदना की अनुभूति के बारे में कहा गया है, इन दोनों का सामूहिक रूप से संरक्षण की

मानसिक स्तर

सहजवृत्ति से सम्बन्ध है। जिस प्रकार हम यहाँ प्रत्येक स्थिति को अलग-अलग करके उन पर विचार कर रहे हैं, वस्तुतः मानसिक जगत् में ऐसा होना नहीं। मानसिक व्यापार समवाय रूप से ही चलते हैं। परन्तु विवेचना करने का और कोई मार्ग भी नहीं है। इस कारण हम सत्य को सदा ध्यान में रखना चाहिए। यहाँ इन अनुभूतियों का बाह्य प्रकृति की वस्तु स्थितियों से क्या संबन्ध हो सकता है इस पर विचार किया गया है। निम्नश्रेणी के मानसिक स्तर वाले पशु और पक्षियों में ये दोनों स्थितियाँ पाई जाती हैं और उनके जीवन के लिए इनका संयोग भी महत्त्वपूर्ण है। इनमें चिड़ियों की निश्चयात्मक शक्ति नहीं होती, जिससे किसी उद्देश्य की ओर क्रिया की प्रेरणा हो। वे केवल सहजवृत्तियों से प्रेरित होकर कार्य करते हैं। ऐसी स्थिति में शारीरिक अन्तर्वेदना से प्रेरित होकर वे भोजन आदि खोजने में प्रवृत्त होते हैं और उनका भोजन आदि की खोज में इन्द्रिय-वेदन की अनुभूति सहायक होती है। उनकी यौन संबन्धी प्रवृत्ति का भी सम्बन्ध इसी प्रकार इन्द्रिय-वेदन से समझा जा सकता है। इस सत्य का प्रतिपादन पशु-पक्षियों के विशिष्ट रंग-रूपों के प्रति आकर्षण से होता है। जानवरों में उन रंग-रूपों का विशेष आकर्षण पाया जाता है जो उन फूल-फल आदि वनस्पतियों अथवा पशुओं से संबन्धित हैं जिन पर वे जीवित रहते हैं।[३] इस प्रकार की संबन्ध-परम्परा मानव-स्तर के मानस में भी पाई जाती है, क्योंकि मानवीय

३—ग्रैंट एलन की पुस्तक 'दि कलर सेंस' का "इन्सेक्ट्स ऐंड फ्लावर" नामक चतुर्थ प्रकरण इस विषय में पठनीय है।

ानस के विकास में कितने ही रूपों की प्रतिक्रिया चलती आ रही । फिर भी मूलतः मानवीय मानस में भी वस्तुओं के आकार-प्रकार, र-रंग तथा स्वाद आदि के साथ सुख दुःख की संवेदना का सम्बन्ध पर्की भोजन आदि की सहजवृत्तियों के आधार पर हुआ है, ऐसा ीकार किया जा सकता है।

प्राथमिक भावों की स्थिति

६५—ऊपर जिन वेदनाओं की सुख-दुःखात्मक संवेदना में प्रकृति-ों के संबन्धों की व्याख्या की गई है; वे भावों की पूर्णता में अपना स्थान रखती हैं। परन्तु मानसिक विकास के साथ भावों की निश्चित रूप-रेखा सहजवृत्तियों

च का आधर

आधार पर ही बन सकी है। जीवन के साधारण अनुभव हम देखते हैं कि पशु पक्षियों का जीवन इन सहजवृत्तियों आधार पर सरलता से चल रहा है। और अपने जीवन पूर्ण प्रक्रिया में वह मानव जीवन के समानान्तर भी है। देखा है ज़रा से खटके से चिड़िया उड़ जाती है। उनको आपस में भी देखा जा सकता है। पशु पक्षियों में अपने बच्चों के प्रति मक ममता की सहजवृत्ति भी होती है। बहुत से पशुओं में रण के साथ ही सहायता देने की सहजवृत्ति भी देखी जाती है। र और भोजन की खोज तो सभी करते हैं। अपने नीड़ के ग में अनेक पक्षी कलात्मक सहजवृत्ति का भी परिचय देते हैं। कार प्रकृति-जगत् में पशु-पक्षी सहजवृत्तियों के स्वाभाविक आधार पना अस्तित्व स्वतः स्थिर रखते हैं। परन्तु मानव का मानस हजवृत्तियों के आधार पर भावों की विकसित स्थिति को प्राप्त है और जैसा पिछले प्रकरण में कहा गया है उसमें बोध का ी समन्वित होता है। पहले संकेत किया गया है मनस्-चेतना ो के साथ सुख-दुःख की संवेदना भी सम्मिलित है, जिसमे

इच्छा शक्ति को प्रेरणा मिलती है। यह इच्छा मानसिक चेतना का एक भाग कहा जाता है। आगे इस बात पर विचार किया जायगा कि प्रमुख भावों के विकास में प्रकृति का क्या योग रहा है और इस प्रकार मानवीय भावों में प्रकृति का रूप निश्चित किया जा सकेगा। यथास्थान अन्य भावों के इस विकास को क्रमिक रूप से उपस्थित करने का प्रयास किया जायगा। हम अपनी विवेचना में देखेंगे कि कुछ भावों से प्रकृति का सीधा योग है और कुछ से अन्य प्रकार से।*

१—विकास के आदि युग में हम मानव की प्रारम्भिक अवस्था में प्रकृति के साथ नितान्त अकेला और जीवन संग्राम में संलग्न पाते हैं। जीवन-यापन की प्राथमिक आवश्यकता के साथ भोजन की खोज तो उसकी सहजवृत्ति निम्न-स्तर के जीवों के समान ही होगी। इसके साथ प्रत्यक्ष-और भावात्मक संवेदना का समन्वय किस प्रकार हुआ है यह पहले ही कहा जा चुका है। साथ ही उसे चारों ओर से घेरे हुए प्रकृति का बोध होना आरम्भ हुआ। जीवन संरक्षण के लिए पलायन की प्रवृत्ति ने बाह्य-जगत् के प्रत्यक्ष बोध के साथ उसमें भय की भावना उत्पन्न की। यह भय का भाव केवल संरक्षण की सहज-वृत्ति को लेकर हो, ऐसा नहीं है। अपने सामने जगत् के प्रत्यक्ष-बोधों का विस्तार पाकर, उसके आकार-प्रकार, रंग-रूपों तथा नाद-ध्वनियों को समन्वित और स्पष्ट रूप-रेखाओं में वह नहीं समझ सका। इस कारण प्रकृति के प्रति उसको एक अज्ञात भय का भाव घेरे रहता था। प्रकृति का अस्पष्ट बोध ही मानव के भय का कारण था, यद्यपि जीवन संरक्षण के साथ यह भाव संबन्धित रहा है और उससे प्रेरणा भी ग्रहण करता रहा है। प्रत्यक्ष-बोध के इस स्पष्ट युग में भयभीत

* इसी प्रकार काव्य में उपस्थित प्रकृति रूपों की स्थिति भी है। आगे विवेचना में यह स्पष्ट हो सकेगा।

मानव अपनी रक्षा के लिए अन्य जीवों से अधिक आकुल विदित होता है। इस बात का साक्ष्य उसके परप्रयत्नों से ही मिलता है। मिथ-युग के अध्ययन से भी यह सिद्ध हो जाता है कि प्रारम्भ में भय का कारण बाह्य प्रकृति का अस्पष्ट प्रभाव था। यह कहना भ्रामक है कि ज्ञान से भय उत्पन्न होता है, अपनी प्राथमिक स्थिति में यह अज्ञान से ही संबंधित है।

क्रोध

६७—इसके अनन्तर जीवन यापन और संरक्षण की दूसरी शृंखला आती है, जिसमें संघर्ष या युद्ध की सहजवृत्ति अन्तर्निहित है। पशु भी भोजन अथवा यौन आदि के संबन्ध में संघर्ष करते देखे जाते हैं तथा संरक्षण के लिए युद्ध करने को प्रस्तुत रहते हैं। इसी सहजवृति के साथ क्रोध का भाव संबन्धित है। मानव में भी क्रोध-भाव का विकास इसी सहजवृत्ति के आधार पर माना जाता है। युद्ध की प्रवृत्ति आक्रमण के रूप में प्रस्तुत होने पर क्रोध के भाव में प्रकट होती है और यह भाव मानवीय मानस के धरातल पर भय तथा कठिनाइयों को अतिक्रमण करने के साथ भी संबन्धित किया जा सकता है। इस प्रकार इस भाव का संबन्ध बाह्य-प्रकृति के रूपों से सम्भव है। क्योंकि बाह्य वस्तुओं और स्थितियों से उत्पन्न भय की भावना तथा कठिनाइयों के बोध का प्रतिक्रियात्मक भाव क्रोध कहा जा सकता है। इसी से आक्रमण की प्रेरणा भी मिलती है।

सामाजिक भाव

६८—भावों के विकास की इस सीमा तक व्यक्ति और समाज की मानसिक स्थिति की कल्पना स्पष्ट रेखाओं में नहीं की जा सकती। इस सीमा पर 'अहं' की मान्यता में आत्म-भाव का विकास भी नहीं माना जा सकता। वस्तुतः समाज की सहजवृत्ति को आत्मवृत्ति से पूर्व का मानना चाहिए; या कम से कम इन्हें समान रूप से विकसित माना जा सकता है। परन्तु मानव-शास्त्र के साथ प्रयोगात्मक मानस-शास्त्र के आधार पर

विचार करने पर ये दोनों स्थितियाँ तो इस क्रम में विदित होती हैं, पर दोनों भाव इस क्रम से विकसित नहीं माने जा सकते। सामाजिक भाव के विकास में सहचरण तथा संग्रहेच्छा आदि अनेक सहज-वृत्तियों की प्रेरणा रही है। परन्तु सामाजिक भाव में अपत्य-भाव प्रमुख है, इसमें माता पिता की अपने संतान के संरक्षण की भावना बद्धमूल है और इसके साथ ही कोमलता के भाव का विकास माना जा सकता है, जिसको हम कृपा या दया आदि के मूल में मानते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन भावों का संबन्ध प्रकृति के प्रभावात्मक रूप से नहीं है। एकाकीपन और असहायावस्था के भावों में प्रकृति का किसी प्रकार का सीधा संबन्ध नहीं माना जा सकता। परन्तु व्यापक रूप से प्रकृति एकाकीपन और असहायतावस्था, दोनों को वातावरण तथा परिस्थिति का रूप अवश्य प्रदान करती है। इसी प्रकार विकास के उन्नत-क्रम पर सहानुभूति तथा कोमलता आदि भाव प्रकृति की अनुभूति के साथ मिल जुल गए हैं। और आज उनको अलग करके नहीं देखा जा सकता। इन समस्त भावों का विकास सहानुभूति के रूप में व्यापक प्रकृति में अपने सजातीय की खोज और साथ रहने की प्रवृत्ति के आधार पर हुआ है। मानसिक विकास में मानव प्रकृति को भी एक स्थिति में सामाजिक भावों के संबन्ध में देखता है। परन्तु यह बाद की स्थिति है और हम देखेंगे कि काव्य में इस प्रकृति-रूप का महत्त्व-पूर्ण स्थान रहा है।[५]

१६—मानसिक चेतना में इन भावों के साथ बोधात्मक विकास भी चल रहा था। बोधात्मक प्रत्ययों के अधिक स्पष्ट होने में

५—इसी ग्रंथ के प्रथम प्रकरण में उल्लेख किया गया है कि संस्कृत के काव्य-शास्त्री-प्रकृति में इन भावों के आरोप को अलंकार और रसाभास मानते हैं। परन्तु प्रकृति पर यह आरोप भी मानवीय मनोवृत्ति का परिणाम है, इस कारण उनका यहाँ विचार आवश्यक है।

चर्य तथा अद्भुत भावों का विकास हो सका। इस स्थिति में प्रत्यक्ष-बोधों का विकास एक सीमा तक स्वीकार करना पड़ता है। क्योंकि भय से अलग, स्पष्ट आकार-प्रकार के बोध द्वारा ही यह भाव र माना जाता है। पहले प्रकृति के आकार-प्रकार, रंग रूप आदि शष्ट सीमाएँ एक प्रकार का अस्पष्ट संदिग्ध बोध कराती थीं। नव की चेतना पर बोझा था। धीरे धीरे प्रकृति का रूप रूप-रेखाओं में तथा स्पष्ट कल्पना-रूपों में संबद्ध होकर आने। पहले जो प्रकृति मानव को भय से आकुल करती थी, अब श्चर्य से स्तब्ध करने लगी। इस प्रकार इस भाव का संबन्ध के सीधे रूप से ही है और ज्ञान की प्रेरक-शक्ति भी यह। परन्तु इस भाव में जो एक प्रकार का स्तब्ध आह्लाद है वह वेदना की तीव्रता पर निर्भर नहीं है। यह सुख-दुःख की सम-पर अधिक आधारित है। इस सम-स्थिति से उसकी मायात्मकता भेद नहीं पड़ता। इस प्रकार के शांत-भाव को पाश्चात्य तथा आधुनिक विद्वानों ने स्वीकार किया है। भारतीय तत्त्व-तथा साहित्याचार्यों ने भी शांत को रस के अन्तर्गत मानकर कार किया है। आगे प्रकृति के आलंबन तथा उद्दीपन व्याख्या करते समय इस विषय पर अधिक प्रकाश पड़े परन्तु इस विषय में यह समझ लेना चाहिए कि विकास में की यह भाव-स्थिति अन्य मानसिक रूपों से मिलती रही है।

आश्चर्य तथा अद्भुत-भाव

—प्रारम्भिक युग में 'अहं' की आत्म-भावना को इस प्रकार तारा जा सकता जैसा हम आज समझते हैं। परन्तु उसी स्थिति में जीवन संरक्षण और यापन की प्रेरणा से अपने 'अहं' की भावना रक्षित थी। मानस के विकास में अद्भुत-भाव की प्रेरणा से ज्ञान का प्रसार होता गया, उसी प्रकार 'अहं' की भावना भी स्पष्ट

दंभ या गर्व

और विकसित होती गई। जब मानव ने भय से कुछ त्राण पाया और क्रोध की प्रेरणा से कठिनाइयों तथा शत्रुओं पर विजय प्राप्त की, उस समय उसका आत्म-भाव अधिक स्पष्ट हो चुका था। वह आत्म-चेतन के साथ अकारवान् प्राणी हो गया था। यह आत्म की भावना अहं के रूप में शक्ति-प्रदर्शन और उसी के प्रतिकूल आत्महीनता के रूप में प्रकट होती है। सामाजिक विकास के साथ इस भाव में अधिक विषमता और विभिन्नता बढ़ती गई। परन्तु इसके पूर्व ही प्रकृति-जगत् में भी इसका संबन्ध खोजा जा सकता है। प्रकृति के जिन रूपों को मानव विजित करता था उनके प्रति वह अपने में महत्त्व का बोध करता था और प्रकृति के जिन रूपों के सामने वह अपने को पराजित तथा असहाय पाता था, उनके प्रति अपने में आत्महीनता की भावना पाता था। मिथ-युग के देवताओं के रूप में हमको इस बात का प्रमाण मिलता है। क्योंकि इस युग में मानव बहुत कुछ देवताओं से भयभीत होकर ही उनसे अपने को हीन मानता था। आत्म-भावना ने अपने विकास के लिए क्षेत्र सामाजिक प्रवृत्तियों को ही स्वीकार किया है। परन्तु सहानुभूति के प्रसार में मानव प्रकृति को आत्म-भाव से युक्त पाता है या अपने अहं के माध्यम से प्रकृति को देखता है। इस मानसिक स्थिति तक पहुँचने में भाव विषम स्थिति में ही रहते हैं। काव्य में प्रकृति-रूपों की विवेचना के अन्तर्गत प्रकृति संबन्धी इस प्रकार के आरोप आते हैं।

§११—यौन विषयक रति-भाव की आधार-भूमि पशुओं की इसी प्रकार की सहजवृत्ति है जो जाति की उन्नति के लिए आवश्यक है। यह सहजवृत्ति अपने मूल रूप में एक विशेष शारीरिक अवस्था में उत्पन्न होती है और उस समय जीव के साधारण मानसिक स्तर पर किसी व्यक्ति-विशेष की अपेक्षा नहीं करती है। इसके लिए प्रतिकूल यौन संबन्धी आकर्षण ही यथेष्ट है। इस भाव में प्रकृति के रूप-रंग आकार-प्रकार आदि

रति-भाव

महत्त्वपूर्ण स्थान है, इस विषय में संकेत किया जा चुका है। [-पक्षियों और कीड़ा-मकोड़ों के जगत् में इस सहज-वृत्ति के न्ध में इनका प्रभाव है ही साथ ही वनस्पति जगत् भी इन -रूपों से अपनी उत्पादन क्रिया में सहायता लेता है। मानवीय [व के धरातल पर इस भाव के साथ क्रमशः विकास में अन्य भावों संयोग होता गया है। आज रति भाव का जो रूप हमारे सामने समें प्रकृति के प्रत्यक्ष-बोध की अनुभूति के आधार पर विकसित र्यानुभूति और सामाजिक सहानुभूति का ऐसा सम्मिश्रण हुआ है उसको अलग रूप से समझना असम्भव है। काव्य में शृंगार के न-विभाव के अन्तर्गत प्रकृति के जो व्यापक रूपों का उल्लेख जाता है उससे भी यही सिद्ध होता है।[१]

§१२—पहले मानस-शास्त्री कलात्मक-भाव (निर्माण) को अलग क भाव स्वीकार नहीं करते हैं। परन्तु आधुनिक मत से इस प्रकार की सहजवृत्ति पक्षियों और कीड़ों में भी पाई जाती है। इसी सहजवृत्ति का मानव में क विकास हुआ है। अन्य जीव प्रकृति के उपकरणों के क अपने लिए कुछ निर्माण कार्य करते हैं। इसी प्रकार मानव त्मक भावना ने अपनी अन्य मानसिक शक्तियों से निर्माण-रे अधिकाधिक विकसित किया है। इसकी प्रथम प्रेरणा जीवन क्षण आदि वृत्तियों में हो सकती है, परन्तु इसके आधार में ह अनुकरण का रूप भी सन्निहित रहा है। बाद में क्रीड़ात्मक साथ सौन्दर्यानुभूति के संयोग से मानव ने अपनी निर्माण-कलात्मक भाव में प्राप्त किया है। मानव का यह प्रकृति का

त्मक भाव

---

[१] कृति के आलंबन और उद्दीपन विभाव संबन्धी रूपों की विवेचना के पंचम प्रकरण में की गई है। साथ ही द्वितीय भाग में अनेक उनका उल्लेख किया गया है।

क्रीड़ात्मक अनुकरण मानसिक धरातल पर उसकी अनेक विकसित कलाओं में देखा जा सकता है।*

§१३—अपनी नियम स्थिति के कारण हास्य भाव का स्थान भावों के विकास-क्रम में निश्चित नहीं किया जा सकता। परन्तु यह स्वच्छंद

६ ९८-भा.व

क्रीड़ा का एक रूप माना जा सकता है। हम जिस रूप में हास्य को लेते हैं, उससे यह मूल रूप में बिलकुल भिन्न है। बाद में इसमें बहुत कुछ कल्पना तथा विचार आदि का योग हो गया और अब यह भाव अभ्यन्तरित स्थिति में अधिक है। परन्तु प्रारम्भिक युग में यह क्रीड़ात्मक भावना (हास्य) संचित शक्ति के प्रवाह और उसके निश्चित प्रयोग से संबन्धित सुख-संवेदना समझी जा सकती है। इस संवेदनात्मक प्रवृत्ति के आधार पर नृत्य, गान आदि का विकास माना जाता है, जो इस भावना के बाह्य अनुभावों के रूप में भी समझे जा सकते हैं। इस प्रकार इस भावना के साथ भी प्रकृति का अनुकरणात्मक संबन्ध है। गर्जन, गति, प्रवाह और नाद आदि की सुखानुभूति ने मानव को प्रकृति के अनुकरण के लिए प्रेरित किया होगा। और शक्ति का संचय तथा प्रवाह ही तो हास्य-भाव का मूल है।

भावों की माध्यमिक तथा अभ्यन्तरित स्थितियाँ

§१४—जिन भावों का उल्लेख ऊपर किया गया है, ये जिस [illegible] में आज पाए जाते हैं, वह रूप अत्यधिक मिश्र है। परन्तु [illegible]

[illegible]

भावों के प्रारम्भिक रूप की कल्पना तथा [illegible] की जा सकती है। पिछली विवेचना में स्थान स्थान पर विभिन्न भावों के सम्मिश्रण की तथा अन्य मानसिक स्थितियों के

*—[illegible]

[illegible]

प्रभाव की बात कही गई है। एक भाव दूसरे भाव के साथ मिल जाता है तथा प्रभावित भी करता है। भय और क्रोध जैसे प्राथमिक भावों का भी हम उनके प्रारम्भिक रूप में नहीं पाते। अन्य भावों तथा अनेक परिस्थितियों के कारण इनमें भी अनेक रूपता तथा विषमता आ गई है। त्रास और उन्माद आदि भाव इसी प्रकार के हैं। सामाजिक तथा अहं संबन्धी भाव तो बहुत पहले से ही माध्यमिक स्थिति में आ चुके हैं। एक ओर कारण और स्थितियों में भेद होता गया, और दूसरी ओर भावों का सम्मिश्रण होता गया है। ऐसी स्थिति में भावों में विषमता और वैचित्र्य बढ़ता गया है। इस प्रकार सामाजिक सहानुभूति से प्रभावित होकर अहंकार की शक्ति प्रदर्शन संबन्धी महत्त्व की भावना अभिमान का रूप धारण करती है; और इसके प्रतिकूल हीनता की भावना दीनता हो जाती है। सामाजिक सहानुभूति जब अहंभाव से प्रभावित होती है उस समय प्रशंसा और कृतज्ञता के भाव विकसित होते हैं। साधारणतः इन माध्यमिक भावों का संबन्ध प्रकृति से नहीं है। परन्तु भावों के उच्च-स्तर पर आचरणात्मक सत्यों से संबन्धित भाव, सौन्दर्य भाव से प्रभावित होते हैं। इस प्रकार प्रकृति की सौन्दर्य-भावना में आचरणात्मक भावों का आरोप किया जाता है। परन्तु यह प्रकृति और भावों का सीधा संबन्ध नहीं हुआ। अन्य प्रकार से माध्यमिक भावों से प्रकृति का सीधा संबन्ध सम्भव है। प्रारम्भ में प्रकृति की अज्ञात-शक्तियों के प्रति जो भय की भावना थी, वही भाव सामाजिक सहानुभूति से मिलकर श्रद्धा के रूप में व्यक्त होता है और इसी में जब आत्महीनता का भाव संबन्धित हुआ, तो वह आदर का भाव हो गया। परन्तु यहाँ भावात्मक विकास के क्रम में प्रकृति भावों के प्रेरक कारण के समान नहीं समझी जा सकती।

§१५—धार्मिक भावों के विकास में प्रकृति का संबन्ध प्रारम्भ से रहा है। इस समय धार्मिक भाव से हमारा अर्थ उस स्वाभाविक भाव-

स्थिति से है जिससे धर्म संबन्धी माध्यमिक भावों का विकास हुआ है।

धार्मिक भाव

धर्म सम्बन्धी माध्यमिक भाव का विकास प्रकृति
शक्तियों को देवता मानने वाले धर्मों के इतिहास
में तथा उनकी मिथ संबन्धी रूप-रेखा में स्पष्टतः मिलता है।
साधारणतः प्रकृति-देवताओं का अस्तित्व भय के आधार पर माना
जाता है, इसका संकेत पीछे किया गया है। आश्चर्य-भाव के सा
प्रकृति के देवताओं को प्रकृति के विभिन्न रूपों में प्रसरित देखा गया
क्योंकि इस युग में प्रत्यक्ष-बोध अधिक स्पष्ट होकर परप्रत्यक्ष
और कल्पना में साकार हो रहे थे। अनन्तर प्रकृति की उपादेयता
का अनुभव हो चुकने के बाद इन देवताओं के साथ प्रकृति और
मानव के सम्पर्क का भाव भी संबन्धित हो गया। अब प्रकृति की
शक्तियों का वर्णन देवताओं के रूप में तो होता ही था, साथ ही उनमें
उपादेयता का भाव भी सन्निहित हो गया। विकास के मार्ग में
जैसे जैसे सामाजिक तथा आत्म संबन्धी भावों का संयोग होता गया,
वैसे ही इन भावों की स्थापना प्रकृति के देवताओं के संबन्ध में भी हुई।
विचार के क्षेत्र में धर्म, दर्शन और तत्त्ववाद की ओर अग्रसर हुआ है,
परन्तु भावना के क्षेत्र में धर्म ने देवताओं को मानवीय आकार और भाव
प्रदान किए हैं। वैदिक देवताओं का रूप अग्नि, इन्द्र, उषा, वरुण
सूर्य आदि प्रकृति शक्तियों में समझा जाता था। परन्तु मध्ययु
के देवता मानव आकार, भाव और स्वभाव के प्रतीक माने गए। इ
देवताओं में भी एक प्रकार से प्रकृति का आधार रहा है। एक ओर
इनकी शक्तियों का प्रसार प्रकृति की व्यापक शक्तियों के समानान्तर रहा
है; दूसरे उनके स्थान और रूप के साथ भी प्रकृति संबन्धित रही है।
इसका कारण मध्ययुग की धार्मिक प्रवृत्ति का प्रकृति के प्रति सहज
जागरूक होना तो है ही; साथ ही इसमें कलात्मक और दार्शनिक
प्रकृतिवाद के समन्वय का रूप भी सन्निहित है। वैदिक कर्मकांड को
प्रकृति के अनुकरण का रूपात्मक स्वरूप

युग का कर्मकाण्ड सामाजिक है जिसमें पूजा की समस्त विधि आ जाती है।[८]

§१६—जिस प्रकार धार्मिक भाव न तो एक भाव है और न एक रूप में सदा पाया जाता है, उसी प्रकार सौन्दर्य भाव भी एक नहीं है और उसका विकास भी मानवीय मानस के साथ होता रहा है। यद्यपि इसमें विभिन्न भावों का समन्वय होता गया है फिर भी सौन्दर्य भाव के विकास की प्रत्येक स्थिति प्रकृति से संबन्धित है। मानव को प्रकृति के प्रत्यक्ष-बोधों में सुख दुःख की संवेदना प्राप्त हुई। उसने प्रकृति का क्रीड़ात्मक अनुकरण किया। वह अपने कलात्मक निर्माण में प्रकृति से बहुत कुछ सीखता है। उसके यौन संबन्धी रागात्मक भाव के लिए भी प्रकृति के रंग-रूप आदि प्रेरक रहे हैं, उनका उसके लिए विशेष आकर्षण इस भाव से संबन्धित रहा है और इन सब भावों का योग सौन्दर्य भाव के विकास में हुआ है। इनके अतिरिक्त अन्य सामाजिक तथा आत्म संबन्धी भावों का योग भी इसमें है। यह विकास केवल प्रत्यक्षों के आधार पर ही सम्भव नहीं हुआ है। इसमें कल्पना के आधार की पूर्ण स्वीकृति है। अगले प्रकरण में इस विषय की विवेचना विस्तार से की जायगी। यहाँ तो इतना समझ लेना ही पर्याप्त है कि सौन्दर्य भाव की स्थिति अत्यधिक विषम है। प्रकृति के सौन्दर्य-भाव में जो सहानुभूति तथा महत् आदि की भावना है वह सामाजिक और आत्म भाव से संबन्धित अनुभूतियों का प्रभाव है।

सौन्दर्य भाव

§१७—अभ्यन्तरित भावों के लिए समाज की एक निश्चित स्थिति आवश्यक है, साथ ही मानसिक विकास का भी उच्च स्तर वाञ्छनीय है। इन भावों के लिए क्रिया और कार्य की उद्देश्यात्मक गति स्वी-

---

८—इस विषय को द्वितीय भाग के 'आध्यात्मिक साधना में प्रकृति' नामक तृतीय प्रकरण में कुछ अधिक विस्तार दिया गया है।

कृत है। विशेष स्थिति में उद्देश्य को लक्ष्य करके भविष्योन्मुखी भावों की
अध्यन्तरित भ व प्रेरणा जाग्रत होती है। कदाचित् इसीलिए इन
भावों के रूप में स्वीकृत है। भावों में अधिकांश काव्य में संचारी या व्यभिचारी
इसी प्रकार के भाव हैं। आशा, विश्वास, चिन्ता, निराशा, आदि
के प्रति भावों की स्थिति अथवा इनके विपरीत अतीत के विषय में उद्देश्य
अनुताप आदि हैं। जाग्रत होती है। इन भावों में पश्चात्ताप
भी सीधा संबन्ध नहीं है। इस मानसिक चेतना के स्तर पर प्रकृति का कुछ
तथा परिस्थिति के रूप में परन्तु अन्य भावों के साथ प्रकृति वातावरण
कर सकती है। प्रकृति का इन अभ्यन्तरित भावों से भी संबन्ध उपस्थित
उत्पन्न कर सकती है। सम्पर्क किसी की स्मृति जगा कर चिन्ता म
नहीं है जितना स्मृति परन्तु यहाँ प्रकृति का सबन्ध चिन्ता से उतना
कारण प्रकृति ऐसे से सबन्धित शृङ्गार आदि भाव से। काव्य में इसी
संचारी भावों की स्थलों पर प्रमुख भाव की उद्दीपक मानी जाती है,
सम्भव हो सकता नहीं। एक दूसरी स्थिति भी है जिसमें यह संबन्ध
के प्रति सहानुभूति है। इन भावों की मनःस्थिति में हमारे मन में प्रकृति
वरन् प्रभाव के उत्पन्न हो जाती है। यह संबन्ध कारण के रूप में नहीं
काव्य के प्रकृति रूप में अपना महत्त्व-पूर्ण स्थान रखता है। विशेषतः
रखती है। रूपों में यह प्रभावशील सहानुभूति अधिक महत्त्व

× × ×

§१८—मानवीय भावों का विषय बड़ा ही दुर्बोध तथा कठिन है।
इसका कारण मानसिक वैचित्र्य और वैषम्य है, जो ऊपर की विवेचना
विवेचन को कठिन से स्पष्ट है। विभिन्न भाव एक दूसरे से प्रभावित
से इन भावों में और सम्मिश्रित होते गए हैं। साथ ही मानसिक विकास
दी है। ऐसी कल्पना तथा विचार आदि की प्रतिक्रिया भी चलती
अनेक स्थिति में इन भावों की विश्लेषणात्मक विवेचना करने
कठिनाइयों और जटिलताओं का सामना करना [illegible]

फिर भी विवेचना में इस बात का यथा सम्भव प्रयास किया गया है कि समस्त भावों की विकासोन्मुखी विषमता में प्रकृति का कारणात्मक संबन्ध कहाँ तक रहा है। इसके अतिरिक्त प्रकृति का इनसे किस सीमा तक संयोगात्मक संबन्ध है। यह संबन्ध कभी भावों के साथ सीधा ही उपस्थित होता है और कभी भाव के विषय के साथ वातावरण तथा परिस्थिति के संबन्धों में उपस्थित होता है। हमारे विवेचन से स्पष्ट है जहाँ तक भावों की स्थितियों से संबन्ध है, विकास के उच्च स्तर पर प्रकृति भावों के कारण-रूप में अधिक स्पष्टतः प्रभावशील नहीं है। परन्तु अन्य रूपों में प्रकृति का संयोग अभिव्यक्त होता है। समष्टि रूप से सौन्दर्य भाव को स्वीकार कर लेने पर वह उसके लिए प्रभावात्मक अभिव्यक्ति का कार्य करती है और अगले प्रकरण में हम देखेंगे कि प्रकृति सबन्धी समस्त भावात्मकता की अभिव्यक्ति का मूल भी इसी सौन्दर्यानुभूति में है।

चतुर्थ प्रकरण

सौन्दर्यानुभूति और प्रकृति

§१—सौन्दर्य को समझने में हमको कोई कठिनाई नहीं होती।
कहते हैं सुन्दर वस्तु, सुन्दर चरित्र, सुन्दर सिद्धान्त और सम
सौन्दर्य का प्रश्न भी जाते हैं। एक रूप की दृष्टि से सुन्दर है
दूसरे में शिव के अर्थ की व्यंजना है और तीसरे
में सत्य को ही सुन्दर कहा गया है। इस प्रकार यहाँ 'सुन्दर' शब्द
का प्रयोग व्यापक है, जो कलात्मक सौन्दर्य के रूप में ही प्रयुक्त है
पर जन समाज की भाषा में अलग अलग संकेत देता है। जितनी
सरलता से हम यह सब समझ लेते हैं, वस्तुतः सौन्दर्य की
विवेचना उतनी सरल नहीं है। पिछले प्रकरण में सौन्दर्य भाव की
विषमता के बारे में संकेत किया गया है। इस भाव के विकास में
प्रत्यक्ष, कल्पना तथा भावों की प्रतिक्रिया की एक विषम मानसिक
स्थिति सन्निहित है। इसी कारण प्राच्य तथा पाश्चात्य विभिन्न

शास्त्रियों ने सौन्दर्यानुभूति के विषय को अपनी अपनी दृष्टि से देखने का प्रयास किया है। काव्य और कला के क्षेत्र में सौन्दर्य की विवेचना करते समय इन्होंने कभी इसको अनुभूति, कभी अभिव्यक्ति और कभी प्रभावशीलता माना है। किसी किसी विद्वान ने तो सौन्दर्य को वस्तु के गुणों के रूप में मान कर विवेचना करने का प्रयास किया है। काव्य और कला में सौन्दर्य-सर्जन अनुभूति और अभिव्यक्ति के साम अस्य म उपकरणों के आत्म-तादात्म्य द्वारा होता है। इसकी विवेचना अगले प्रकरण में की जायगी। प्रस्तुत विषय प्रकृति के सौन्दर्य विस्तार पर विचार करना है। वस्तुतः सौन्दर्य संबन्धी विवेचनाओं में इस विषय को अनेक प्रकार से उपस्थित किया गया है। एक सीमा तक प्रकृति के सौन्दर्य संबन्धी विचार से इनके सौन्दर्यानुभूति विषयक सिद्धान्त प्रभावित हैं। इस कारण प्रकृति-सौन्दर्य की रूप-रेखा प्रस्तुत करने के पूर्व, विभिन्न सौन्दर्यानुभूति के सिद्धान्तों में अन्तर्गत प्रकृति-सौन्दर्य का विचार कर लेना आवश्यक है। हम देखते हैं कि प्रकृति के सौन्दर्य की पूरी रूप-रेखा उपस्थित करने में विभिन्न मतों के समन्वय अन्तिम निर्णय तक पहुँचा जा सकेगा। इन विभिन्न मतों में प्रस्तुत विषय को जिस एकांगी ढङ्ग से देखा गया है, वह मानसिक स्थिति को एक विशेष सीमा में घेर कर देखने का प्रयास मात्र है। आगे इस पर विस्तार से विचार करने से विदित होता है कि सौन्दर्य की रूप-रेखा में ये सभी कुछ न कुछ सत्य का ही योग प्रदान करते हैं। इन सिद्धान्तों की अपूर्णता का कारण विचारकों का अपना सीमित क्षेत्र और संकुचित दृष्टिकोण है। मानस के विकास अथवा विषम विस्तार में जिस प्रकृति-सौन्दर्य पर हम यहाँ विचार कर रहे हैं, वह कितनी ही प्रवृत्तियों तथा स्थितियों का समवाय है। इस कारण सत्य तक पहुँचने के लिए हमको मानव-शास्त्र, मानस-शास्त्र तथा शरीर-विज्ञान का सहारा लेना है। यहाँ एक बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है। भारतीय विद्वानों ने सौन्दर्य-

शास्त्र के रूप में सौन्दर्य की विवेचना नहीं की है। उन्होंने अलंकार,
रस आदि काव्य संबंधी विवेचनाओं तथा कला सम्बन्धी उल्लेखों में
सौन्दर्य का निरूपण अवश्य किया है। इस कारण उनके इन्हीं संकेतों
का उपयोग हम अपनी विवेचना में कर सकेंगे।

८—पिछले प्रकरणों में मानव और प्रकृति के संबन्ध की जो
स्थिति हमारा उपस्थित की गई है, वह एक प्रकार से प्रकृति की
रूप और भाव पर सौन्दर्यानुभूति के लिए आधार भी प्रस्तुत करती
है। प्रथम प्रकरण में विचार किया गया है कि
सहज बोध की दृष्टि से प्रकृति और मन को मानकर ही चला
जा सकता है नहीं तो साधारण जीवन और दर्शन के व्याव-
हारिक क्षेत्र में बहुत कुछ सीमित एकांगीपन आने का भय है। यही
दृष्टि प्रकृति का मानस की प्रतिक्रिया के माध्यम से रूपात्मक और
भावात्मक भी स्वीकार कर लेती है और प्रस्तुत प्रकरण की विवेचना
में हम आगे चलकर देखेंगे कि प्रकृति-सौन्दर्य में भी रूप और भाव द
पक्षों को स्वीकार करना पड़ता है। दूसरे प्रकरण में देखा गया है कि
मानवीय मानस के विकास में उसकी चेतना के समानान्तर प्रवाहित
प्रकृति ने योग प्रदान किया है। प्रकृति की चेतना के प्रश्न में
मानव की अपनी दृष्टि ही प्रधान है, क्योंकि स्व (आत्म) चेतना
उसी में है। प्रकृति के सौन्दर्य के प्रश्न में भी इस चेतना के
साथ ही मानव की प्रधानता का भी महत्त्व है। प्रकृति सौन्दर्य
की अनुभूति के साथ मानव की मानसिक चेतना स्वीकृति है।
पिछले प्रकरण में मानवीय भावों के विकास के साथ प्रकृति का
संबन्ध समझने का प्रयास किया गया है। हम देख चुके हैं कि भावों
के विभिन्न स्तरों से प्रकृति का सीधा तथा अध्यान्तरित दोनों प्रकार का
संबन्ध है। सौन्दर्य-भाव के विषम रूप में प्रकृति का संबन्ध भी अधिक
जटिल है। इस कारण प्रकृति के सौन्दर्य में भी यही जटिलता विद्यमान
है। इस आधार-भूमि के साथ ही पीछे जिन विभिन्न ...

मानस-शास्त्रीय मतवादों को प्रस्तुत किया है, वस्तुतः इनका प्रभाव सौन्दर्य-शास्त्र के विवेचकों पर पड़ा है। इस कारण पिछले मतवादों के आधार पर सौन्दर्य-शास्त्र के विभिन्न सिद्धांत भी उन्हीं के समान पूर्ण स्तर की व्याख्या नहीं कर सके हैं। परन्तु हमारी विवेचना में इनको सामञ्जस्य पूर्ण समुचित स्थान देने का प्रयास किया जायगा।

सौन्दर्य संबन्धी विभिन्न मत

§३—पहले ही कहा गया है भारतीय शास्त्रियों ने सौंदर्य की व्याख्या अलग नहीं की है। अगले प्रकरण में काव्य की रूप संबन्धी विवेचना में तत्संबन्धी सौन्दर्य की रूप रेखा भी आ जायगी। यहाँ काव्य और कला संबन्धी उनकी व्यापक सौन्दर्यभावना का उल्लेख किया जा सकता है। भारतीय दृष्टि से कलाकार की मनःस्थिति भावों के निम्न-स्तर से उठकर आदर्श कल्पना की ओर बढ़ती है। इस मनोयोग की स्थिति में सौन्दर्य भाव आकल्पित होते हैं।[1] कलाकार के इस 'आत्मध्यायत्' से 'आत्मभावना' रूप में यह स्पष्ट हो जाता है कि कलाकार के मानसिक पक्ष का जहाँ तक संबन्ध है भारतीय दृष्टि से सौन्दर्य बाह्य अनुभव पर उतना निर्भर नहीं जितना आंतरिक समाधि पर। कलाकार के मानसिक पक्ष में अनुभूति जब अभिव्यक्ति का रूप ग्रहण करती है, उस स्तर पर भारतीय काव्य और कला में व्यंगार्थ ध्वनि कलाकार के मानसिक सौन्दर्य पक्ष को ही उपस्थित करती है। वक्रोक्ति के लोकोत्तर चमत्कार और अलंकार की सादृश्य भावना से भी यही बात स्पष्ट होती है। वस्तुतः इस दृष्टि से प्रकृति में सौन्दर्य अपना नहीं है, वह

भारतीय सिद्धान्तों में

---

१ इस विषय में कुमार स्वामी की पुस्तक 'ट्रान्सफार्मेशन ऑव नेचर' द्रष्टव्य है। साथ ही लेखक के 'संस्कृत काव्य-शास्त्र में प्रकृति' नामक निबन्ध में भी इस की विवेचना की गई है ('हिन्दुस्तानी' जुलाई-अक्टूबर सन् १९४७ ई०)

कलात्मक कल्पना का परिणाम मात्र है। प्रारम्भिक आलंकारिकों ने सत्ताओं के आधार पर अलंकार को काव्य की परिभाषा स्वीकार किया था। उसमें उपमानों के रूप में जो आदर्श की भावना है उससे सिद्ध होता है कि काव्य सौन्दर्य अनुकरण नहीं, वरन मन प्रकृति, विशे-षित तथा भाव रूप की एकाकारता है। ऐन्द्रिक तत्त्ववादी इसे वस्तु की उस स्थिति को कहते हैं जिसमें विभिन्न मानसियाँ एकाकार हो जाती हैं। आगे हम पाश्चात्य विद्वानों के समन्वित मत में इसी एकाकारता का भाव देखेंगे। अलंकार की यह आदर्श भावना सौन्दर्य का रूप नहीं और न आदर्श ही है, वरन यह तो इन्द्रिय वेदनाओं के साथ मानसिक उच्च स्तरों का समन्वित गुण है। भारतीय रस सिद्धांत सौन्दर्य सम्बन्धी प्रभावात्मक सिद्धांतों के समान है, उसमें भी विकास की कई स्थितियाँ रही हैं। पिछले आचार्यों ने रसनिष्पत्ति को केवल आरोप तथा अनुभाव के द्वारा साधारण भाव स्थिति के सामने स्वीकार किया था। अनन्तर भोगवाद तथा व्यक्तिवाद के रूप में काव्य सौन्दर्य में निर्भरानन्द की विशेष भाव स्थिति की कल्पना की गई।[2] अन्त में काव्यानन्द की मधुमती भूमिका की कल्पना में सौन्दर्य की उस स्थिति की ओर संकेत है जिसमें समस्त भावों का सामञ्जस्य होकर दैविश्र की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। हम देख सकेंगे कि यह सिद्धान्त पाश्चात्य सुखानुभूति के सिद्धान्त के कितने समानान्तर है। इस प्रकार भारतीय आचार्यों ने विभिन्न प्रकार से सौन्दर्य की कल्पना की है। परन्तु यहाँ एक बात महत्त्वपूर्ण यह है कि इनकी सौन्दर्य संबन्धी विवेचनाएँ प्रकृति सौन्दर्य के आधार पर न होकर काव्य के संबन्ध में है। इस प्रकार इस सौन्दर्य की भावना में प्रकृति से अधिक मानवीय संस्कार हैं। प्रकृति के सौन्दर्य के विषय में यह उपेक्षा

---

२ इस सिद्धान्त में भट्टलोल्लट का आरोपवाद, श्रीशंकुक का अनुमानवाद, भट्टनायक का भोगवाद और अभिनवगुप्त का व्यक्तिवाद प्रसिद्ध है।

भारतवर्ष की व्यापक प्रवृत्ति है। इस विषय में अगले भाग में विशेष विचार करने का अवसर मिल सकेगा।

§४—पाश्चात्य विद्वानों ने सौन्दर्य की व्याख्या करते समय साधारण दृष्टि से वस्तु-परक और मनस्-परक दो पक्ष सामने रखे हैं।

पाश्चात्य सिद्धान्तों की स्थिति

वस्तुतः सौन्दर्य वस्तु और भाव दोनों से संबन्धित और उनका समन्वित रूप है। लाइबनित्ज़ के शब्दों में सौन्दर्य प्रदर्शनात्मक समन्वय है, जो इन दोनों के समान रूप से संबन्धित है और एक की सहायता से दूसरा समझा जा सकता है। वस्तुतः सौन्दर्य मानसिक और विषय संबन्धी दोनों पक्षों को स्वीकार करते हुए, वस्तुओं के रूप और गुण को निर्भर तथा सामञ्जस्यपूर्ण गम्भीर कल्पना कहा जा सकता है।[३] अन्य बहुत से मतवादियों ने एकान्तवादी तत्त्वादियों की भाँति अपनी विवेचना में एक अंश को अधिक महत्त्व देकर अन्य अंशों की उपेक्षा की है। परन्तु यहाँ यह कहने का अर्थ नहीं है कि इन मतवादियों के सामने सत्य का रूप नहीं था। उनके सामने सत्य का रूप अवश्य था, लेकिन उन्होंने अपने सिद्धान्त की व्याख्या में अन्य भागों को सम्मिलित कर लेने का प्रयास किया है। समन्वय की दृष्टि से यह ठीक हो सकता है। परन्तु जब किसी दृष्टिकोण को अधिक महत्त्व देकर व्याख्या की जायगी तो वह भ्रामक हो सकती है। यहाँ हम संक्षेप में विभिन्न मतों की विवेचना इस दृष्टि से करेंगे कि किस सीमा तक उनमें सत्य का अंश है; और इन सब का समन्वय किस प्रकार किया जा सकता है।

§५—अनेक सौन्दर्य-शास्त्री विषयि के मनस्-परक पक्ष को सौन्दर्य की विवेचना में प्रमुखता देकर भी आपस में मत भेद रखते हैं।

अभिव्यक्तिवाद

किसी ने स्वानुभूति पर अधिक ज़ोर दिया है, किसी ने अभिव्यक्ति का आश्रय लिया है और

---

३ अर्ल ऑफ लिस्टोवल ने भी विभिन्न सिद्धान्तों की विवेचना के पश्चात्

भिव्यक्ति विषयक जो मूल भ्रम सन्निहित है; इनसे संबन्धित सौन्दर्य
स्त्र के विभिन्न सिद्धान्तों के रूप में दो प्रमुख विचार धाराएँ सामने
ती हैं।

क—मानस-शास्त्र के आधार पर स्नायुभूति से निकट संबन्धी
ानुभूति का मत है। इसके मूल में शरीर-शास्त्री-सौन्दर्य के आचार्यों
द्वारा प्रतिपादित समानुपात से स्नायु-प्रेरणा के
साथ सुखात्मक प्रभावशीलता है। इनके अनुसार
दर्य-बोध में हमारे स्नायु-तन्तुओं के कम से कम शक्ति व्यय से
क से अधिक प्रेरणा प्राप्त होती है। इस संवेदन क्रिया में
पना केवल इतनी है कि यह हमारे शरीर की शक्ति संचलन
ा से सीधे अर्थों में संबन्धित नहीं है। परन्तु यह इस विचार
के मतों की वह सीमा है जहाँ हमारी कला और सौन्दर्य संबन्धी
तयों अपने नग्न रूप में दिखाई देती हैं। एच० आर० मार्शल ने
शरीर-विज्ञान के आधार पर मानस-शास्त्रीय दृष्टि को अधिक
क रूप प्रदान किया है। इनके मत में सुखानुभूति को इन्द्रिय
से प्रत्यक्षबोध के आधार पर उच्च मानसिक स्थिति संबन्धित
गया है। यह अनुभूति सुख-दुःख की सम-स्थिति पर इन्द्रिय
नाओं की प्रभावात्मक सुखमय प्रतिक्रिया का कलात्मक आनन्द
।[१] इसमें भी एक भ्रम सन्निहित है। यह सत्य है कि मानव
भावशील इन्द्रिय-वेदनाएँ कला के मूल में सन्निहित हैं। पीछे
गया है कि रंग और ध्वनि के प्रभावों की सुखात्मक संवेदना के
चित्रकला तथा संगीत का विकास सम्भव नहीं था। पर
क सौन्दर्य में अन्य कितने भावों का संयोग, तथा उसमें इस
वेदना का रूप इतनी दूर का हो जाता है कि उसकी अभिव्यक्ति

स्नायुभूति

एच० आर० मार्शल की '९' ... 'दि ब्यूटी फुल' नामक
से।

में प्रभावशीलता का प्रारम्भिक मूल रूप नहीं रह जाता। चित्रकला में केवल रंगों की गुणात्मक संवेदना प्रकृति के गहरे और विभिन्न रंगों की अनुभूति की समता नहीं कर सकती। इसी सिद्धान्त व्याख्या, सन्तायन सौन्दर्य को स्पष्ट करने के लिए मानसिक उच्च स्तर पर करते हैं। वे अभिव्यक्त सौन्दर्य के लिए वस्तु-रूप प्रकृति की संवेदनात्मक शक्ति के साथ प्रत्यक्षों का क्रमिक सामञ्जस्यपूर्ण संबन्ध तथा अन्य पिछले अनुभवों का संयोग आवश्यक मानते हैं।[७] इस व्याख्या में विषय-पक्ष में मानस और विषय रूप प्रकृति का सामञ्जस्य किया गया है और साथ ही पिछले अनुभवों के रूप में मानसिक विकास को भी स्वीकार किया गया है। परन्तु इस सिद्धान्त का आधार इन्द्रिय वेदना की सुखानुभूति है, इस कारण वह सत्य की पूरी व्याख्या नहीं उपस्थित कर सका है।

क्रीड़ात्मक अनुकरण

ख—अभिव्यक्ति को प्रधानता देने वाली दूसरी विचार-धारा में क्रीड़ात्मक अनुकरण का भाव मूल रूप से सन्निहित है। जिस सिद्धान्त की अभी व्याख्या की गई है, और प्रस्तुत सिद्धान्त में मानसिक स्तरों की विकासोन्मुखी क्रमिक परम्परा को अपनाने में आश्चर्यजनक साम्य है। कार्ल ग्रास ने इस क्रीड़ात्मक अनुकरण को कलात्मक अभिव्यक्ति की निकटता में एक रूप माना है, केवल कलात्मक अभिव्यक्ति ज्ञान इन्द्रियों से सबन्धित है।[८] अभिव्यक्ति सौन्दर्य्य के इस निर्भरानन्द को स्पेन्सर कला सौन्दर्य के साथ संचित शक्ति-प्रवाह के रूप में प्रत्यक्ष-बोध तथा परप्रत्ययों से भी संबन्धित करते हैं। कांत की कल्पनात्मक 'स्वतंत्र-क्रीड़ा' में स्वानुभूति तथा बोध का समन्वय है। इसमें सौन्दर्य की अभिव्यक्ति क्रीड़ात्मक अनुकरण से अधिक मानसिक सत्य के रूप में स्वीकृत है।

---

७ सी० रुस्टन की 'दि सेंस ऑव ब्यूटी' से।

८ 'दि प्ले ऑव मैन' के परिशिष्ट, स्टैण्ड ग्रान्ट से (पृ० ३९१)

कांत ने इसको मानस शास्त्र के क्षेत्र से दार्शनिक स्वरूप प्रदान किया है। शिलर का कथन है कि कलात्मक सौन्दर्य इन्द्रिय और आध्यात्मिक लोकों का समन्वय है जिससे कर्त्तव्य, विचार तथा सुख-दुःख आदि निनान्त भिन्न हैं। एक प्रकार से इस कथन का संकेत भाव और रूप के समन्वय की ओर है। इन मतों की व्याख्या में व्यापकता इतनी अधिक है कि इसमें सत्य का कोई भी स्वरूप उपस्थित किया जा सकता है। परन्तु एकांगी आधार के कारण सत्य का क्रमिक और स्पष्ट रूप नहीं आ सका है।

§ ६—प्रतिभास सिद्धान्त के अनुसार वस्तु तत्त्वतः तो सुन्दर नहीं है, परन्तु उसके प्रतिभासित सौन्दर्य के लिए तत्त्व आवश्यक शर्त है।

प्रतिभास और अन्तःसहानुभूति

इन वस्तुओं के निर्माण में सौन्दर्य स्थित है जिसको प्रतिभासित रूप कहा जा सकता है और जिसका आधार वस्तु के विशेष गुण हैं। वस्तु के इन गुणों में मानवीय मानस प्रसरित रहता है और इस प्रकार वस्तु के साथ भाव का समन्वय हो जाता है जो उसकी छाया में ही सन्निहित है। भाव और वस्तु का यह छायातप स्वतः समान रूप से होता है।[१] छाया-प्रसार में चेतन-भाव के अधिक व्यापक प्रसार और विकास के साथ हमको सौन्दर्य के विषय में अन्तःसहानुभूति का सिद्धान्त मिलता है। ऊपर के उल्लिखित सौन्दर्य संबन्धी मत तत्त्ववादी पृष्ठभूमि पर ही विकसित हुए हैं और आश्रित हैं। इनमें अपनी अपनी दृष्टि के अनुसार मानस और सर्जन की व्याख्या करने वाले तत्त्ववादियों का आधार है। सौन्दर्य संबन्धी अन्तःसहानुभूति सिद्धान्त के आधार में सर्वचेतनवादी आधार है जिससे आगे चल कर सौन्दर्य का स्वच्छन्दवादी मत विकसित हुआ है। समस्त वनस्पति का

---

१ वान हार्टमेन और शिलर का मत (दि क्रिटिकल हिस्ट्री ऑव माडर्न एस्थिटिक्स से)

दृश्यात्मक सौन्दर्य मानव की ही विकसित पूर्ण चेतना का रूप है। उसी के आह्लाद की मुस्कान फूलों में बिखर पड़ती है, उसी के यौवन का उल्लास वृक्षों की उन्नत आकाश में प्रसरित शाखाओं के साथ अपनी उठान का अनुभव करता है। केवल चेतन में ही नहीं वरन जड़ जगत् में भी मानव अपने व्यंजनात्मक भावों का आरोप करता है। अन्य सिद्धान्तों में हम देख चुके हैं कि केवल प्रभावात्मक भाव-सौन्दर्य के आधार पर ही सौन्दर्य की व्यापकता को समझने का प्रयास किया गया है। परन्तु इस अन्तःसहानुभूति के सिद्धान्त के अनुसार सौन्दर्य में साहचर्य भावना का रूप है।

साहचर्य भावना और रति भाव

क—सौन्दर्य की इस साहचर्य भावना में स्वच्छंद युग की प्रकृति से तादात्म्य स्थापित करनेवाली उन्मुक्त भावना का अधिक सामन्जस्य है। स्वच्छन्दवादी कवि (काव्य में) प्रकृति की कल्पनात्मक अभिव्यक्ति के लिए व्यापक और उन्मुक्त वातावरण उपस्थित करता है। यह एक सीमा तक व्यक्तित्व और आचरण के लिए सहायक होता है।[१०] स्वानुभूति के माध्यम से जो व्यंजनात्मक कला सर्जन किया जाता है, उसके लिए मानव-जीवन के प्रत्येक रूप से संबन्धित सहानुभूति आवश्यक तथा निश्चित है। इसी सहानुभूति से संबन्धित साहचर्य भाव की व्याख्या में यौन संबन्धी भाव भी आ जाता है। फ्रायड ने मनोविश्लेषण के आधार पर समस्त कलात्मक अभिव्यक्ति तथा सौन्दर्य भावना में यौन-भाव की अन्तर्निहित प्रवृत्ति मानी है। इस रति-भाव का संघर्ष युगों से चली आने वाली संस्कृति में धर्म आचार तथा सामाजिक भावों से होता रहा है। इस प्रकार यह भाव चेतना के गूढ़ स्तरों में अन्तर्निहित हो गया है। इन्हीं विषम भाव-ग्रन्थियों की अभिव्यक्ति काव्य और कला में सौन्दर्य का सर्जन करती है।

---

१० देखो [illegible] के पृष्ठ ९९।

इतिहास में महान सांस्कृतिक जातियों का विकास यौन विषयक प्रेरणा से, इस भाव को संयमित करने से हुआ है। इस प्रेरणा और उसके संयम में विरोधी भावना कार्यशील रही है और इन्हीं दोनों छोरों के बीच में मानव-जाति का सभ्यता संबन्धी विचार निर्धारित होता रहा है। दर्शन और धर्म के साथ कला इसी प्रक्रिया की अभिव्यक्ति है। सौन्दर्य संबन्धी इस मत में सत्य अवश्य है। परन्तु जैसा तृतीय प्रकरण में कहा गया है, यौन संबन्धी भाव के विकास में अपना महत्त्वपूर्ण योग रखते हैं। पर इस प्रकार इसको इस सीमा तक महत्त्व देना अतिव्याप्ति कही जायगी।

§ ७—इन सिद्धान्तों के अतिरिक्त कुछ में मानस शास्त्र के आधार पर सौन्दर्य की भाव स्थिति का केवल विश्लेषण किया गया है, और कुछ में प्रयोगात्मक रीति पर सौन्दर्य संबन्धी नियम निश्चित किए गए हैं। घटना स्थितिवादियों ने प्रत्यक्ष तथा परप्रयत्न आदि के रूप में सौन्दर्य के रूपात्मक भेद किए हैं। परन्तु प्रयोगवादियों ने मानस-शास्त्र के संयोग विरोध आदि नियमों के आधार पर सौन्दर्य की व्याख्या की है। परन्तु यह व्याख्या सौन्दर्य न कही जाकर सौन्दर्य के आधार-भूत मानस-शास्त्र के नियम कहे जायँगे। इनसे केवल एक सहायता ली जा सकती है। प्रकृति संबन्धी सौन्दर्य-भाव में इन नियमों को ढूँढा जा सकता है; या इन नियमों से सौन्दर्य की कुछ कल्पना की जा सकती है। दूसरे कुछ सिद्धान्तों में प्रकृति के रूप-गुणों के सहारे सौन्दर्य को समझने का प्रयास किया जाता है। इनके अनुसार सौन्दर्य की विवेचना के लिए प्रकृति के गुणों, आकार-प्रकार, रंग रूप, नाद ध्वनि, गंध-स्पर्श आदि पर विचार करना पर्याप्त है। रस्किन प्रकृति के इन्हीं वस्तु-गुणों को कला में अनुकरण करने को कहते हैं। परन्तु इससे भी सौन्दर्य की व्याख्या न होकर केवल उपकरणों की विवेचना होती है। इस मत के विषय में महत्त्वपूर्ण बात यही है कि कला में

रूप तथा नियमन

प्रकृति के उपकरणों का ही आश्रय अभिव्यक्ति के साधन के रूप में लिया गया है। इस प्रकार इससे यह संकेत मिलता है कि प्रकृति और काव्य के सौन्दर्य में समता होनी सम्भव है।

प्रकृति और कला में सौन्दर्य

^{८}८—सौन्दर्य की भावना मनस्-परक है और प्रकृति का सौन्दर्य हमारी कलात्मक दृष्टि का परिणाम है। प्रकृति को लेकर किसी विशेष

पल.स्मक ह.९ दृष्टि के बिना किसी भी प्रकार की सौन्दर्य-कल्पना नहीं की जा सकती। इस विषय में लगभग सभी विद्वान एकमत हैं। यदि किसी का मत इसके विरुद्ध लगता भी है, तो उसका कारण उनका सौन्दर्य संबन्धी अपना मत है। इसको इस प्रकार कहा जा सकता है कि वे प्रकृति की सौन्दर्य भावना को इस प्रकार निरूपित करते हैं, जैसी उनको सौन्दर्य की व्याख्या करनी होती है। इसका परिचय बाद में मिल सकेगा; अभी तो हम यही स्वीकार करते हैं कि प्रकृति की सौन्दर्यानुभूति के लिए काव्यात्मक (कलात्मक) दृष्टि आवश्यक है। क्रोचे के अनुसार—प्रकृति उसी व्यक्ति के लिए सुन्दर है जो उसे कलाकार की दृष्टि से देखता है।......प्रकृति कला की समता में मूर्ख है और मानव उसे जब तक वाणी नहीं देता वह मूक है।[११] इसी को एस० अलेक्जेन्डर भी मानते हैं। उनके मत से प्रकृति तभी सुन्दर लगती है, जब हम उसे कलाकार की दृष्टि से देखते हैं और एक सीमा तक हम सभी कलाकार हैं।[१२] हममें छिपा हुआ जो कलाकार है, वही प्रकृति को सौन्दर्य दान देता है। वस्तुतः जब हमारे सामने प्रकृति होती है, उस समय प्रकृति का सारा विस्तार सौन्दर्य के रूप में नहीं रहता। प्रत्येक

---

११ 'एस्थेटिक' पृ० ९९ तथा 'ब्रीविअरी ऑव एस्थेटिक' पृ० [illegible]

१२ [illegible] ('ब्रिटिश जर्नल ऑव एस्थेटिक्स' [illegible])

दृश्य को सौन्दर्य की रूप-रेखा में बाँधने के लिए चयन करना पड़ता है। प्रकृति स्वयं में सुन्दर नहीं है, वरन हम प्रकृति के व्यापक विस्तार से चयन करके विभिन्न संयोग से सौन्दर्य का चित्र पूरा करते हैं। यह ऐसे ही होता है जैसे कलाकार अपने रंगों के संयोग द्वारा सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करता है।[१३] परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि साधारण व्यक्ति प्रकृति के सौन्दर्य को देखता ही नहीं। वस्तुतः जिसको हम कलाकार कहते हैं उसमें और साधारण व्यक्ति में प्रकृति की सौन्दर्यानुभूति के विषय में केवल मात्रा का अन्तर होता है। दोनों ही अपने लिए सौन्दर्य का सर्जन करते हैं। केवल कलाकार में व्यापक और प्रत्यक्ष ग्रहण करने की शक्ति होने के कारण उसमें अभिव्यक्ति की प्रेरणा शक्ति भी होती है। कलाकार जिस दृश्य को देखता है, उसके प्रत्यक्ष या परप्रत्यक्ष की प्रेरणा अभिव्यक्ति के रूप में प्रतिकृत होती है।[१४]

क—परन्तु ऊपर की प्रकृति सौन्दर्य सम्बन्धी दृष्टि अधिक व्यापक सीमा को स्पर्श करती है। साधारण व्यक्ति भी प्रकृति-सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट होता है और इसका कारण भी साधारण मानस-शास्त्र में होना चाहिए। यहाँ इस बात का संकेत कर देना आवश्यक है। जैसा हम पिछले

मानसिक स्तरों का भेद

प्रकरण की विवेचना में देख चुके हैं, सौन्दर्य केवल प्रत्यक्ष-बोध से संबन्धित सुखानुभूति नहीं है। साधारण व्यक्ति के प्रकृति सौन्दर्य संबन्धी आकर्षण में इस प्रकार के इन्द्रिय संवेदना और प्रत्यक्ष-बोध के विभिन्न मानसिक स्तर हो सकते हैं। परन्तु इसको सौन्दर्यानुभूति की समष्टि या समवाय नहीं माना जा सकता। ई० एम० बर्टलेट के मतानुसार—'प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति को सुन्दर कलाकार के

---

१३ 'दि सेंस ऑव ब्यूटी' से (पृ० १३३)

१४ ई० एम० बैटलेट की 'दि थियरी ऑव ब्यूटी,' पृ० ३९

समान नहीं बना देता, जैसा कलाकार कला को बनाता है। साधारण व्यक्ति तो प्रकृति के गुणों को सुन्दर तथा असुन्दर दोनों ही प्रकार से देख सकता है।'[१५] इससे भी यह स्पष्ट है कि प्रकृति सौन्दर्य के लिए कल्पनात्मक मानसिक स्तर होना चाहिए। साधारण जन तो केवल अपनी मानसिक विकास की स्थिति तक प्रकृति के सौन्दर्य का अनुभव कर सकता है। परन्तु प्रकृति के सम्पर्क से जो अन्य प्रकार का आकर्षण या सुख प्राप्त होता है, उसको सौन्दर्य की कल्पनात्मक श्रेणी का आनन्द नहीं कह सकते। संवेदनात्मक सुखानुभूति और कल्पनात्मक सौन्दर्य्य का आनन्द भिन्न है। साधारण स्थिति में व्यक्ति किसी वस्तु के प्रत्यक्ष की संवेदना प्राप्त करता है जो सुखकर हो सकती है। परन्तु वही व्यक्ति जब वस्तु के सौन्दर्य की ओर आकर्षित होता है, तब वह वस्तु के वास्तविक प्रत्यक्ष के अर्थ से अधिक महत्त्वपूर्ण अर्थ में वस्तु का कल्पनात्मक बोध प्राप्त करता है और इसी स्थिति से कलात्मक आनन्द भी संबन्धित है; केवल उसमें यह स्थिति अधिक व्यक्त और परिष्कृत रहती है। प्रकृति के सौन्दर्य के सम्बन्ध में विद्वानों का मत-भेद उनकी सौन्दर्य्य विषयक व्याख्या के अनुसार ही है। हम पीछे कह चुके हैं कि सौन्दर्य-भाव हमारे ज्ञानात्मक तथा भावात्मक विकास से संबन्धित रहा है और प्रकृति का सौन्दर्य अन्यथा कुछ नहीं केवल हमारे अन्दर के सौन्दर्य भाव का प्रकृति पर प्रसरण है।

प्रकृति का सौन्दर्य

§६—अभी तक प्रकृति के सौन्दर्य की व्यापक सामञ्जस्यपूर्ण बात कही गई है; अब उसके विभिन्न पक्षों की विवेचना अलग अलग

---

१५ 'टाइप्स ऑव एस्थेटिक जजमेंट'; 'नेचुरल ब्यूटी'...

करती है। इस विवेचना में प्रकृति के सौन्दर्य का क्रमिक और स्पष्ट रूप हमारे सामने उपस्थित हो सकेगा। अभी हम कह चुके हैं कि प्रकृति सौन्दर्य का रूप और भाव एक सीमा तक हमारी कलात्मक दृष्टि का फल है और साथ ही कुछ अंशों में हम सभी में कलाकार की प्रवृत्ति रहती है। लेकिन प्रकृति सुन्दर के अतिरिक्त भी कुछ है। वह भयानक है, भयभीत करती है और कभी वीभत्स भी लगती है परन्तु सौन्दर्य में ये सभी विभिन्न भाव आत्मसात् हो जाते हैं। पिछले प्रकरण में कहा गया है कि भावों के विकास के विभिन्न स्तरों से प्रकृति का क्या संबन्ध रहा है। यहाँ पर जिस प्रकार का प्रकृति सौन्दर्य आज हमारे सामने है उसको मूल प्रवृत्तियों के आधार पर विभाजित करना है। प्रकृति के सौन्दर्य के विषय में हमारी भावुकता प्रधान लग सकती है; परन्तु उसके रूप पक्ष की उपेक्षा नहीं की जा सकती। जिस प्रकार हमको प्रकृति के भाव और रूप पक्षों को स्वीकार करना पड़ा था; उसी प्रकार सौन्दर्य की व्याख्या करते समय भी इन दोनों पक्षों को स्वीकार करना है। प्रकृति का रूप उसके सौन्दर्य का आधार है, यद्यपि जैसा हम प्रथम प्रकरण में कह चुके हैं इस रूप के लिए मानवीय मानस की स्वीकृति आवश्यक है। फिर भी इस रूप में प्रकृति का अपना योग मान्य है। इस रूप के आधार पर भाव क्रियाशील होता है और अपने संचयन में सौन्दर्य की अनुभूति प्राप्त करता है। लेकिन हम तीसरे प्रकरण में देख चुके हैं कि हमारे भावों के विकास में प्रकृति का योग महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकार प्रकृति की सौन्दर्यानुभूति में भाव और रूप की विचित्र स्थिति उत्पन्न हो जाती है जिसमें यह कहना असंभव हो जाता है कि कौन प्रधान है। वस्तुतः भाव और रूप का यह वैचित्र्य सौन्दर्य है।

दोनों पक्षों की स्वीकृति

§१०—प्रकृति के भावात्मक सौन्दर्य में हम अपनी विवेचना की सुगमता के लिए विषय का मनस्-परक पक्ष ले सकते हैं। इसमें भ

एक प्रभावशील भावना है जो समष्टि रूप से इन्द्रियों के विभिन्न गुणों की संवेदनात्मकता पर आधारित है और रूप-पक्ष में वस्तुओं के गुणों पर निर्भर है। इसकी तुला-

भाव-पक्ष
संवेदनात्मकता

[illegible]नुभूति इन्द्रिय वेदनाओं में प्रत्यक्ष-बोध और कल्पना के रूपों की संवेदना से संबन्धित है। परन्तु सौन्दर्य में इनका योग निरति की भाव-स्थिति पर सम्भव है। सभ्यता के इस युग में भी पार्कों में दूर्वा और उस पर क्यारियों में सजे हुए गहरे रंग के फूल हमारी इसी सौन्दर्य भावना के साक्षी हैं। इसी आधार पर कुछ सिद्धान्तवादियों ने सौन्दर्य का मापदंड इसी प्रभावात्मकता को माना है। परन्तु यदि ऐसा होता तो प्रकृति के रूप रंगों का गंभीर प्रभाव कला के कोमल प्रभाव से अधिक महत्वपूर्ण स्वीकार किया जाता। प्रकृति के विस्तार में सन्ध्या के हलके घुलते रंगों में, पर्वत की मिटती हुई श्रेणियों के अपरिमित विस्तार में, उस पर आच्छादित वर्फ़ की धुंधली सफ़ेद आभा में, आकाश की एक रस नीलिमा में तथा तारों के हीर जड़ाऊ हुए रात्रि के आँचल में जो सौन्दर्य छिपा है वह साधारण प्रभावशीलता भर नहीं कहा जा सकता। यह सौन्दर्य बहुत कुछ हमारे संस्कृत कलात्मक दृष्टि का परिणाम है।

क—प्रकृति सौन्दर्य का दूसरा भावात्मक रूप सहचरण की सहानुभूति में स्वीकार किया जा सकता है। इसी आधार पर यह हमको अपने समानान्तर लगती है। प्रकृति अपने क्रिया-व्यापारों में मानव जीवन के अनुरूप जान पड़ती है, साथ ही प्रकृति मानवीय चेतना और भावों से युक्त भी उपस्थित होती है। तादात्म्य भाव की स्थिति में प्रकृति इस प्रकार अपने सौन्दर्य में ही मग्न जान पड़ती है।[११] प्रकृति

सहचरण की
सहानुभूति

११ [illegible] सौन्दर्य [illegible]
[illegible]

सौन्दर्य के इस पक्ष के विकास में कितनी ही भाव-स्थितियों का योग हुआ है, इसलिए इसको सरलता से एक भाव के रूप में नहीं समझा जा सकता। साहचर्य-भाव की इस स्थिति में सामाजिक, आत्मिक तथा यौन सम्बन्धी भावों का सम्मिश्रण समझा जा सकता है। यद्यपि सम्मिश्रण साधारण योग से न होकर विकास-पथ से प्राप्त हुआ है। मानवीय संस्कृति के युग में प्रकृति के प्रति साहचर्य की भावना उसके सौन्दर्य की प्रबल आकर्षण शक्ति है। साथ ही प्रकृति के प्रति मानव की स्वच्छंद प्रवृत्ति का रूप भी इसमें सन्निहित है। हमारी चेतना तथा हमारे प्राणों से सचेतन और सप्राण प्रकृति, हमारी भावनाओं में निमग्न होकर सुन्दर लगती है। यह मानसिक अनुकरण का प्रकृति पर प्रतिबिंब-भाव ही है जो हमको स्वयं सुन्दर लगने लगता है। इस प्रकार यह सहचरण संबन्धी प्रकृति के प्रति साहचर्य की भावना प्रकृति-सौन्दर्य का महत्त्वपूर्ण रूप है।[१७]

ख—सौन्दर्य की इस अनुभूति तक साधारण व्यक्ति अपनी अव्यक्त कलात्मक प्रवृत्ति से पहुँच सकता है। वह प्रकृति-सौन्दर्य का आनन्द प्राप्त करता है। परन्तु जब व्यञ्जनात्मक दृष्टि से यह प्रकृति का प्रतिबिंब-भाव अधिक व्यक्त तथा स्पष्ट हो जाता है; तभी प्रकृति का सौन्दर्य भी अधिक आकर्षक होता है। यह सौन्दर्यानुभूति संवेदनशील व्यक्ति को ही हो सकती है; जिसको भारतीय काव्य शास्त्रियों ने रसज्ञ माना है। वह प्रकृति के सौन्दर्य में अपनी व्यञ्जना-शक्ति के द्वारा उन अभिव्यक्तियों का प्रतिबिंब देखने में समर्थ होता है, जो साधारण

व्यंजनात्मक प्रति-बिंब भाव

होता है।

१७ आगे दूसरे भाग में हम देखेंगे कि इसी भावना की अनुसार ने स्वच्छंदवादी प्रकृति संबन्धी प्रवृत्ति ... है, जो हिन्दी-साहित्य के मध्य-युग में विकसित नहीं ...

व्यक्ति के लिए असम्भव है। कवि, कलाकार और रहस्यवादी भी अपने मनोयोग के कारण प्रकृति के इस व्यंजनात्मक सौन्दर्य को देखने में मग्न होते हैं। इस सौन्दर्य को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न पंचम प्रकरण में उपस्थित किया गया है।

§११—अभी प्रकृति-सौन्दर्य के भावात्मक पक्ष पर विचार किया गया है। अब वस्तु-रूप प्रकृति-सौन्दर्य के विषय पर विचार करना रूपात्मक वस्तु-पक्ष है; जिसे रूपात्मक पक्ष भी कहा जा सकता है। भाव से अलग रूप कुछ नहीं है. इसी प्रकार रूप के आधार बिना भाव स्थिर नहीं हो सकता। फिर इन दोनों पक्षों की अलग अलग व्याख्या करने का उद्देश्य केवल विषय को अधिक स्पष्ट करना है। प्रकृति अनेक रूपरंगों में हमारे सामने उपस्थित है, साथ ही उनमें आकारों की समरस रूपात्मकता भी सौन्दर्य और उसके कलात्मक प्रदर्शन में योग प्रदान करती है। ज्यामिति के नाना आकार प्रकृति के रूप में बिखरे हुए हैं जो प्रकृति के सौन्दर्य के विस्तार को सीमादान करते हैं। यदि इस प्रकार हम देखें तो रूप और आकार विभिन्न सीमाओं में प्रत्येक दृश्य को हमारी चेतना से सम रूप में उपस्थित कर सौन्दर्य प्रदान करते हैं। यही नहीं प्रकृति में गति और संचलन जिनका उल्लेख प्रथम प्रकरण में किया गया है, हमारे आत्म प्रसार के लिए विशेष आधार है। प्रकृति में असंख्य ध्वनियों के सूक्ष्म भेद व्याप्त हैं। प्रकृति का नितान्त शांत वातावरण जनाकुल नगरों के विरोध में सौन्दर्य का रूप धारण कर सकता है। कल-कल, झर-झर, टल-मल आदि प्रकृति में जल-प्रवाह की ध्वनियाँ अपनी विविधता के साथ जीवन और चेतना के सम पर सुन्दर लगती हैं। गंध और स्पर्श का योग प्रकृति सौन्दर्य में उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, परन्तु इनका संयोग उसमें अवश्य है। और अधिकांश में इनका योग संयोगात्मक ही अधिक है। साथ ही कुछ व्यक्ति इनके प्रभावों के प्रति अधिक सचेष्ट होते हैं। वे

की स्थिति साधारण मानसिक स्थिति नहीं है, इस पर विद्वान एकमत है। भारतीय विद्वान भी इसमें सहमत हैं। परन्तु जिन साधारण नियमों के आधार पर यह मानसिक स्थिति बन जाती है, उसका उल्लेख किया जा सकता है। इन समस्त नियमों को दो प्रमुख नियमों के अन्तर्गत माना जा सकता है। प्रथम नियम भावों के सामञ्जस्य के रूप में माना जा सकता है जिसके अन्तर्गत समस्त आकारात्मक सानुपात, रंग-रूपों की एकता विभिन्नता संबंधी नियम आ जाते हैं। तथा यह भाव-पक्ष में भाव की एक सम स्थिति का भी संकेत देता है। दूसरा नियम भाव-संयोग संबन्धी है इसमें साम्य, वैषम्य तथा क्रम के नियम सन्निहित हैं और इसी नियम में विभिन्न भावों का समन्वित वैचित्र्य भी सम्मिलित है। ये नियम साधारणतः आश्रय रूप स्वीकार किए जा सकते हैं। इन नियमों का सौन्दर्य के दोनों पक्षों के संतुलन में आधार भर रहता है, परन्तु ये सौन्दर्य के नियम किसी प्रकार स्वीकार नहीं किए जा सकते।

प्रकृति-सौन्दर्य के रूप

विभ जन की संभा

§१३—प्रकृति-सौन्दर्य को विभिन्न प्रकार से स्थापित करने के बाद प्रश्न उठता है कि क्या प्रकृति के सौन्दर्य-रूपों का विभाजन किया जा सकता है। पहले ही कहा गया है कि सौन्दर्य ऐसी भाव-स्थिति नहीं जिसका विभाजन किया जा सके। परन्तु भावों के समवाय की स्थिति में जिन भावों का प्रमुख आधार रहता है, उनकी दृष्टि से कुछ प्रमुख रूपों का उल्लेख किया जा सकता है। भारतीय काव्य-शास्त्र में नव-रस के विधान में नव स्थायी-भावों को स्वीकार किया गया है। इन समस्त स्थायियों की यहाँ विवेचना नहीं की जा सकती। परन्तु इनको स्वीकार कर लेने पर भी इनमें से कुछ मानवीय चरित्र और सम्बन्धों को लेकर ही हैं और इस प्रकार उनका क्षेत्र प्रकृति-सौन्दर्य

नहीं है। इसी प्रकार जहाँ तक प्रकृति-सौन्दर्य का संबन्ध है कुछ भाव दूसरे भावों में लीन किए जा सकते हैं। प्रकृति के संवेदनात्मक सौन्दर्य में विरोधी भाव के रूप में जुगुप्सा का भाव सम्मिलित हो जाता है। और प्रकृति की महत् भावना की सौन्दर्य-स्थिति में भय तथा विस्मय के भाव मिल जाते हैं। इसी प्रकार साहचर्य संबन्धी सौन्दर्य भावना में प्रकृति के सचेतन और भावशील रूप में अन्य विभिन्न मानवीय भावों का आरोप हो जाता है। मानवीय चरित्र (आचरण) तथा धर्म संबन्धी मूल्यों का समवाय प्रकृति में प्रतिबिंब रूप में ही हो सकता है। इस स्थिति में सत्य और शिव की भावना के साथ ये मूल्य सौन्दर्य के समान ही हैं। इस प्रकार प्रकृति-सौन्दर्य का विचार हम तीन प्रमुख रूपों में कर सकते हैं महत्, संवेदनशील तथा सचेतन।

क—प्रकृति में महत् की सौन्दर्य भावना साधारणतः अनन्त शक्ति, विशाल आकार तथा व्यापक विस्तार से संबन्धित है। इसमें मूलतः प्रारम्भिक स्थिति से भय और विस्मय के भाव सन्निहित हैं। इस प्रकार महत् रूप से भयंकरता और उत्पीड़न संबन्धित तो अवश्य हैं; परन्तु सौन्दर्य के स्तर पर महत् में इनका योग नहीं माना जा सकता और न ये उसके मूल में कहे जा सकते हैं। महत् की सौन्दर्यानुभूति में एक प्रकार का व्यापक प्रभाव रहता है, जो वस्तु की आकाश-स्थिति, शक्ति-संचलन अथवा उसके गुण से संबन्धित है। महानता की सौन्दर्य भावना, विशालता के कल्पनात्मक परप्रत्यक्ष से प्रभावित होती है। इसके अनन्तर इसमें सहानुभूति की मूल-रूप तदाकारता की चेतन अनुभूति मिल जाती है। इसी कल्पनात्मक सहानुभूति से हम वस्तु की विशालता संबन्धी मानसिक महानता की तदाकारता स्थापित करते हैं।

महत्

ख—प्रकृति के दूसरे सौन्दर्य-रूप को हम संवेदनात्मक (प्रभावशील) मानते हैं। इस संवेदनात्मक मानसिक स्थिति में प्रगाढ़ की

भावना है। इसके मूल में इन्द्रिय-वेदना की सुखात्मक अनुभूति अवश्य

संवेदन

है और इसके आधार में प्रकृति के मात्त्विक गुण

है। परन्तु प्रकृति सौन्दर्य के इस रूप से इनका दूर

का संबन्ध है, यह पिछले प्रकरण की विवेचना' से ही प्रत्यक्ष है।
यह प्रकृति का दृश्यात्मक सौन्दर्य इन्द्रियों को मादकता के समान
प्रभावित करता है। वस्तुतः इन सब सौन्दर्य रूपों की कल्पना
अलग अलग नहीं की जा सकती। यही कारण है कि इस संवेद-
नात्मक सौन्दर्य भाव में महत् का रूप भी सन्निहित हो सकता है।
साथ ही इस भाव में साहचर्य भावना और उसके साथ मानवीय
भावों का आरोप बहुत कुछ मिल जुल गया है।

ग—प्रकृति-सौन्दर्य में सब से अधिक व्यापक विभिन्नता उत्पन्न
करनेवाला रूप है, प्रकृति का सचेतन सौन्दर्य। इस सौन्दर्य रूप में

सचेतन

हमारी चेतना का सम है, साथ ही साहचर्य-भावना

की विकासोन्मुखी प्रवृत्तियों का। आदिम काल का
प्रकृति पर चेतना तथा मानवीय आकार आरोप सौन्दर्य रूप तो नहीं
था; पर उसने सौन्दर्यानुभूति के लिए आधार प्रस्तुत किया है।
विकास के साथ जैसे जैसे आत्म-तदाकारता की भावना, सामाजिक
स्तर पर साहचर्य संबन्धी विभिन्न भावनाओं से मिलती गई; प्रकृति
पर उनका आरोप भी उसी विषम मनःस्थिति के साथ होता रहा
है।[१९] इस स्तर पर प्रकृति-सौन्दर्य का कोई भी रूप इस भावना से
प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका है। यही कारण है कि प्रकृति-सौन्दर्य
के समस्त रूपों पर इस रूप की छाया पड़ती रहती है।

× × ×

§१४—अन्त में यह भी कह देना आवश्यक है कि प्रकृति का

१९—आधुनिक हिन्दी-काव्य में प्रकृति पर विषम भाव-स्थितियों के आरोप
मिलते है।

सौन्दर्य तथा आकर्षण संवेदनात्मक विकास के साथ अधिक प्रत्यक्ष तथा व्यक्त होता गया है। इस विषय में कुछ लोगों को भ्रम है कि सभ्यता तथा ज्ञान के साथ हमारा प्रकृति प्रेम कम होता जाता है। उनकी धारणा कुछ इस प्रकार की है कि सौन्दर्य-भावना पर आधारित प्रकृति-प्रेम भ्रमपूर्ण ज्ञान से होता है। और ज्यों ज्यों हम प्रकृति तथा उसके नियमों से परिचित होते जाते हैं, हमारा प्रेम का भाव उसके सौन्दर्य के साथ ही विलीन होता है। परन्तु यह ठीक नहीं है। वस्तुतः हम ज्यों ज्यों प्रकृति से परिचित होते जाते हैं हम प्रकृति को अधिकाधिक अपने जीवन तथा चेतना के सम पर पाते हैं। इस कारण एक प्रकार से प्रकृति के प्रति हमारा सर्वचेतनवादी मत होता जाता है। हम प्रकृति के नियमों में अपने जीवन की समानान्तरता पाते हैं। आन्तरिक विश्व और बाह्य विश्व की यह एक रूपता एक विशेष आकर्षण का विषय हो गई है। परन्तु आज मानव अपनी समस्या में इतना अधिक उलझा लगता है कि वह प्रकृति को प्रयोजनात्मक दृष्टि के अतिरिक्त देख नहीं पाता। परन्तु मानवीय जीवन की अशांति तथा हलचल के विरोध में प्रकृति की शांति आज भी उतनी ही आकर्षक हो उठती है।

प्रकृति प्रेम

क—यदि हम मिथ शास्त्र तथा मानव-शास्त्र के सहारे पिछले विकास क्रम पर विचार करते हैं, तब भी इसी सत्य तक पहुँचते हैं। प्रारम्भिक युग में मानव चेतना पर प्रकृति की अज्ञात रूपात्मकता छायी रहती थी जिससे वह उस स्थिति में केवल अपनी आवश्यकताओं को ही समझ सकता था। इसके अनन्तर मानव ने मानस के सहारे प्रकृति के आकारों को स्थान-केन्द्रित करना आरम्भ किया। यह वस्तु-बोध की अज्ञानात्मक अवस्था थी। उस समय उसको बोध था कि वह ऐसी अपरिचित वस्तु से घिरा है जिसको वह नहीं जानता था। इस स्थिति में प्रकृति केवल उसके भय का विषय थी। तीसरे स्तर पर प्रकृति

मानव इतिहास के क्रम में

स्पष्ट रूप रेखा में आने लगती है। परन्तु इस स्थिति में मानव प्रकृ
को अपने ही समान समझने का भ्रम करता था। इस मानवीकरण
के युग में मानव प्रकृति में उसके रूप से अलग एक सूक्ष्म रूप भी
मानता था। धीरे धीरे भय के साथ जिज्ञासा भी बढ़ने लगी और
प्रकृति को मानव अपने समान सप्राण और सचेतन समझने लगा।
इस स्थिति तक वह प्रकृति को पहचान सका था और यहीं से प्रकृ
सौन्दर्य की कल्पना की जा सकती है। इसके पूर्व सौन्दर्य केवल
सुखानुभूति के रूप में माना जा सकता है। इस स्वचेतना के (आत्म)
आरोप के बाद प्रकृति सर्वचेतन रूप में अधिक व्यापक तथा सुन्दर
हो गई और इस स्थिति के बाद प्रकृति अब हमारे समस्त भावों
और कल्पनाओं का प्रतिबिंब ग्रहण करने लगी है। हम देखते हैं कि
इस विकास में प्रकृति-सौन्दर्य अधिक स्पष्ट तथा व्यक्त ही हुआ है।

पंचम प्रकरण

प्रकृति सौन्दर्य और काव्य

पिछले प्रकरणों में मानव और प्रकृति के संबन्धों के माध्यम से सौन्दर्य की व्याख्या की गई है। परन्तु इस विवेचना में प्रकृति-सौन्दर्य पर ही अधिक ध्यान केन्द्रित किया गया है। इस सौन्दर्य की रूप-रेखा उपस्थित करते समय काव्य तथा कला संबन्धी उल्लेख आए हैं लेकिन वे प्रासंगिक ही कहे जा सकते हैं। प्रस्तुत प्रकरण में प्रकृति सौन्दर्य काव्य का विषय किन विभिन्न रूपों में होता है, इस पर विचार करना है। वस्तुतः हम देखेंगे कि काव्य भी सौन्दर्य-भाव से संबन्धित है। इसलिए प्रश्न यह है कि प्रकृति सौन्दर्य काव्य सौन्दर्य में किस प्रकार और किन रूपों में अभिव्यक्त होता है। परन्तु इस विवेचना के पूर्व काव्य का एक निश्चित स्वरूप भी हमारे सामने होना चाहिए। हम देख चुके हैं कि प्रकृति के सौन्दर्य-भाव में हमारा कलात्मक दृष्टिकोण ही प्रमुख रहता है। लेकिन काव्य के विषय में विद्वानों में ऐसा विचार

वैषम्य है कि किसी एक के मत को लेकर चलने से काव्य का स्वरूप एकांगी ही लगता है। यद्यपि ऐसा है कि प्रत्येक सिद्धान्त की व्यापकता में अन्य सभी अंग समा जाते हैं। इस प्रकार जब तक काव्य विषयक विभिन्न मत किसी क्रमिक स्वरूप में नहीं उपस्थित हो जाते, उसका पूरा स्वरूप हमारे सम्मुख नहीं आ सकेगा। और साथ ही इन मतों के विषय में भ्रम भी रह सकता है।

काव्य की व्याख्या

§१—प्रत्येक काव्य-वर्ग के आचार्य ने अपने मत को इतना महत्त्व दिया है और साथ ही व्यापकता भी प्रदान की है कि एक ओर यह मत अपने रूप विशेष के कारण सीमित और भ्रामक विदित होता है और दूसरी ओर अपनी व्यापकता के कारण दूसरे मतों को आत्मसात् भी कर लेता है। अलंकार, ध्वनि, रीति तथा रसवादी आचार्यों के सिद्धान्तों में यही बात समान रूप से पाई जाती है। भारतीय काव्य संबन्धी सिद्धान्तों में कवि के मनस् परक विषय-पक्ष की उपेक्षा भी की गई है।[१] जहाँ तक पाश्चात्य विद्वानों के मत का प्रश्न है; उनमें भी काव्य की विभिन्न स्थितियों को महत्त्व दिया गया है। परन्तु इनमें समन्वय का मार्ग ढूँढ़ा जा सकता है। वैसे पश्चिम में काव्य संबन्धी इतने वर्ग या स्कूल भी नहीं हैं। वहाँ मुख्यतः काव्य के दो रूप विषयक सिद्धान्त प्रचलित रहे हैं, जिन को स्वच्छंदवादी तथा संस्कारवादी कहा गया है। बाद में ये सिद्धान्त विशेष युगों से बँध कर सिद्धान्त विषयक विभिन्नता के प्रतीक नहीं रह सके। क्योंकि प्रत्येक युग में काव्य संबन्धी विभिन्न प्रवृत्तियाँ तो मिलती ही हैं। इन दोनों सिद्धान्तों

विभिन्न मतों का समन्वय

१—इस विषय में लेखक की 'संस्कृत काव्य-शास्त्र में प्रकृति' नामक लेख देखना चाहिए (हिन्दुस्तानी जौ० सि० ४७ ई०)।

यक्तिगत स्वानुभूति तथा परिस्थितिगत चरित्र-चित्रण का भेद है:
। ही एक की शैली भावात्मक है और दूसरे की रूपात्मक है। इन्हीं
ग्रन्तर्गत ग्रन्य अनेक मत हैं जिनका उल्लेख उचित स्थान पर
ा जायगा। काव्य के सम्पूर्ण स्वरूप को ध्यान मे रखते हुए विचार
ने पर लगता है काव्य सामञ्जस्य है, समन्वय है और एक सम है।
र यह सम अनुभूति, अभिव्यक्ति तथा संवेदना (प्रभाव) तीनों को
र है। इसीलिये कहा जा सकता है काव्य सौन्दर्य-व्यजना है।

§२—सौन्दर्य की विवेचना भावों के विकास तथा प्रकृति के
न्ध में की गई है। यही सौन्दर्य कौशल की निर्भर साधना में कला

य सौन्दर्य-
ंजना है

को जन्म देता है और कला जब सौन्दर्य के
उपकरणों से सम उपस्थित कर लेती है, वह काव्य
सौन्दर्य हो जाता है। इस सीमा मे संगीत भी
व्य है। संगीत में नाद और लय के विरोध तथा वैषम्य से भाव-
साम्य उपस्थित किया जाता है और काव्य में व्यंजनात्मक ध्वनियों के
संयोग में, विरोध-वैषम्य के आधार पर भाव साम्य उपस्थित किया
जाता है। साधारण कलाओं में सौन्दर्य की व्यंजना प्रकृति के उप-
करणों से की जाती है। उपकरणों के प्राकृतिक गुण स्वयं भावाभि-
व्यक्ति में सहायक होते हैं। केवल उनमें अभिव्यक्ति की सप्राण व्यजना
की आवश्यकता रहती है। परन्तु काव्य में व्यंजना का सबसे अधिक
महत्त्व है। इसी कारण भारतीय ध्वनि-सिद्धान्त और योरोपीय अभि-
व्यंजनावाद काव्य में अधिक स्वीकृत रहे हैं। इनमें काव्य के मुख्य
स्वरूप का संकेत है। काव्याभिव्यक्ति की साधन-रूप भाषा में शब्द
भाव-व्यंजना के प्रतीक होते हैं। अन्य कलाओं में रूपात्मक सौन्दर्य
का आदर्श रहता है; संगीत में भाव और उपकरणों का सम ही सौन्दर्य
है। परन्तु काव्य में ध्वनि को व्यंग का आश्रय लेना पड़ता है। यह
ध्वनि जब सौन्दर्य की व्यंजना करती है तभी काव्य है। इसको
'रमणीयार्थप्रतिपादक: शब्द: काव्यम्' के रूप में स्वीकार किया जा

सकता है और इस 'शब्द' में 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' का भाव भी मूलतः संनिहित है।¹

काव्य सौन्दर्य की यह भावना पाश्चात्य मतों से भी प्रतिपादित होती है। इस प्रकार काव्य कवि की स्वानुभूति है, भाषा के माध्यम से उपस्थित की हुई कलात्मक अभिव्यक्ति है और इस काव्य की अभिव्यक्ति का अर्थ है संवेदनशीलता। काव्य का सौन्दर्य अनुभूति, अभिव्यक्ति तथा प्रभावात्मक संवेदना तीनों से ही संबन्धित है। भारतीय अलंकार, ध्वनि तथा रस सिद्धान्तों में विभिन्न प्रकार से काव्य-सौन्दर्य के सारों की व्याख्या की गई। परन्तु इन तीनों का समन्वय ही काव्य में सौन्दर्य हो जाता है।

स्वानुभूति

§१—पाश्चात्य काव्य-शास्त्रियों ने अनुभूति को काव्य सौन्दर्य में महत्त्व पूर्ण स्थान दिया है। वहाँ अधिकांश विद्वानों ने काव्य की व्याख्या विशेष रूप से मनस् पक्ष दृष्टि से की है और इसमें कवि की अनुभूति की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। इसका उल्लेख जब संस्कारवादी आचार्य करते हैं तब वे इसे जीवन संबन्धी अन्तर्दृष्टि मानते हैं। परन्तु स्वच्छन्दतावादी विचार-धारा में इसे कवि की वैयक्तिक भावात्मक अनुभूति माना गया है। भारतीय सिद्धान्तों में कवि की स्वानुभूति की उपेक्षा की गई है, अर्थात् कवि के मनस् पक्ष की, काव्य की विवेचना में अवहेलना हुई है। काव्य के व्यापक विस्तार में कवि के मानसिक पक्ष के दो प्रमुख रूप मिलते हैं। एक तो विषय रूप वस्तु जिससे कवि प्रभाव ग्रहण करता है और दूसरा उसी का मानसिक पक्ष जो स्वतः प्रभाव स्थिति है। किसी भी मनःस्थिति के लिए कोई आलम्बन-रूप वस्तु-विषय आवश्यक है। परन्तु यह विषय केवल भौतिक जगत् के रूप में नहीं वरन् मानसिक कल्पनात्मक स्थितियों में भी रह सकता

१ [illegible] (पृ० ४, [illegible])

है। इस विषय के भी दो रूप हैं। एक तो भौतिक स्वरूप में वस्तु या व्यक्ति; दूसरे मानसिक स्थिति में वस्तु का गुण या व्यक्ति का आचरण। इन मानसिक स्थितियों को वस्तु या व्यक्ति से संबन्धित उच्च मूल्यांकन समझना चाहिए जो उनके रूप के साथ सम्मिलित कर लिए गए हैं। इसके आधार से सौन्दर्य के साथ सत्य और शिव भी सम्मिलित हैं और यह शिव कुछ नहीं केवल सामाजिक विकास का अवान्तरित रूप है। परन्तु कवि की स्वानुभूति की मनः स्थिति में व्यक्ति तथा वस्तु इसी प्रकार चित्रित होते हैं। समझने के लिए राम के व्यक्तित्व में स्वरूप और चरित्र दोनों को ले सकते हैं। जब हम राम का विचार करते हैं, उस समय राम सुन्दर हैं और अच्छे (चरित्र) भी हैं। उनके सौन्दर्य में दोनों ही रूप समन्वित होकर आते हैं। प्रश्न किया जा सकता है कि वस्तु की यह विशेषता तो मानसिक है फिर इसमें व्यक्ति अथवा वस्तु का अलग उल्लेख क्यों किया गया है। जब हम किसी वस्तु के सीधे सम्पर्क में होते हैं एक सीमा तक ऐसा कहना सरल है। परन्तु जब वस्तु या व्यक्ति अपने गुण अथवा आचरण के साथ मानसिक परम्परा में उपस्थित होते हैं, उस समय उनको अनुभूति की स्थिति के साथ विषय या आलंबन भी माना जा सकता है। समष्टि का यह रूप मानसिक आश्रय पर भावानुभूति के अन्य रूप धारण करता है और बाद में वस्तु को भी दूसरी रूप-रेखा प्रदान करता है। परन्तु आचरण और गुणों का यह मूल्यांकन भाव-स्थितियों से विकसित होकर भी ज्ञान के समीप है और सौन्दर्य की रूपमयता में ही कवि की अनुभूति का विषय बनता है।

वस्तुतः किसी भी मानसिक स्थिति में विषय और विषयि, आलंबन और आश्रय को अलग नहीं किया जा सकता। यहाँ विवेचना की सुविधा के लिए ही इन पर अलग अलग विचार किया गया है। स्थिति के अनुसार आश्रय का मानसिक दृष्टिकोण भी बदलता है। वैसे एक प्रकार से कवि अपनी अनुभूति की समस्त स्थितियों का आश्रय ही है।

इन्द्रिय वेदन की प्रथम स्थिति में केवल संवेदनात्मक प्रेरणाएँ ही
मानसिक अनुभूतियाँ हो सकती हैं, परन्तु कवि की मनःस्थिति के स्तर पर
परप्रत्यक्ष भी मानसिक भावों और अनुभावों को रूप प्रदान करते हैं।
फिर ये भाव दूसरे वस्तु-विषय को प्रभावित कर उनको भिन्न प्रकार
से रूप दान करते हैं। कभी कभी इस भाव स्थिति की विषय-वस्तु
मानस में दूसरे भावों को उद्दीप्त करने में सहायक होती है। यह
बात वस्तु और व्यक्ति दोनों के विषय में विभिन्न परिस्थितियों के साथ
लगती है। वस्तु के उदाहरण में—लाल कमल प्रेम का प्रतीक
है, परन्तु रति के आधार पर वह अन्य भाव-स्थिति भी उत्पन्न कर
सकता है। व्यक्ति में इसी प्रकार एक आचरण दूसरे भाव की उद्भावना
कर सकता है। राम के सौन्दर्य के साथ वीरत्व का योग है, साथ
ही यह वीरत्व भक्ति का आधार भी बन जाता है। फिर इसके अतिरिक्त
समस्त आचरणात्मक शिव और वस्तु का रूपात्मक सत्य मानसिक
सौन्दर्यानुभूति में विभिन्न रूप धारण कर सकता है। वीरता सुन्दर
हो जाती है, सुन्दरता सत्य हो जाती है। इन समस्त मूल्यों का सौन्दर्य
अनुभूति का रूप ही है।

§४—अधिकांश विद्वानों ने अनुभूति के साथ अभिव्यक्ति
का उल्लेख किया है। वस्तुतः काव्य में अधिक व्यक्त स्थिति

काव्याभिव्यक्ति

अभिव्यक्ति की है जो अनुभूति और प्रभावात्मक
संवेदना को समन्वय की स्थिति में प्रस्तुत करती
है। कदाचित् इसीलिए काव्य की व्याख्या करनेवाले शास्त्रियों
का ध्यान विशेष रूप से अभिव्यक्ति पर केन्द्रित रहा है। काव्य का
अनुभूति तथा संवेदनात्मक (प्रभाव) पक्ष इसके अन्तर्गत कर दिया
गया है। भारतीय काव्य शास्त्रियों ने अलंकार में सौन्दर्य को काव्य
की अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार किया है। ध्वनि के विस्तार
में तो समस्त काव्य का रूप अभिव्यक्ति रूप में आ जाता
है। रस सिद्धान्त के अन्तर्गत 'शब्द' तथा 'वाक्य' की

काव्य के अभिव्यक्त पक्ष को स्वीकार किया गया है। और रीति
काव्य की अभिव्यक्ति का स्वरूप है।[३] विभिन्न पाश्चात्य विद्वानों
भी अभिव्यक्ति को काव्य का मुख्य रूप माना है। वर्ड्सवर्थ काव्य
स्वाभाविक सशक्त भावों का प्रवाह कहते हैं और शेली के अनुसा
साधारण अर्थ में काव्य की परिभाषा कल्पना की अभिव्यक्ति के रू
में की जा सकती है। इसी प्रकार हैज़लिट कल्पना और वासना
भाषा को काव्य कहते हैं।[४]

क—जिस काव्य के मनस् परक विषयि-पक्ष का उल्लेख वि
अनुच्छेद में किया गया है, वह सर्वसाधारण की मनःस्थिति
संबन्धित अनुभूति है। साधारण व्यक्ति और क

भाव-रूप

में भेद अवश्य है, पर वह साधारण मानस शा
का नहीं है। कवि की स्वानुभूति की विशेषता उसकी अपनी व्यक्ति
प्रतिभा तथा साधना का परिणाम है। इसके द्वारा वह सूक्ष्म स्थिति
तथा मनोभावों तक पहुँच जाता है और उनसे संबन्धित अनुभूति
अपने मानस में रोक भी सकता है। परन्तु प्रमुख बात है उस
अभिव्यक्ति की आन्तरिक प्रेरणा, जिससे रोकी हुई अनुभूति को व्य
करने के लिए वह प्रयत्नशील होता है। काव्य की अभिव्यक्ति
शब्द भाव के रूपात्मक प्रतीक हैं। ये शब्द ध्वनि के आध

३ वामन के काव्यालंकार सूत्र में 'काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्' १ सौन्दर्य
मलंकारः।२। (प्र०)। आनन्दवर्धनाचार्य के ध्वन्यालोक में: 'काव्यस्यात्मा ध्वनि
रिति' (प्र०)। विश्वनाथ के साहित्यदर्पण में—'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।
(प्र०)। पण्डितराज जगन्नाथ के रसगंगाधर में—'रमणीयार्थप्रतिपादकः श
काव्यम्।' (प्र०)। वामन के काव्यालंकार सूत्र में—'रीतिरात्मा काव्यस्य' १ (प्र०

४ वर्ड्सवर्थ के 'प्रिफ़ेस टु लिरिकल बैलेड्स' में; पी० बी० शेली
'ए डिफ़ेन्स ऑफ़ पोइट्री' में तथा डब्लू० हैज़लिट के 'लेक्चर्स ऑन इंगलि
पोएट्स' में उल्लिखित।

पर बनते हैं। शब्द में अर्थ-रूप का संयोग एक प्रकार की अभिव्यक्ति है। संस्कृत के आचार्यों ने इसी बात को ध्यान में रखकर 'शब्दार्थों' को काव्य का रूप स्वीकार किया है। शब्द में सन्निहित भाव-बिंब एक बार परप्रत्यक्ष रूप ग्रहण करता है, जिसमें वस्तु के रूप का आलंबन भी सम्मिलित रहता है। परन्तु ये परप्रत्यक्ष रूप अभिव्यक्ति के पहले ध्वनि (शब्द) बिंब ग्रहण करते हैं। भाषा के विकास के साथ यह कहना तो कठिन है कि भाषा अपने भावात्मक रूप में कब कल्पना-रूपों में हिल मिल गई। परन्तु अब तं कल्पना-रूप भाषा के साथ ही हमारे मानस में स्थिर है। भाषा के शब्दों में परप्रत्यक्ष उसकी भावमयी कल्पना में अपना आधार ढूँढ़ते हुए वस्तु के साथ उपस्थित होते हैं। इसी प्रकार भाषा के वस्तु-रूपों में भावात्मक अनुभूति का संयोग भी आरम्भ से होता रहा है। भाषा के रूप के साथ वस्तु के रूप की स्थिति सरल और सुरक्षित है—वृक्ष कहने के साथ रूप का बोध हो जाता है। भाषा की प्रारम्भिक भावुकता धीरे-धीरे कम होती गई है। प्रारम्भ में प्रत्यक्ष-बोध में जो प्रभाव 'वृक्ष' शब्द के साथ सम्मिलित था, वह रूप से अलग होता गया। अन्त में स्वानुभूति की अभिव्यक्ति के लिए व्यंजना के माध्यम से अन्य संयोगों का आश्रय लेना पड़ता है। फिर भी समस्त अभिव्यक्ति का आधार 'शब्द' का अर्थ ही है।

ख—शब्द में मानसिक भाव बिंब के अतिरिक्त ध्वनि-बिंब भी होता है और ध्वनि-बिंब का अभिव्यक्ति में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

ध्वनिबिंब

कारलाइल के अनुसार काव्य वस्तुओं की अन्तःप्रकृति की अनुभूति पाने वाले मानस के संगीतात्मक विचार की अभिव्यक्ति है। शब्द लिखित रूप में प्रत्यक्ष-बोध के आधार पर रूप तथा ध्वनि दोनों प्रकार से हमारे सामने आता है। परन्तु अधिकतर शब्द के, ध्वनि से संबन्धित अर्थ में ही वस्तु-रूप के साथ भाव बिंब सन्निहित रहता है। इसी कारण ध्वनि

लगभग व्यंजना के अर्थ में होता है और शब्द के अर्थ का आधार होने के कारण ही, ध्वनि का काव्य से संबन्धित गुण और रीति के सिद्धान्तों में प्रमुख स्थान रहा है। शब्द के ध्वन्यात्मक प्रयोग के लिए आवश्यक है कि यह ध्वनि-बिंब वस्तु के आधार में परप्रयत्न के साथ भावुकता का संयोग स्थापित कर सके। छंद के मूल में ध्वनि की गति और लय का ही मानसिक तादात्म्य सन्निहित है।

ग—भाव-रूप तथा ध्वनि-बिंब का शब्दार्थ में सामञ्जस्य रहता है। परन्तु काव्य में शब्द के माध्यम से रूप और अर्थ की अभिव्यक्ति का समन्वय अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। सामञ्जस्य की कलात्मक व्यंजना ही काव्य का सौन्दर्य है।

सामंजस्य

समस्त ध्वनि-काव्य में यह सौन्दर्य की व्यजना रहती है। आलंकारिक शैली में इसी प्रकार की सौन्दर्य-कल्पना है।[५] यद्यपि अलंकार संलक्ष्य क्रम ध्वनि के अन्तर्गत व्यंग्य भी होता है। इनमें यह है कि ध्वनि व्यंजित भाव-संयोगों से अधिक सम्बन्धित है, जब कि अलकार वस्तु के रूप गुण के साम्य का आधार ढूँढ़ कर अधिक चलता है। व्यापक दृष्टि से अलंकार में ध्वनि का और ध्वनि का अलंकार में समन्वय हो जाता है। इस प्रकार सम्पूर्ण अभिव्यक्ति की यह सम-भावना विभिन्न रूप ग्रहण करती है। परन्तु सभी का उद्देश्य एक है अभिव्यक्ति की सम-स्थिति प्राप्त करना जिस पर अनुभूति और संवेदना सौन्दर्य-रूप हो जाती है। इस स्तर पर मानसिक संवेदनात्मक स्थिति केवल भाव संयोग के आधार पर नहीं वरन कलात्मक योग और रूपों की विशेष स्थिति पर क्रियाशील होती है। अभिव्यक्ति के इसी रूप को समझाने के लिए, उसे नाना रूपों को धारण करने वाली कल्पना को उद्दान तथा असाधारण आदि कहा गया है।

६५—काव्य में एक प्रकार के आनन्द की भावना सन्निहित

---

५ दण्डी के काव्यादर्श से 'काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कार प्रचक्षते।' (द्वि०)

है। यह सुख का रूप नहीं मानी जा सकती। सुख-संवेदनावादी

काव्य शब्द या सौन्दर्य-शास्त्रियों के समान कुछ विद्वानों ने इसी

रसानुभूति आधार पर काव्य की व्याख्या करने की गलती की

है। अभिव्यक्ति के सौन्दर्य में सब से अधिक

सरल आनन्द प्राप्त होता है। यह आनन्द-स्थिति केवल भावों के आधार पर ही उत्पन्न नहीं हुई है। यह तो अनुभूति की व्यंजना की चमत्कृत स्थिति मे संबन्धित है। परन्तु काव्य तथा कला के क्षेत्र में 'आनन्द' का आदर्श समान रूप से लागू नहीं है, क्योंकि इसमें विभिन्न स्तरों पर विभिन्न रूप हो सकते हैं। जिस प्रकार विकास की मनःस्थितियों के साथ सौन्दर्य भाव विभिन्न आधार पर रहा है, ऐसी परिस्थिति काव्य के विषय में भी समझी जा सकती है। जिस विद्वान ने जिस दृष्टिकोण को महत्त्व दिया है, उसने काव्य की व्याख्या भी उसी के आधार पर की है और उसके मत में सत्य का अंश भी इसी सीमा तक है। भारतीय काव्य शास्त्र के अन्तर्गत रस सिद्धान्त में काव्य के इस आनन्द को भावों के आधार पर समझा गया है। परन्तु काव्य के संवेदनात्मक प्रभाव पक्ष की व्याख्या कहा जा सकता। इसके आधार पर काव्य की पूर्ण व्याख्या नहीं की जा सकती। इस कारण ध्वनिवादियों ने इसको असंलक्ष्य-क्रम-व्यंग के रूप में स्वीकार किया है। काव्य केवल मानवीय भावों के आधार पर नहीं रखा जा सकता। उसमें कवि की स्वानुभूति के रूप में कवि की मनःस्थिति तथा पाठकों की रसानुभूति के रूप में उनकी मनःस्थिति का व्यंजनात्मक सौन्दर्य रहता है।

'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' को मानने वाले रसवादियों की दृष्टि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों से व्यक्त स्थायी भाव रूप रस में सीमित नहीं है।* यह परिभाषा रस निष्पत्ति की आनन्दमयी दशा .

१—जैसा मम्मट काव्यप्रकाश में कहते हैं—"व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः...

स्थिति में ही पूर्ण समर्थी जायगी। इस स्थिति में रस कवि और पाठक दोनों की मानसिक असाधारण स्थिति से संबन्धित है। रस सिद्धान्त की व्याख्या करने वाले आचार्यों ने प्रारम्भ में काव्यानुभूति तथा साधारण भावों को एक ही धरातल पर समझने की भूल की है। बाद में रस को अलौकिक कह कर उसे साधारण भावों से अलग स्वीकार किया गया है। परन्तु रसों के वर्गीकरण में फिर यह भेद भुला दिया जाता है, जैसे यह वर्गीकरण आधार रूप स्थायी भावों को लेकर ही है। रस को लेकर यह वर्गीकरण दयनीय है और इसमें वासना के साधारणीकृत रूप को ही रस समझा गया है। सामाजिकों के हृदय में स्थायी भावों की स्थिति ठीक है, विभाव, अनुभाव तथा संचारियों के द्वारा उनकी एक साधारणीकृत स्थिति का बोध भी होना है। परन्तु रसात्मक आनन्द को समान भावों के उद्बोधन रूप में नहीं माना जा सकता। एक स्तर पर मानसिक भाव संयोग के द्वारा सुखानुभूति सम्भव है; परन्तु काव्यानन्द के स्तर पर तो सौन्दर्याभिव्यक्ति ही आनन्द का विषय हो सकती है। इस भाव-स्थिति में स्थायी भावों का आधार केवल सामाजिक साहचर्य-भावना का सूक्ष्म रूप माना जा सकता है। जैसा कहा गया है रस के व्याख्या-क्रम में ये सभी स्थितियाँ मिल जाती हैं। परन्तु इन सभी मतों में रस को साधारण भावों के स्तर पर समझने का भ्रम किया गया है। प्रारम्भिक स्थिति में 'रस' का सिद्धान्त आरोपवाद और अनुमानवाद में सुखानुभूति की आत्म-तुष्टि के रूप में समझा गया है। बाद में भोगवाद और व्यक्तिवाद में आत्म तुष्टि अधिक स्पष्ट है, पर इसके साथ ही साधारणीकरण की स्वीकृति के साथ साहचर्य-भाव का रूप भी आ जाता है।* इसी के

न को रसः स्मृतः।१८। (च०)

* भट्टलोल्लट के आरोपवाद में काव्य-विषय के साथ सामाजिक आरोप कर लेता है, जिस प्रकार नट पात्र में। श्री शङ्कुक ने अनुमानवाद माना; क्योंकि

आधार पर व्यक्तिवाद की अभिव्यक्ति में सौन्दर्य की व्यंजना
भी मिल जाता है।

आलंबन-रूप में प्रकृति

§ ६—पिछले प्रकरण में प्रकृति के सौन्दर्य-भाव पर विचार कि
या और यहाँ काव्य को सौन्दर्य रूप में ही समझा गया है। इ
प्रकृति-रू. प्रकार प्रकृति की सौन्दर्यानुभूति काव्य की सौन्दर्य
व्यंजना का विषय सरलता से हो सकती है। प्रकृति
सौन्दर्य की अनुभूति के लिए कवित्वमय तथा कलात्मक दृष्टि का
उल्लेख किया गया है। यही सौन्दर्य जब काव्य में अभिव्यक्ति का
रूप ग्रहण करता है कवि की अनुभूति के साथ रूप बदलता है।
प्रकृति का व्यापक विस्तार, उसका नाना रूपात्मक सौन्दर्य हमारी
स्वानुभूति का विषय हो सकता है। परिवर्तन और गति की अनन्त
चेतना में मग्न प्रकृति युगों से मानव-जीवन से हिलमिल गई है।
मानव उसके क्रोड़ में विकसित हुआ है प्रकृति के युग-युग के सा
का संस्कार उसमें साहचर्य-भाव के रूप में सुरक्षित है। इन्हीं संस्क
में कवि प्रकृति के समक्ष अनुभूतिशील हो उठता है; और अप
कल्पना से काव्य-व्यंजना को रूप दान करता है। इस प्रकृति-काव्य
प्रकृति आलंबन होती है और कवि स्वयं ही भावों का आश्रय है।
काव्य की अभिव्यक्ति में यह आलंबन रूप विभिन्न प्रकार से
उपस्थित होता है। प्रकृति-आलम्बन की व्यापक स्थापना से भावों
को आधार मिल सकता है. और केवल आश्रय की मनःस्थिति में

भव सम्भव नहीं है। भट्ट नायक प्रत्यक्ष ज्ञान से ही रसास्वादन मानते हैं,
साथ ही उन्होंने शब्द में भोग व्यापार, और साधारणीकरण को प्रतिपादित
किया है। अभिनवगुप्त ने शब्द की व्यंजना-शक्ति से रसनिष्पत्ति का व्यापारी
करण व्यापार स्वीकार किया है।

भावों की व्यंजना उपस्थित कर प्रकृति का संकेतात्मक स्वरूप चित्रित किया जा सकता है। साथ ही आश्रय की स्थिति में कवि उसमें अपनी चेतना तथा भाव-स्थिति का प्रतिबिंब भी प्रस्तुत करता है। प्रकृति के इस आलंबन-रूप में विशेषता यह है कि इसमें आलंबन तथा आश्रय की भाव-स्थिति एक सम पर उपस्थित होती है। अगले भाग में हम देखेंगे कि संस्कृत काव्याचार्यों ने प्रकृति को आलंबन-रूप में स्वीकार नहीं किया है। इसकी विवेचना उसी स्थल पर की जा सकेगी।

§ ७—वनस्पति-जगत् का हलके-गहरे रंगों का छायातप, पक्षियों का स्वर-लय तरंगित संगीत, स्थिरता की दृढ़ भावना लिए आकाश में फैला हुआ पर्वत का महान् विस्तार, सरिता का निरन्तर गतिशील प्रवाह, गगन में फैली हुई उषा की अरुणाभा और रजनी का तारों से युक्त नीलाकाश, यह समस्त प्रकृति का शृंगार मानव के मन को भावों की सौन्दर्य स्थिति प्रदान करता है। कवि अपनी अन्तर्दृष्टि से प्रकृति के सौन्दर्य का अनुभव अधिक स्पष्ट करता है और अपनी स्वानुभूति को काव्य की अभिव्यक्ति का रूप देता है। कभी-कभी कवि कथानक के पात्रों में अपनी मनःस्थिति को अध्यन्तरित कर लेता है। परन्तु प्रकृति-सौन्दर्य के प्रति तल्लीनता की भावना भावात्मक गीतियों में ही अधिक सुन्दर रूप से उपस्थित होती है।

स्वानुभूत सौन्दर्य चित्रण

क—इन्द्रियों से संबन्धित प्रकृति-सौन्दर्य की गम्भीर अनुभूति के आह्लाद में इन्द्रिय-वेदना संबन्धी सुखानुभूति का ही आधार है। परन्तु कल्पना की गम्भीरता उसे सौन्दर्य का ऊँचा धरातल [illegible]। यह आह्लाद इन्द्रिय सुख संवेदना का ही [illegible]। इसकी अभिव्यक्ति के लिए कवि [illegible] की कल्पना [illegible] सुख की अनुभूति

आह्लाद-भाव

का योग भी उपस्थित करता है। यह सौन्दर्य के प्रति आह्लाद की भावना गम्भीर और सूक्ष्म कल्पना का आधार लेकर विभिन्न रूप ग्रहण करती है। इसमें पूर्व उल्लिखित विकास की पृष्ठ-भूमि प्रसंगवश यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि काव्य में प्रकृति-सौन्द के रूपों में एक दूसरे का प्रसार बहुत पाया जाता है। यहाँ विवेचन की दृष्टि से इनका अलग अलग वर्णन किया जा रहा है। प्रकृति के इस आह्लादित रूप में उसके रूप का चित्रण भी आधार रूप से रहता है।

ख—आह्लाद की भावना जब प्रकृति के रूपात्मक आधार को एक सीमा तक छोड़ देती है, वह इन्द्रिय सुखानुभूति से अलग सौन्दर्य की

आनन्दानुभूति

आनन्दानुभूति के रूप में व्यक्त होती है। इस प्रकृति रूप में कवि की अनुभूति ही अधिक है। प्रकृति का यह सौन्दर्य रूपात्मक नहीं वरन् भावात्मक साहचर आधार पर ही स्थित है इस प्रकृति के सौन्दर्य साहचर्य में स्वयं अपने को सजग पाता है और यह सजगता विभिन्न रूपों में आ व्यक्त होती है। इस आनन्द की स्थिति में कवि को प्रकृति जीवन औ सौन्दर्य दान देती है और सप्राण कर उल्लसित भी करती है। इस प्रेरणा के उल्लास में कवि अपने मन में स्थिति विभिन्न संचारियों तथा अनुभावों का वर्णन काव्य में करता है, प्रकृति-आलंबन का रू केवल रेखाओं में रहता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि आनन्दानुभूति की अभिव्यक्ति संचारियों के रूप में ही हो। इस अनुभूति का चित्रण कवि व्यंजनात्मक शैली में करता है और उस स्थिति में प्रकृति के रूपात्मक प्रयोगों का आश्रय लेता है। परन्तु प्रकृति का यह रूप अन्य रूपों के साथ अधिक प्रयुक्त होता है।

ग—आनन्दानुभूति की इस स्थिति के बाद प्रकृति-सौन्दर्य कवि के मानस में प्रतिष्ठित होकर आत्मतल्लीनता की स्थिति में अनुभूत होता है। यह सौन्दर्य-रूप कवि के मानस और प्रकृति के सम की

अभिव्यक्ति है। इस स्थिति पर कवि प्रकृति-सौन्दर्य की चेतना भूल जाता है और उसके मन में यह सौन्दर्य आनन्द के रूप में स्वयं अभिव्यक्ति की प्रेरणा बन जाता है। आनन्दानुभूति की यह आत्मतल्लीन स्थिति प्रकृति के सर्वचेतन-शील आधार पर है जो साहचर्य भाव की सहानुभूति से संबन्धित है। कवि की आत्मतल्लीन स्थिति में अन्य सभी भाव शांत होकर विलीन हो जाते हैं। इसकी अभिव्यक्ति में कवि शांत वातावरण उपस्थित करता है और रूपात्मक शैली का आश्रय लेता है जिसमें उल्लास के प्रतीक व्यापक तल्लीनता की व्यंजना करते हैं। प्रकृतिवादी रहस्या-नुभूति की आधार-भूमि भी यही है। कभी भावों के गम्भीर तथा शांत वातावरण में प्रकृति सौन्दर्य की आत्मलीन अनुभूति, अपनी उच्च आधार-भूमि के कारण रहस्यानुभूति लगती है।[८]

आत्मतल्लीनता

६८—कवि प्रकृति की अनुभूति के साथ अपने मानवीय जीवन का प्रतिबिंब भी समन्वित करता है। ऐसी स्थिति में प्रकृति में चेतना-शक्ति और भावों की छाया दिखाई देने लगती है। इस अभिव्यक्ति में प्रकृति मानवीय जीवन के सम पर जान पड़ती है। भारतीय साहित्य-शास्त्रियों ने इस आरोप को पूर्ण रसानुभूति नहीं स्वीकार किया वरन 'रसाभास' और 'भावाभास' के अन्तर्गत माना है। दूसरे भाग में संस्कृत काव्य-शास्त्र के साथ इसकी विवेचना की गई है। परन्तु यह संवेदनशील मनः

प्रतिबिंबित-सौन्दर्य चित्रण

८—प्रकृति का यह आलंबन-रूप प्रकृतिवादी काव्य तथा गीतियों में उपस्थित होता है। आगे आलोच्य युग में हम देखेंगे कि इस प्रकार के काव्य-रूपों का अभाव है। इसके न होने के कारणों की विवेचना 'आध्यात्मिक साधना में प्रकृति' नामक प्रकरणों के प्रारम्भ में की गई है। और यह रूप जिस प्रकार इन साधना में अध्यन्तरित स्थिति में मिलता है, इसका उल्लेख इन्हीं प्रकरणों में यथा-स्थान किया गया है।

स्थिति रसात्मक आनन्द के समान है। इसमें प्रकृति मान प्रतिबिंब के रूप में भावों का आलंबन है। आश्रय की भाव-स्थि का आरोप इस पर होता है परन्तु इस स्थिति में आश्रय के भावों भिन्न कोई आलंबन नहीं है। आश्रय के रूप में कवि की मनःस्थि अपने भावों का आलंबन इस सीमा में स्वयं होती है। फिर प्र पर प्रतिबिंबित होकर वह भाव-स्थिति अपने आश्रय का ही आलं बन जाती है। उद्दीपन के प्रकृति-रूप में और इस रूप में थोड़ा ही है। जब भावों का आलंबन कोई दूसरा व्यक्ति होता है उस समय स्थिति में प्रकृति आश्रय के भावों को उद्दीप्त करती है।

क—मानव प्रकृति को अपनी चेतना के आधार पर ही समझ है। इस कारण प्रकृति की समानान्तर स्थितियों में अपनी जीवन शक्ति का आरोप कवि के लिए सरल और स्वाभावि

सचेतन

है। कवि अपनी अभिव्यक्ति में प्रकृति के गतिशी और प्रवाहित रूपों को सजीव और सप्राण कर देता है। काव्य इस रूप में प्रकृति अपने आप में लीन और क्रियाशील उपस्थित होत है, परन्तु यह मानवीय चेतना का प्रतिबिंब ही है। इस स्थिति में प्रकृति व्यापक चेतना के प्रवाह से ही सप्राण जान पड़ती है जो समान रूप से परिवर्तन और गति की शक्ति के रूप में स्थित है। काव्य की इस अभिव्यक्ति में—हिलती हुई पत्तियों में प्राणों का स्पन्दन है, बहती हुई सरिता में जीवन का प्रवाह है, पवन में शक्ति का वेग है और आकाश के चमकते तारों में जीवन की चमक है। कवि इस रूप को उद्दीपन के अन्तर्गत भी रख सकता है। इस स्थिति में कवि शक्ति या जीवन का आवाहन प्रकृति से करेगा लेकिन यह प्रेरणा किसी दूसरे आलंबन के संबन्ध को लेकर होगी।

ख—मानव चेतना के साथ प्रकृति मानवीय जीवन के रूप में भी अभिव्यक्त होती है। कवि प्रकृति के विभिन्न रूपों और व्यापारों में व्यापक चेतना के स्थान पर व्यक्तिगत जीवन का आरोप करता है।

और इस प्रकार प्रकृति व्यक्तिगत जीवन के संबन्धों में स्थिर होकर हमारे सामने उपस्थित होती है। प्रकृति के क्रिया-

मानवीकरण

कलापों में मानवीय जीवन व्यापार की झलक व्यक्त होती है। प्रकृति के मानवीकरण की भावना में पशु पक्षी जगत् तो मानवीय सबन्धों में व्यवहार करते प्रकट ही होते हैं, वनस्पति तथा जड़ जगत् भी व्यक्ति विशेष के समान उपस्थित होता है। कवि की भावना में वृक्ष पुरुष के रूप में और लता स्त्री के रूप में एक दूसरे को आलिंगन करते जान पड़ते हैं। सरिता प्रियतमा के रूप में नीरनिधि से मिलने को आकुल दौड़ रही है। पुष्प उत्सुक नेत्रों से किसी की प्रतीक्षा करते हैं। इस प्रकार मानव के व्यक्तिगत जीवन और संबन्धों के साथ प्रकृति में मानवीय आकार के आरोप की भावना भी प्रचलित है। साहचर्य के आधार पर व्यापक प्रतिबिंब के रूप में प्रकृति का सौन्दर्य-रूप तो आलंबन है परन्तु आकार के आरोप के साथ शृंगारिक भावना अधिक प्रबल होती गई है और इस सीमा पर यह प्रकृति का मानवीकरण रूप शृंगार का उद्दीपन-विभाव समझा जा सकता है। इसमें आलंबन प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में हो सकता है। अप्रत्यक्ष आलंबन रूप प्रेयसी के होने पर प्रकृति का आरोप ही प्रत्यक्ष आलंबन का कार्य करता है। इस सीमा पर प्रकृति का आलंबन रूप मानवीकरण तथा इस प्रकृति के उद्दीपन रूप में बहुत कुछ समानता है।

ग—वस्तुतः कवि अपनी अभिव्यक्ति तथा वर्णनों में इन विभिन्न रूपों को अलग अलग करके नहीं चलता। वह अपने चित्रण में इन मुख्य रूपों को कितने ही प्रकार से मिश्रित कर देता

भाव-साम्य

है और इन मिश्रित योगों के अनेक भेद किए जा सकते हैं। परन्तु उनको उपस्थित करना न तो यहाँ आवश्यक है और न सम्भव ही। मानवीकरण के अनन्तर, इसीसे संबन्धित प्रकृति के एक रूप का उल्लेख और किया जा सकता है। मानवीय क्रिया-

व्यापारों के बाद मानवीय भावों का स्थान है। प्रकृति इनका भी प्रतिबिंब ग्रहण करती है और वह मानवीय भावों में मग्न जान पड़ती है। कवि अपनी कल्पना में विभिन्न भावों को प्रकृति पर प्रतिष्ठित करता है और यह उसी के भावों का प्रसरण मात्र है। इसलिए भाव-मग्न प्रकृति आश्रय (कवि) के भावों को प्रतिबिंबित करती हुई स्वयं आलंबन हो है। व्यापक सहानुभूति से प्रकृति-सौन्दर्य के आश्रय पर जो भाव कवि के मन में उत्पन्न होते हैं, उन्हीं को वह प्रकृति पर प्रसरित कर देता है और इस प्रकार साहचर्य-भावना से प्रकृति हमारे विभिन्न भावों का आलंबन हो सकती है। काव्य में प्रकृति के विभिन्न रूप हमको चिन्तित, आशान्वित और करुणासिक्त लगते हैं। प्रकृति का यह रूप स्वतंत्र आलंबन के समान उपस्थित होता है, पर पिछली मनःस्थिति के समानान्तर या वर्तमान किसी भिन्न भाव-स्थिति का सहायक होकर उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत आ जाता है। हम देख चुके हैं कि पिछले प्रकृति-रूप में भी आलंबन से उद्दीपन की सीमा में जाने की प्रवृत्ति है। इसका प्रमुख कारण यह है कि हमारी भाव-स्थिति अधिकतर मानवीय संबन्धों को लेकर है। संस्कृत काव्य-शास्त्र की विवेचना के अन्तर्गत इस बात को अधिक स्पष्ट किया गया है।[1]

उद्दीपन-रूप प्रकृति

१६—अभी तक काव्य में प्रकृति के उन रूपों का वर्णन किया

---

[1] इस प्रकार के प्रकृति-रूप थोड़े से विभेद के कारण आलंबन से उद्दीपन के अन्तर्गत आते हैं। इसी कारण दूसरे भाग के 'विभिन्न काव्य-रूपों में प्रकृति' तथा 'उद्दीपन विभाव में प्रकृति' नामक प्रकरणों में काव्य-रूपों या आलंबन तथा उद्दीपन को लेकर स्पष्ट भेद नहीं किया जा सका है।

गया है जिसमें कवि अपनी भावस्थिति में प्रकृति के समक्ष रहता है।

मानव-काव्य

परन्तु काव्य का विस्तार मानवीय भावों में है जो मानवीय संबन्धों में ही स्थित है। इस कारण साहित्य में मानव काव्य ही प्रधान होता है। वैसे तो प्रकृति-काव्य में भी कवि की व्यक्तिगत भावना ही प्रधान रहती है। परन्तु जब किसी स्थायी-भाव का अन्य कोई प्रत्यक्ष आलंबन होता है, उस समय प्रकृति उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत ही विभिन्न रूपों में उपस्थित होती है। प्रकृति के सम्पर्क से रूप या परिस्थिति आदि के संयोग से मानवीय आलंबन प्रत्यक्ष हो जाता है, अथवा उससे संश्लिष्ट भावों को उद्दीपन की प्रेरणा प्राप्त होती है। आश्रय की किसी विशेष भाव-स्थिति में प्रकृति अपनी साहचर्य भावना के कारण आलंबन विषयक किसी संबन्ध में उपस्थित होती है और प्रकृति में यह भावना आश्रय की मनःस्थिति से संबन्धित है। इस प्रकार प्रकृति की उद्दीपन शक्ति उसके सौन्दर्य और साहचर्य के साथ परिस्थिति के संयोगों पर भी निर्भर है। प्रबन्ध काव्यों में प्रकृति कथानक की परिस्थिति और घटनास्थिति आदि के रूप में चित्रित होकर उपयुक्त मनःस्थिति का वातावरण उपस्थित करती है। परन्तु जैसा पिछले विभाग में विचार किया है प्रकृति के इस रूप तथा पिछले आलंबन रूप में बहुत सूक्ष्म भेद है।

§१०—पिछले प्रकरणों की व्याख्या में हम देख चुके हैं कि प्रकृति से मानव का चिरंतन संबन्ध चला आ रहा है। उसके सौन्दर्य में

मानवीय भाव और प्रकृति

मानवीय साहचर्य भावना की स्थायी रूप से प्रवृत्ति बन गई है। प्रकृति की परिस्थितियाँ भी मानव की परिचयात्मक स्मृति हैं। ऐसी स्थिति में मानव किसी भी मनःस्थिति में हो वह प्रकृति से सम स्थापित कर सकता है साथ ही उससे भावात्मक प्रेरणा भी प्राप्त कर सकता है। अगर आश्रय में भाव की स्थिति अन्य आलंबन को लेकर होगी तो वह उस भाव को ग्रहण करती विदित होगी और इस सीमा पर वह विभिन्न

रूपों में उद्दीपन का कार्य करती है।

क—जब आश्रय के मन में भाव किसी आलंबन को लेकर छिपा रहता है और ऊपर प्रकट नहीं होता, उस समय प्रकृति उस भाव की

मनःस्थिति के समानान्तर

मनःस्थिति के समानान्तर लगती है। उसका यह समानान्तर स्वरूप मनःस्थिति का संकेत भर देता है। इस प्रकृति-रूप में केवल भावों की रुकी हुई उमस का वर्णन होता है। इस रूप में प्रतिबिंबित प्रकृति-स्वरूप की चेतना सन्निहित है। इनमें भेद केवल इतना है कि उसमें सम्पूर्ण जीवन की व्यापक अभिव्यक्ति प्रकृति पर छायी रहती है और इस प्रकृति के रूप में मनःस्थिति की अज्ञात भावना का संकेत भर मिलता है। बहती हुई सरिता में यदि उत्कंठा की भावना व्यक्त होती हो अथवा घुमड़ते हुए बादलों में हृदय की उमड़न की ध्वनि हो और यह भी किसी परदेशी की स्मृति को लेकर, तो यह उद्दीपन का रूप ही समझा जा सकता है। क्योंकि प्रकृति के इस रूप में अज्ञात भावना को प्रत्यक्ष में लाने का प्रयास छिपा है।

ख—इसके अनन्तर प्रकृति का सम्पर्क व्यक्त तथा अव्यक्त भावों को प्रदीप्त करता है। यह उद्दीपन की प्रेरणा कभी अव्यक्त-भाव को

भावोद्दीपक रूप

ऊपर लाकर अधिक स्पष्ट रूप प्रदान करती है और कभी व्यक्त भाव को अधिक तीव्र कर देती है। वसन्त का प्रसार एक ओर रति की भावना जाग्रत करता है, दूसरी ओर विरही-जनों की उत्कंठा को और भी बढ़ा देता है। इस प्रकार इसमें उद्दीप्त होकर रति और उत्कंठा का भाव प्रकृति के साथ एक रूप बन जाता है। भाव निर्माण का यह व्यापार साम्य तथा विरोध के आधार पर ही चलता है। कभी प्रकृति का उल्लास मन के सम पर उसे उत्तेजित करता है और कभी उसकी व्यथा के विरोध में उसे अधिक तीव्र करता है। प्रकृति का रूप कभी हमारे भावों से विरोध सा जान पड़ता है; इसमें भी साहचर्य भावना की उपेक्षा के रूप में भावों

का यह प्रभावित करती है। परन्तु इस प्रकार का संबन्ध कथानक की पृष्ठ-भूमि के रूप में ही अधिक सम्भव है।

ग—यहाँ तक प्रकृति के सीधे उद्दीपन-रूप की विवेचना हुई है। परन्तु मानवीय भावों की अभिव्यक्ति में साम्य उपस्थित कर प्रकृति उद्दीपन के अन्तर्गत आती है। भावों की अभिव्यक्ति के साथ प्रकृति का वर्णन विभिन्न रूपों में किया जा सकता है। भावों के साथ प्रकृति का रूप इन्हीं भावों

अप्रत्यक्ष आलंबन रूप आरोप

को ग्रहण करके फिर उन्हीं को उद्दीप्त करने लगता है। कभी भाव अप्रत्यक्ष आलंबन के स्थान पर प्रत्यक्ष आधार लेकर व्यक्त होता है और कभी कभी भावों की व्यंजना प्रकृति में आरोप के सहारे अधिक तीव्र हो जाती है। इसी के अन्तर्गत प्रकृति से आलंबन विषयक साहचर्य संबन्ध स्थापना की भावना है। अपनी भावाभिव्यक्ति में पात्र या स्वयं आश्रय रूप में कवि प्रकृति के रूपों को कभी दुःख मान लेता है और कभी प्रिय सखा। इस प्रकृति रूप के आधार में भी साम्य तथा विरोध की भावना है; वस्तुतः विरोध में भी साम्य का एक रूप ही है।[१०]

§११—कथानकों की साधारण परिस्थितियों तथा घटना स्थितियों को उपस्थित करने के लिए कवि प्रकृति का वर्णन करता है। परन्तु यह चित्रण केवल वस्तु-स्थिति ही सामने नहीं उपस्थित करता; कवि इसमें भाव ग्रहण कराने की प्रेरणा भी सन्निहित करता है। वह

भावों की पृष्ठभूमि में प्रकृति

वर्णन की व्यंजना में आगामी भावों को उद्बोधित करता है अथवा उस चित्रण में ही भावात्मक वातावरण उपस्थित करता है। साधारण वस्तु स्थिति का चित्रण वर्णन का सरल रूप है और इसको तो आलं-

१०—प्रकृति-रूप के इस भेदों को दूसरे भाग के 'उद्दीपन विभाव' में [illegible] [illegible] [illegible] में [illegible] [illegible] किया गया है।

इस उपेक्षा से मानवीय भाव-स्थिति को उत्तेजना मिलती है। इतना ही नहीं प्रकृति की कठोरता और भयंकरता का साथ मनःस्थिति के लिए उद्वेगजनक है; यह स्थिति की बाधा विरोध का ही एक रूप है।[११]

रहस्यानुभूति में प्रकृति

§१२—प्रकृति के आलंबन-रूप की विवेचना करते समय आनन्दानुभूति तथा आत्म-तल्लीनता का उल्लेख किया गया है। यह हमारी सर्वचेतन भावना का परिणाम है, जो साधारण रूप से प्रकृति में व्यापक है। इसमें अभिव्यक्ति की भाव-गम्भीरता में रहस्यानुभूति का रूप जान पड़ता है। परन्तु रहस्य की भावना में साधक अपने प्रिय की साधना करता है और लौकिक प्रेम को व्यापक आधार देकर अपने अव्यक्त प्रिय से मिलन प्राप्त करना चाहता है। इस प्रेम का व्यापक आधार देने के लिए साधक प्रकृति की प्रसरित चेतना में अपने प्रेम के प्रतीक ढूँढ़ता है। रहस्यवादी साधक अपनी अनुभूति के लिए उससे प्रतीक अवश्य ढूँढ़ता है; परन्तु उसे आलंबन मान कर अधिक दूर तक नहीं चलता। प्रकृतिवादी रहस्यवादी इसके सौन्दर्य को अपने प्रेम का आधार तो मानते हैं; परन्तु केवल इस सौन्दर्य के माध्यम से चरम-सौन्दर्य की अनुभूति प्राप्त करने के लिए। इस प्रकार प्रकृति उनके प्रेम का आलंबन है तो केवल प्रेम को व्यापक रूप देने के लिए है। इस प्रकार रहस्यवाद की सीमा में प्रकृति कुछ दूर तक ही आलंबन कही जा सकती है और जब प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रेम का आधार अन्य प्रेमी आलंबन हो जाता है उस समय वह उद्दीपन के अन्तर्गत ही आती है।

(प्रतीक और सौन्दर्य)

---

११ २४ तक से सम्बन्धित होने के कारण प्रकृति के इन उद्दीपन-रूपों को विभिन्न काव्य-रूपों के अन्तर्गत ले लिया गया है।

आश्रय लेता है। रूप के साथ भाव की व्यंजना के लिए इसी प्रकार
के आलंकारिक प्रयोगों की सहायता ली जाती है। चित्रों का यह रूप
और व्यंजना अधिक कलात्मक कही जा सकती है। इन रूपों में
मानवीय जीवन के माध्यम से भाव-व्यंजना तो की जाती ही है साथ
ही मानव के रूप में प्रकृति-सौन्दर्य की कल्पना भी होती है।

ग—इस कलात्मक शैली में जब कल्पना के सहारे कवि प्रकृति
को नवीन रंग-रूपों तथा नवीन प्रयोगों में उपस्थित करता है, तो वह

आदर्श-चित्रण तथा रूढ़िवाद

आदर्शात्मक चित्रण कहा जा सकता है। प्रकृति
का यथार्थ काव्य के लिए आधार अवश्य है, परन्तु
वह उसकी सीमा नहीं कहा जा सकता। काव्य-
कल्पना में प्रकृति की उद्भावना आदर्श के रूप में हो सकती है।
वस्तुतः यथार्थ प्रकृति में रंग रूपों की जो विभिन्नता तथा उसके
सूक्ष्म भेद हैं उसका कोई भी कलाकार नहीं उपस्थित कर सकता।
इसी कारण प्रकृति के चित्रों को सजीव रूप प्रदान करने के लिए
आदर्श रंग-रूप आदि के प्रयोगों की आवश्यकता है। इस आदर्श-
कल्पना के चित्रणों को अस्वाभाविक नहीं माना जा सकता। कवि
जिस प्रकार यथार्थ रूपों के सहारे अपनी अभिव्यक्ति के चित्र उतारने
का प्रयास करता है, उसी प्रकार वह आदर्श का आश्रय लेकर भी
इसी उद्देश्य की पूर्ति करता है। आगे चलकर यही आदर्श परम्परा
तथा रूढ़ि में परिवर्तित होकर भद्दी प्रवृत्ति का परिचय देता है। लेकिन
यह रूढ़िवाद काव्य का पतन है और कवि की व्यक्तिगत कमज़ोरी है।

घ—प्रत्येक साहित्य की परम्परा में एक स्वर्ग की कल्पना है, जो
विभिन्न संस्कृतियों के अनुसार आदर्श कल्पनाओं का चरम है। इस

स्वर्ग की कल्पना

स्वर्ग में प्रकृति की आदर्श-कल्पना का चरम नन्दन
वन के रूप में स्थित है। प्रत्येक कवि अपने वर्णनों
में इससे रूप आदि की कल्पना ग्रहण करता है। इस पृथ्वी पर सुन्दर
का रूप जो काल्पनिक है, स्वर्ग में वह प्रत्यक्ष की वस्तु है। इस स्वर्ग

के नन्दन-वन में चिर वसन्त है, न झरने वाले फल-फूल हैं तथा मन चाही इच्छा पूर्ण करने वाला कल्पतरु है। स्वर्गीय कल्पना के रूप निश्चित आदर्शों पर युगों से चले आ रहे हैं। इसमें मानवीय कल्पना का सत्य सन्निहित है इस कारण युग युग के कवियों ने इस स्वर्ग की उद्भावना की है और वे इससे रूप ग्रहण करते रहे हैं। इनके अतिरिक्त अन्य चित्रों में भी इसके सौन्दर्य रूपों का प्रयोग उपमानों की योजना में हुआ है और इनके प्रयोग से कल्पना को अधिक व्यापक तथा स्पष्ट रूप मिल सका है। रूढ़ि के अन्तर्गत इन रूपों के साथ भी अन्याय हुआ है।[13]

प्रकृति का व्यंजनात्मक प्रयोग

§१४—काव्य के अन्तर्गत भाषा की भावाभिव्यक्ति और शब्द के रूप तथा भाव व्यंजक शक्ति का उल्लेख किया गया है। यह भी कहा गया है कि शब्द वर्तमान रूप में नामात्मक अधिक है, उसमें रूप तथा भाव की व्यंजना शक्ति कम है

व्यंजना और उपमान

काव्य में रूप और भाव की व्यंजना ही प्रधान है, नाम तो विचार और तर्क के लिए उपयुक्त है। काव्य की यह व्यंजना-शक्ति वर्णन-चमत्कार पर तो निर्भर है ही, परन्तु इसमें अलंकार भी सहायक होते हैं। वर्णनात्मक व्यंजना का एक रूप अलंकार भी है। वैसे पहले ही उल्लेख किया गया है कि एक प्रकार का आलंकारिक प्रयोग व्यंजना के अन्तर्गत आता है। परन्तु साम्य और विरोध के संयोग उपस्थित कर अधिकांश उपमा-मूलक अलंकार एक प्रकार से रूप या भाव की व्यंजना ही करते हैं और अलंकारों में रूप तथा

१३—मध्य-युग के सम्बन्ध में चरण के दृष्टि रूप से हम देखेंगे कि संदिग्ध चित्रण से भावक कल्पनाओं को प्रश्रय है तथा ...गत चित्रों कथिक रूढ़ि का पालन मिलता है।

द्वितीय भाग

हिन्दी साहित्य का मध्ययुग

(प्रकृति और काव्य)

प्रथम प्रकरण

काव्य में प्रकृति की प्राचीन परम्परा

(मध्ययुग की पृष्ठभूमि)

काव्य और काव्य शास्त्र

§ १—हिन्दी साहित्य का मध्ययुग अपनी काव्य संबन्धी प्रवृत्तियों के क्षेत्र में अपने से पहले की साहित्यिक परम्पराओं से प्रभावित हुआ है, जैसा कि स्वाभाविक है। अगले प्रकरण में हम इस युग की कुछ अन्य स्वच्छंद प्रवृत्तियों पर विचार करेंगे जिसका मूल अपभ्रंश के काव्यों में भी मिलता है। परन्तु काव्य के प्रमुख आदर्शों को प्राकृत तथा अपभ्रंश के साहित्य के समान हिन्दी साहित्य ने भी संस्कृत साहित्य के काव्य से ग्रहण किया है। ऐसी स्थिति में अपने मुख्य विषय में प्रवेश करने के पूर्व संस्कृत साहित्य के काव्य और प्रकृति संबन्धी मतों की व्याख्या करना आवश्यक है। प्रथम भाग में इस बात का उल्लेख किया गया है कि मानवीय कल्पना के विकास में प्रकृति का सहयोग रहा है।

कला और काव्य का आधार भी कल्पना है इस कारण प्रकृति से इनका सहज संबन्ध सम्भव है।' काव्य-शास्त्र काव्य के रूप, भाव और आदर्शों की व्याख्या करता है और इसलिए उसमें काव्य तथा प्रकृति के संबन्धों की विवेचना भी मिलती है। काव्य-शास्त्र की विवेचना में प्रकृत संबन्धी उल्लेख गौण ही रहते हैं, फिर भी उनका महत्त्व कम नहीं है। इन संकेतों में काव्य में प्रचलित प्रकृति-रूप की परम्पराएँ छिपी रहती हैं। साथ ही शास्त्रीय विवेचना की प्रवृत्तियों से आगे का साहित्य पूरी तरह से प्रभावित होता है। संस्कृत काव्य-शास्त्र की व्याख्या में उसके साहित्य के प्रकृति-रूपों की प्रवृत्तियों का ज्ञान हो जाता है और जो काव्य-ग्रंथ शास्त्रीय आदर्शों की प्रेरणा ग्रहण करते हैं उनके प्रकृति रूप तो शास्त्रीय विवेचना से अत्यधिक प्रभावित होते हैं। हिन्दी साहित्य के मध्ययुग में भक्ति-काव्य ने परम्परा के रूप में और रीति-काव्य ने सिद्धान्त के रूप से भी, संस्कृत काव्य के अनुसरण के साथ उसके शास्त्रीय आदर्शों का पालन भी किया है। इस अनुसरण का अर्थ अनुकरण नहीं मानना चाहिए। मध्ययुग के काव्य में अनेक स्वतंत्र प्रवृत्तियों का विकास हुआ है, जिन पर विचार किया जायगा। लेकिन मध्ययुग ने अपने से पूर्व के काव्य और काव्य-शास्त्र से क्या प्रभाव ग्रहण किया, इसको समझने के लिए आवश्यक है कि हम संस्कृत काव्य-शास्त्र तथा काव्य दोनों में प्रकृति-रूपों पर विचार कर लें।

काव्य-शास्त्र में प्रकृति

§२—काव्य-शास्त्र के आदर्शों के विषय में प्राच्य और पाश्चात्य शास्त्रियों का मत वैषम्य है। आदर्शों के मौलिक भेद के कारण इनके काव्य में प्रकृति संबन्धी मत भी भिन्न हैं। भारतीय आचार्यों ने प्रारम्भ से काव्य को 'शब्दार्थौ काव्यं' के रूप में स्वीकार किया है। संस्कृत के

काव्य का मनस्-परक विरुद्ध-पक्ष

आदि आचार्य की इस काव्य संबन्धी व्याख्या को सभी परवर्ती आचार्यों ने माना है। 'शब्द' और 'अर्थ' के समन्वय को काव्य मानने में संस्कृत के काव्य-शास्त्रियों का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है। 'शब्द' के द्वारा भाषा के रूपात्मक अनुकरण (मानसिक) की ओर संकेत है और साथ ही अर्थ की व्यापक सीमाओं में अभिव्यक्ति का रूप है। 'शब्द' की रूपात्मकता में और अर्थ की व्यंजना में अनुभूति की भावना भी सन्निहित है; क्योंकि कवि की स्वानुभूति के बिना 'शब्द-अर्थ' की कोई स्थिति ही नहीं स्वीकार की जा सकती। परन्तु संस्कृत काव्य-शास्त्र में कवि की इस स्वानुभूति रूप काव्य के मनस्-परक पक्ष की अवहेलना की गई है। इसके विपरीत पश्चिम में काव्य के मनस-परक विषयि पक्ष की ही अधिक व्याख्या हुई है। प्लेटो ने काव्य की विवेचना वस्तु-रूप में की थी, परन्तु अरस्तू ने काव्य और कला को 'अनुकरण' के रूप में स्वीकार किया है। यह 'अनुकरण' साधारण अर्थ में प्रकृति के रूप-सादृश्य से संबन्धित है, परन्तु वस्तुतः इसका अर्थ मानसिक अनुकरण है। आगे चल कर यही 'अनुकरण' कवि की स्वानुभूति की अभिव्यक्ति के रूप में ग्रहण किया गया है। इसमें काव्य के मनस-परक विषयि पक्ष रूप कवि की मनःस्थिति का अधिक महत्त्व है। काव्य के वस्तु-परक विषय पक्ष को गौण स्थान दिया गया। क्रोचे के अभिव्यंजनावाद में इसी स्वानुभूति की अभिव्यक्ति की व्यापक विवेचना की गई है। महाद्वीप (योरप) और इंगलैण्ड के स्वच्छंदवादी युग के आधार में काव्य के इसी सिद्धान्त की प्रधानता थी और इस युग के गीतात्मक प्रकृतिवाद को प्रेरणा भी इसी से मिली है।[1] परन्तु भारतीय काव्य-शास्त्र में अभिव्यक्ति को रूपात्मक मानकर आचार्यों ने 'शब्द-अर्थ' दोनों को 'काव्य-शरीर'

---

१ इंगलैंड में क्रोचे के सिद्. . . . . . ेद ली
कॉलिन ने . .

माना है।[२] इस प्रकार व इनके दृष्टिकोण में स्पष्ट अन्तर है, क्योंकि इन्होंने 'काव्य आत्मा' को स्वीकार किया है परन्तु इन आचार्यों का ध्यान काव्य विषय के वस्तु-रूप पर ही अधिक रहा है। इसका एक कारण है। भारतीय आचार्यों में विश्लेषण की प्रवृत्ति अत्यधिक रही है और विश्लेषण के क्षेत्र में भाव और अनुभूति भी वस्तु और रूप का विषय बन जाते हैं। बाद में ध्वनिवादियों और रसवादियों ने काव्य की अभिव्यक्ति में 'आत्मा' को भी स्थान देने का प्रयास किया है। परन्तु यह तो काव्य की पाठकों पर पड़नेवाली प्रभावशीलता से ही संबन्धित है। इसमें कवि की मनःस्थिति का स्पष्ट समन्वय नहीं है। काव्य भाव की किस प्रकार की मानसिक प्रेरणा की अभिव्यक्ति है, इस ओर इन्होंने ध्यान नहीं दिया है। इस विषय में डा० सुशील कुमार दे का कथन महत्त्वपूर्ण है—"भारतीय सिद्धान्तवादियों ने अपने कार्य के एक महत्त्वपूर्ण अंग की अवहेलना की है। यह काव्य विषय की प्रकृति को कवि की मनःस्थिति के रूप में समझ कर परिभाषा बनाने का कार्य है, जो पाश्चात्य सौन्दर्य-शास्त्र का प्रमुख विषय रहा है।"[३] इस उपेक्षा का कारण भारतीय काव्य-शास्त्र का सूक्ष्म और शुष्क विवेचनात्मक दृष्टिकोण तो है ही, साथ ही भारतीय काव्य-कला की चिरन्तन आदर्श-भावना भी है।[४] इस विषय में संस्कृत के आचा

---

२ भामह (प्र० २१) दण्डी (प्र० १०)

तैः शरीरञ्च काव्यानामलङ्कारश्च दर्शितः।
शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली॥

३ संस्कृत पोइटिक्स; भाग २ पृ० ६५

४ इस विषय में लेखक का 'संस्कृत काव्य-शास्त्र में प्रकृति का रूप' नामक लेख देखना चाहिए। भारतीय काव्य और कला का आदर्श वह साहचर्य-भाव है जो कवि के बाह्य अनुभव का फल न होकर आन्तरिक समाधि पर निर्भर है। जिसके लिए आत्म-संस्कार और आत्म-योग की आवश्यकता है।

बिलकुल अनभिज्ञ हों, ऐसा नहीं है। डा० दे ने भी स्वीकार किया है कि 'स्वभावोक्ति' और 'भाविक' अलंकारों में जो अलंकारत्व है, वह वस्तु और काल की स्थितियों को लेकर कवि की मनःस्थिति पर ही स्थिर है। भामह और कुन्तल 'वक्रोक्ति' से हीन काव्य नहीं मानते, परन्तु दण्डी ने इस सत्य की उपेक्षा नहीं की है और 'स्वभावोक्ति' को अलंकार स्वीकार किया है। इन दोनों अलंकारों में कवि की वस्तु और काल विषयक सहानुभूति स्वयं अलंकृत हो उठती है। इनके अतिरिक्त काव्य-शास्त्र में कुछ और भी संकेत हैं जिनमें कवि की भावात्मक मनःस्थिति का समन्वय पाया जाता है, कदाचित डा० दे ने इस ओर ध्यान नहीं दिया।

३—विचार करने से 'वक्रोक्ति' में भी इसी बात का संकेत मिलता है। भामह ने 'वक्रोक्ति' अथवा 'अतिशयोक्ति' को अलंकार का प्रयोजन माना है। कुन्तल ने इसी आधार पर 'वक्रोक्ति' को अधिक विकसित रूप प्रदान किया है। कुन्तल ने 'अतिशय' और 'चमत्व' के भाव में जो वैचित्र्य और विच्छित्ति (सौन्दर्य) का उल्लेख किया है उसमें पाठक पर पड़नेवाले प्रभाव के अतिरिक्त कवि की मनःस्थिति का संकेत है।[५] अभिव्यक्ति के सौन्दर्य या वैचित्र्य के स्रोत की ओर ध्यान देने पर कवि की अनुभूत मनःस्थिति अवश्य सम्मुख आती। उस समय प्रकृति सौन्दर्य और भाव-सौन्दर्य की अनुभूति के माध्यम से अभिव्यक्ति का काव्यानन्द की परम्परा में अधिक उचित सामञ्जस्य होता। परन्तु यह तो 'वैदग्ध्यभङ्गी भणितिः' के रूप में आलंकारिक दूर की सूझ का कारण बन गया।[६] फिर भी इन काव्य शास्त्रियों का वैचित्र्य और

संस्कृत काव्य-शास्त्र में इसका उल्लेख

५—वक्रोक्तिजीवित (पृ० ३)

लोकोत्तरचमत्कारिवैचित्र्यसिद्धये ।

काव्यस्यायमलंकारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते ॥

६ वक्रोक्तिजीवित; कुन्तल : पृ० ११.

सौन्दर्य संबन्धी उल्लेख करते इस बात का साक्षी है कि इन्होंने कवि और कलाकार की अनुभूतिशील मनःस्थिति की एकान्त उपेक्षा नहीं की है। इस विषय में एक उल्लेखनीय बात और भी है। लगभग सभी आचार्यों ने काव्य की अभिव्यक्ति के लिए कवि-प्रतिभा को आवश्यक माना है, यद्यपि इनके लिए काव्य निर्माण का विषय ही रहा है। भामह और दण्डी इसको 'नैसर्गिक' कहते हैं और 'सहज' मानते हैं। वामन 'प्रतिभा में ही काव्य का स्रोत है' स्वीकार करते हैं और उसे मस्तिष्क की 'सहज-शक्ति' के रूप में मानते हैं। मम्मट इसी के लिए अधिक व्यापक शब्द 'शक्ति' का प्रयोग करते हैं। अभिनव इसको 'नवनिर्माणशालिनि प्रज्ञा' कहते हैं, जो 'भाव-चित्र' और 'सौन्दर्य-सृजन' में कुशल होती है। आदि आचार्य भरत ने भी इस कवि की आन्तरिक भावना 'अन्तर्गत भाव' के रूप में स्वीकार किया है।* इस 'प्रतिभा' के अन्तर्गत भी कवि की मनःस्थिति आ जाती है। कवि प्रतिभा से ही अपनी अनुभूतियों के आधार पर सादृश्य-भावना की काल्पनिक अभिव्यक्ति करता है। परन्तु आचार्यों ने 'प्रतिभा' को अनुभूति से अधिक प्रज्ञा के निकट समझा है। यद्यपि भारतीय आत्म-ज्ञान की सीमा में अनुभूति का विलय हो जाता है, परन्तु ज्ञान के प्रसार में विश्लेषणात्मक क्रियाशीलता है और अनुभूति की अभिव्यक्ति में संश्लेषणात्मक प्रभावशीलता। भरत का 'अन्तर्गत-भाव' कवि-प्रतिभा के मानसिक-पक्ष की अनुभूति से निकटतम है। इस प्रकार निश्चय ही संस्कृत के साहित्याचार्यों को काव्य के इस अनुभूति पक्ष का भान था और उसकी उपेक्षा का कारण आदर्श की विशेष प्रवृत्ति

सम.वैतावलंकारौ' तयोः पुनरलंकृतिः।
वक्रं क्रियेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते॥

* भामह; काव्यालंकार (प्र० ५); दण्डी; काव्यादर्श (प्र० १०३—४); वाम० काव्यालं०(प्र० १. १६)अभिनव;लोचन० (पृ० २९); भरत; नाट्यशास्त्र(पं०१११

मात्र है।

क—कारण कुछ भी हो परन्तु इस उपेक्षा के परिणाम स्वरूप उनके सामने भावात्मक गीतियों का रूप नहीं आ सका और साथ ही प्रकृति का उन्मुक्त स्वच्छंदवादी दृष्टिकोण भी नहीं ग्रहण किया जा सका।

उपेक्षा का परिणाम

वैदिक साहित्य के बाद संस्कृत तथा पाली आदि के साहित्य में गीतियों का विकास नहीं हुआ है और न उनमें स्वच्छंद प्रकृति का रूप आ सका है। परन्तु फिर भी जिन काव्यों पर काव्य की शास्त्रीय विवेचनाओं का प्रभाव नहीं है, उनमें प्रकृति सौन्दर्य नाना रूपों में चित्रित हुआ है। परन्तु शास्त्र-ग्रंथों के प्रभाव में बने हुए काव्यों में तो चित्रणों में भी सहज स्वाभाविक सौन्दर्य का अभाव है। हिन्दी साहित्य के मध्ययुग में शास्त्र-ग्रंथों का प्रभाव जम चुका था और इस कारण जिस सीमा तक इस युग का काव्य संस्कृत काव्य-शास्त्रों से प्रभावित है, उस सीमा तक उसमें प्रकृति का रूढ़िवादी स्वरूप ही मिलता है। इसी दृष्टि के फलस्वरूप संस्कृत में शास्त्रीय-ग्रन्थों की सूक्ष्म विवेचना के साथ ही कवि शिक्षा ग्रन्थों का भी निर्माण हुआ था। इस प्रकार के आचार्यों में क्षेमेन्द्र, राजशेखर, हेमचन्द्र और वाग्भट्ट प्रमुख हैं। इनके ग्रन्थों में काव्य विषयक शिक्षाएँ हैं। ये विभिन्न पूर्ववर्ती काव्यों के आधार पर लिखे गये हैं। इन ग्रन्थों से प्रकट होता है कि इन काव्य-शास्त्रियों ने किस सीमा तक काव्य को अभ्यास का विषय बना दिया है। इनमें प्रकृति-वर्णन संबन्धी विभिन्न परम्पराओं का उल्लेख हुआ है और कवि के लिये इन परम्पराओं से परिचित होना आवश्यक समझा गया है।[८] आगे के कवियों ने रूढ़ि के अर्थ में ही

---

८ इनको 'कवि समय' कहा गया है। राजशेखर की 'काव्य मीमांसा' इस विषय में सब से स्पष्ट और विशद ग्रन्थ है। चतुर्दश अध्याय में उन्होंने (१) जाति (२) द्रव्य (३) गुण (४) क्रिया के विभाग में इन समयों को रखा

इन परम्पराओं को अपना लिया है। मध्ययुग के काव्य में जो प्रकृति वर्णनों में उल्लेखों का रूढ़िवादी रूप मिलता है, वह इसी का परिणाम है।

§४—पहले भाग में संस्कृत आचार्यों की काव्य संबन्धी परिभाषाओं पर विचार किया गया है। इनमें कुछ का ध्यान अभिव्यक्ति की शैली पर केन्द्रित है और कुछ का अभिव्यक्ति के प्रभाव पर। वस्तुतः इनमें भेद ऊपर से ही है, वैसे इनमें एक दूसरे का अन्तर्भाव मिलता है। ये सभी परिभाषाएँ काव्य विषय और उसके अभिव्यक्त प्रभाव पर ही केन्द्रित हैं। आगे चलकर ध्वनि के अन्तर्गत रस ने अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है। रस सिद्धान्त वाद तक अपनी पूर्णता को प्राप्त करता रहा है। परन्तु आगे चलकर, रस निष्पत्ति के लिए जिन स्थायी भाव, विभाव अनुभाव तथा संचारियों का उल्लेख किया गया है, उन्हीं को मुख्य स्थान दिया जाने लगा। इसके विषय में यह रूढ़िवादिता भ्रामक है। रस निष्पत्ति में स्थायी भाव का आधार, विभाव, अनुभाव तथा संचारियों का संयोग तो मान्य है। परन्तु रस अपनी निष्पत्ति में इन सबसे सम्बन्धित नहीं है वह तो अपनी समस्त भिन्नता में एक है और अलौकिक आनन्द है। इसके अतिरिक्त स्थायी-भावों की संख्या इतनी निश्चित नहीं कही जा सकती। आवश्यक नहीं है कि संचारी अपनी अभिव्यक्ति की पूर्णता में भी रसाभास मात्र रहें, वे काव्यानन्द न प्रदान कर सकें। सौन्दर्य और शान्त भाव मानव के हृदय में इस प्रकार स्थिर हो चुके हैं कि उनको अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि तात्त्विक दृष्टि से

रस का व्याख्या

है। फिर स्थिति के अनुसार उनका (१) स्वर्ग (२) भौम (३) पाताल में विभाजन किया गया है और ये सब चमत्कार पूर्ण परम्पराएँ (१) ... निबंधन (२) ... और (३) नियमतः ... भिन्न भिन्न हैं। ... का वर्णन में सबसे ... हो सकता है।

विचार किया जाय तो ये रति और शम या निर्वेद के अन्तर्गत भी नहीं आ सकते। परन्तु इस ओर संस्कृत आचार्यों ने ध्यान नहीं दिया है। परिणाम स्वरूप इन दोनों भावों के आलंबन-रूप में आनेवाली प्रकृति साहित्य में केवल उद्दीपन रूप में स्वीकृत रही। मानव के मन में सौन्दर्य की भावना सामञ्जस्य का पक्ष है और यह भाव रति स्थायी-भाव का सहायक अवश्य है। परन्तु रति से अलग उसकी सत्ता न स्वीकार करना अतिव्याप्ति दोष है। उसी प्रकार शान्त केवल निर्वेद-जन्य संसार से उपेक्षा का भाव ही नहीं है, वरन् भावों की एक निरपेक्ष स्थिति भी है। सौन्दर्य भाव और शान्त भाव मनःस्थिति की वह निरपेक्ष स्थिति है जो स्वयं में पूर्ण आनन्द है। वस्तुतः अन्य रस भी अपनी निष्पत्ति की स्थिति में उसी धरातल पर आ जाते हैं जहाँ मनःस्थिति निरपेक्ष आनन्दमय हो जाती है। वह एक प्रकार से भाव-सौन्दर्य के आधार पर ही सम्भव है। इन भावों के आलम्बन-रूप में प्रकृति का बिखरा हुआ राशि राशि सौन्दर्य है, इससे अनुभूति ग्रहण कर कवि अपनी अभिव्यक्ति का एक बार स्वयं आश्रय बनता है और बाद में पाठ करते समय पाठक ही आश्रय होता है। हम कह चुके हैं कि इन भावों को आचार्यों ने स्थायी भाव नहीं माना है और साथ ही उनके विचार से प्रकृति केवल उद्दीपन विभाव में आती है। इस दृष्टिकोण का प्रभाव संस्कृत-साहित्य के प्रकृति रूपों पर तो पड़ा ही है, हिन्दी के मध्ययुग में भी प्रकृति का स्वतन्त्र रूप से उन्मुक्त चित्रण इसीशास्त्रीय परम्परा के पालन करने के फलस्वरूप नहीं हो सका है।

क—आचार्य भरत ने रस निष्पत्ति के लिए विभाव, अनुभाव और संचारियों का उल्लेख किया है। निष्पत्ति विषयक मतभेदों के होते हुए भी इस विषय में सभी आचार्य एक मत हैं।

उद्दीपन-विभाव

विभाव के अन्तर्गत ही उद्दीपन विभाव में प्रकृति का रूप आता है। कुछ आचार्यों ने उद्दीपन के चार भाग करके प्रकृति को तटस्थ स्वीकार किया है; इस प्रकार प्रकृति के विषय में उनका बहुत

भी संकुचित हुई है और इसका प्रभाव हमारे आलोच्य युग के काव्य पर भी पड़ा है।

आरोप

ख—इसी के साथ संस्कृत काव्याचार्यों की एक प्रवृत्ति का उल्लेख कर देना आवश्यक है। मनस् ही प्रकृति के रूपों को भावात्मकता प्रदान करता है और हम देख चुके हैं कि इस क्रिया प्रतिक्रिया में मानव अपने विचार को अलग नहीं कर सकता। यही कारण है कि जब वह प्रकृति-रूपों को भावों में ग्रहण करता है, प्रकृति अनुप्राणित ही उठती है और उसकी अभिव्यक्ति में वह मानवीय आकार में भी कभी कभी उपस्थित होती है। इस प्रकार के भावारोपों तथा आकार क्रिया आदि के आरोपों को साहित्य-शास्त्री रस के अन्तर्गत न लेकर 'रसाभास' और 'भावाभास' के अन्तर्गत मानते हैं।[१०] कहा गया है, रस अपने स्तर पर एक रस है, सम है उसमें कमी और अधिकता का प्रश्न व्यर्थ है। परन्तु आचार्यों को वर्गीकरण करना था और उनके सामने उनका दृष्टिकोण भी था। पर आनन्द में स्तर हो सकते हैं विभिन्नता नहीं। इस दृष्टि के परिणाम के विषय में पहले ही उल्लेख किया जा चुका है।

६५—संस्कृत के प्रारम्भिक आचार्यों ने काव्य विवेचना में अलंकारों को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। काव्य के समस्त स्वरूप में

---

१० काव्यानुशासनवृत्ति; वाग्भट्ट (अ० ५ पृ० ५२)

तत्र पशुपक्ष्यादिष्वचेतनेष्वारोप्यमाणौ रसभावौ रसभावाभासौ भवतः।

काव्यानुशासन; हेमचन्द्र (पृ० १०१)

निरिन्द्रियेषु तिर्यगादिषु चारोपाद्रसभावाभासौ।

हेमचन्द्र ने आगे (१) संभोगाभास (२) विप्रलम्भाभास में वर्गीकरण कर के इसके उदाहरण भी दिये हैं।

अलंकारों में उपमान योजना

अलंकारों का स्थान भले ही गौण हो परन्तु उसके अन्तर्गत आ प्रारम्भ से ही सौन्दर्य की भावना सन्निहित रही है यह महत्त्वपूर्ण है।११ काव्यानन्द समष्टि का प्रभाव है, उसमें अलग अलग करके यह कहना यह काव्य है और यह सहायक है बहुत उचित नहीं है। विवेचना के लिए ऐसा स्वीकार किया जा सकता है। वस्तुतः अलंकार भी काव्य के अन्तर्गत है और उनके उपमानों का सौन्दर्य-सापेक्ष प्रकृति का व्यापक सौन्दर्य है। जब अलंकारों के द्वारा भाव या सौन्दर्य का व्यंग्य होता है; उस समय तो ध्वनिकार इनको संलक्ष्यक्रम गुणीभूत व्यंग्य के अन्तर्गत लेकर काव्य स्वीकार भी करते हैं। अलंकारों में उपमानों की प्रकृति योजना 'सादृश्य' के आधार पर सौन्दर्य का अन्तर्निहित व्यंग्य रखती ही है, उसके लिए अन्य व्यंग्य की अनिवार्य आवश्यकता नहीं है। बाद में अलंकारों में उक्त वैचित्र्य की भावना बढ़ती गई है। इस प्रकार अलंकारों की संख्या में तो वृद्धि हुई है, पर इनमें कलात्मक सादृश्य की सौन्दर्य भावना नहीं पाई जाती। काव्य शास्त्रियों ने इनको आभूषण बना डाला है। इस प्रवृत्ति से बाद का संस्कृत साहित्य और हिन्दी का मध्ययुग दोनों ही बहुत अधिक प्रभावित हैं।

हिन्दी काव्य-शास्त्र

§६—प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है कि हिन्दी साहित्य के मध्य युग में संस्कृत की काव्य रीतियों का बहुत कुछ प्रभाव रहा है। संतों को छोड़कर भक्ति काल की सभी परम्पराओं के कवि इन साहित्यिक रीतियों से परिचित थे।

११ काव्यादर्श; दण्डी;

काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान्प्रचक्षते।

साहित्य-दर्पणः विश्वनाथ;

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।

रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत्॥

कृष्ण-भक्ति के प्रमुख कवि सूर, और तुलसी दोनों ही में काव्य को शास्त्रीय मान्यताओं को प्रयत्न रूप से ढूँढ़ा जा सकता है और मध्य-युग के उत्तर काल में संस्कृत काव्य-शास्त्र की विभिन्न रीतियों का अनुसरण किया गया है। इस काल की शास्त्रीय विवेचनाओं में मौलिकता के स्थान पर परम्परा पालन और कवित्व प्रदर्शन ही अधिक है। ऐसी स्थिति में उनसे काव्य संबन्धी किसी मौलिक मत की आशा नहीं की जा सकती। इन युग में हिन्दी साहित्य के आचार्यों ने किसी विशेष मत का प्रतिपादन नहीं किया है। काव्य में प्रकृति के विषय में इन्होंने संस्कृत आचार्यों का मत स्वीकार कर लिया है और वर्णनों में उनकी परम्पराओं को मान लिया है। केशव को छोड़कर इन कवि-आचार्यों ने प्रकृति को रस के अन्तर्गत उद्दीपन-विभाव में रख दिया है। कृपाराम उद्दीपन के विषय में लिखते हैं—

> "उद्दीपन के भेद बहु सखी वचन है आदि।
> समयसाजनों वरनिये कवि कुल की मरजादि" ॥[१२]

देव ने भी गीत नृत्य आदि के साथ प्रकृति को भी उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत ही रखा है,—

> "गीत नृत्य उपवन गवन आभूषन बनवेलि।
> उद्दीपन शृंगार के विधु बसन्त वन वेलि" ॥[१३]

भिखारीदास ने अपने काव्य निर्णय में रस को ध्वनि के अन्तर्गत रखा है और प्रकृति को विभाव के उदाहरण में प्रस्तुत किया है।[१४] सैयद गुलाम नबी ने विभाव के विभाजन के अनन्तर उद्दीपन के अन्तर्गत षट ऋतु वर्णन किया है 'अथ उद्दीपन में षट-ऋतु मध्ये बसन्त ऋतु

---

१२ हिततरंगिनी; ११

१३ भाव-विलास

१४ निर्णयकाव्य-निर्णय; भिखारीदास (पृ० ३३)

वर्णनम् ।[१५] इस विषय में आचार्य केशव का मत अपनी विशेष दृष्टि के कारण महत्त्व रखता है। समस्त परम्परा के विरुद्ध भी केशवदास ने प्रकृति-रूपों को आलंबन के अन्तर्गत रखा है—

"अथ आलंबनस्थान वर्णन
दंपति जोबन रूप जाति लक्षणयुत सखिजन।
कोकिल कलित वसंत फूलि फलदलि अलि उपवन।
जलयुत जलचर अमल कमल कमला कमलाकर।
चातक मोर सुशब्द तडित घन अंबुद अंबर॥
शुभ सेज दीप सौगंध गृह पानखान परधानि मनि।
नव नृत्य भेद वीणादि सब आलंबनि केशव बरनि॥"

प्रकृति का आलंबन के अन्तर्गत रखने का श्रेय आचार्य केशव को है। यद्यपि सरदार ने अपनी टीका में इसको परम्परा के अनुकूल सिद्ध करने का प्रयास किया है। यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि रस की विवेचना में केशव ने प्रकृति को कोई महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है, केवल आलंबन और उद्दीपन को समझने का उनका अपना ढंग है। उन्होंने नायिका के साथ पृष्ठ-भूमि रूप समस्त चीज़ों को आलंबन के अन्तर्गत स्वीकार कर लिया है और केवल शारीरिक उद्दीपक-क्रियाओं को उद्दीपन के रूप में माना है—

"अवलोकनि आलाप परिरंभन नख रद दान।
चुम्बनादि उद्दीपये मर्दन परस प्रमान"॥[१६]

---

१५ रस-प्रबोध, पृ० ८६

१६ रसिक-प्रिया; केशवदास : भाव-लक्षण ४-७
सो विभाव द्वै भांति के, केशवदास बखान।
आलंबन इक दूसरो, उद्दीपन सब जान॥
जिन्हैं अतन अवलंबई, ते आलंबन जान।
जिनते दीपति होत है, ते उद्दीपन मान॥

इस प्रकार आलंबन के रूप में भी प्रकृति को कोई प्रमुख स्थान नहीं मिल सका है और रस को केवल मानवीय आलंबन ही स्वीकृत है। जहाँ अलंकार की परम्परा का प्रश्न है, रीति काल में प्रमुख प्रवृत्ति तो वैचित्र्य की ही रही है। कुछ कवियों ने अपनी प्रतिभा से सुन्दर प्रयोग भी किये हैं।

काव्य-परम्परा में प्रकृति

७—अभी तक संस्कृत आचार्यों की विवेचनाओं में प्रकृति का क्या स्थान रहा है, इस पर विचार किया गया है। परन्तु शास्त्रीय-ग्रन्थ और साहित्य के आदर्शों के संबन्ध की विवेचना साहित्य निर्माण के बाद का काम है। इनमें प्रमुख प्रवृत्तियों का उल्लेख हो सकता है और आगे के साहित्य को उनके सिद्धान्त प्रभावित भी कर सकते हैं। परन्तु साहित्य के विस्तार को समेटना इनका काम नहीं है। यही कारण है कि प्रकृति के संबन्ध में आचार्यों की संकुचित दृष्टि के होते हुए भी संस्कृत साहित्य में प्रकृति का रूप बहुत अधिक है। जैसा पिछली विवेचना में उल्लेख किया गया है, संस्कृत काव्य में कवि के मनःस्थिति से संबन्ध रखने वाले अनुभूति-चित्रों का अभाव है। गीतियों में इसी प्रकार की भावात्मकता के लिए स्थान है। इसी कारण संस्कृत काव्य में प्रकृति से ही संबन्ध रखनेवाली कविताएँ नहीं के बराबर हैं। विभिन्न प्रकार के प्रकृति रूप हमको संस्कृत साहित्य के प्रबन्ध-काव्यों, महा-काव्यों तथा गद्य-काव्यों में मिलते हैं। इसके साथ ही संस्कृत के नाटकों में भी प्रकृति के द्वारा वस्तु-स्थिति आदि का संकेत दिया गया है, साथ ही वातावरण का निर्माण भी किया गया है। संस्कृत साहित्य के विभिन्न काव्य-रूपों को देखने से यही प्रकट होता है कि इनमें प्रकृति-रूपों का प्रयोग आगे चल कर स्वाभाविक से रूढ़िवादी होता गया है। यह रूढ़िवादिता कथानक में वर्णनों के सामञ्जस्य के क्षेत्र में ही

काव्य रूपों में प्रकृति

न हीं वरन् समस्त क्षेत्रों में पाई जाती है। यही प्रवृत्ति-ऋतु काव्यों, इन काव्यों और मुक्तकों के वर्णनों में भी पाई जाती है। प्रकृति की वर्णनात्मक योजना प्रबन्ध काव्यों (रामायण और महाभारत) में पात्र और घटना की स्थितियों के अनुसार की गई है।[१७] आगे चल कर अश्वघोष और कालिदास के महाकाव्यों में प्रकृति-चित्रण कथानक की मानवीय परिस्थितियों और भावों के सामञ्जस्य के आधार पर हुए हैं।[१८] परन्तु बाद के कवियों के सामने प्रकृति का उद्दीपन-रूप में प्रयोग ही अधिक प्रत्यक्ष होता गया है। यद्यपि इनके काव्यों में प्रकृति-वर्णनों के लिए सम्पूर्ण सर्ग प्रयुक्त हुए हैं।

क—किसी रूप में क्यों न हो, भारतीय काव्यों में कथा के साथ इन वर्णनाओं को स्थान मिलने का एक कारण है और वह

सांस्कृतिक आदर्श

भारत की अपनी सांस्कृतिक दृष्टि है। विश्वकवि रवीन्द्र ठाकुर का कथन है : "वर्णना, तत्त्व की आलोचना और आवान्तर प्रसंगों से भारतीय कथा-प्रवाह पग पग पर खण्डित होने पर भी प्रशान्त भारतवर्ष की धैर्य-च्युति होते नहीं दीख पड़ती।" इसका कारण है कि भारतीय कथानकों में उत्सुकता से अधिक रोचकता का ध्यान दिया जाता है। आदर्शों के प्रति आकर्षण ही रहता है उत्सुकता नहीं और भारतीय काव्य तथा कला का सिद्धान्त आदर्श रूपों को उपस्थित करना रहा है। इसके अतिरिक्त संस्कृत साहित्य जन साहित्य न होकर ऊँचे स्तर के लोगों का साहित्य रहा है; कथानक के प्रति उत्सुकता जन मस्तिष्क को ही होती है, प... वर्ग तो वर्णना-सौन्दर्य से ही मुग्ध होता है। इस वर्णना के अन्त... प्रकृति भी अपने समस्त रूप-रंगों में आ जाती है। महा-प्रबन्ध का...

१७—महाभारत; वैराट-पर्व १८ रामायण; अरण्य-काण्ड के अनेक स्थल।

१८—सौन्दरानन्द; प्रथम, षष्ठ सर्ग; कुमारसम्भव, प्रथम सर्ग; रघुवंश, प्रथम सर्ग।

में प्रकृति दृश्यों के वर्णन स्थान स्थान पर स्वयं में पूर्ण तथा अपनी स्थानगत विशेषताओं के साथ उपस्थित हुए हैं। ये वर्णन घटनाओं से सीधे संबन्धित न होकर भी जीवन के प्रवाह में अपना स्थान रखते हैं। वस्तुतः भारतीय साहित्य में जीवन सरिता का गतिमान् प्रवाह न होकर विस्तार में फैले हुए सागर की हिलोरें हैं जिनमें गति से अधिक गम्भीरता और प्रवाह से अधिक व्यापकता है। यही कारण है कि रामायण ही में मार्गस्थ प्रकृति के दृश्यों में राम के और चुपचाप बैठकर प्रकृति के फैले हुए रूपों को देखने का पूरा प्रयास है।[१९] वर्णना की यह भावना तो सदा बनी रही है, पर इसका पूर्ण कलात्मक विकसित स्वरूप, बाण की 'कादम्बरी' के प्रकृति-स्थलों में आता है। इनमें घटना-स्थिति की ओर लाने में पूरा धैर्य दिखाया गया है, साथ ही परिस्थिति तथा वातावरण के सामञ्जस्य में वस्तु स्थितियों के चित्र क्रमिक एकाग्रता के ढंग से प्रस्तुत किये गये हैं।[२०] जीवन में प्रकृति का स्थान केवल स्थूल आधार के रूप में ही नहीं है, वह मानसिक चेतना के साथ कभी छायी रहती है और कभी उसमें प्रसरित होती लगती है। ऐसी स्थिति में घटना की परिस्थितियों के साथ प्रकृति सामञ्जस्य के रूप में भी महाकाव्यों में प्रस्तुत की जाती है। पाश्चात्य महाकाव्यों में प्रकृति का यह रूप अधिक मिलता है। संस्कृत में कालिदास इस प्रकार के सामञ्जस्य पूर्ण प्रकृति-वर्णन के मुख्य कवि हैं। इनके बाद किसी सीमा तक अश्वघोष और भारवि के काव्यों में भी इस प्रकार के वर्णन मिलते हैं।[२१]

---

१९ अरण्य-काण्ड, सर्ग ११, मार्ग में राम-लक्ष्मण; सर्ग १५ पंचवटी; किष्किन्धा-काण्ड, सर्ग ११९, सन्ध्या-वर्णन।

२० विन्ध्य अटवी के वर्णन से शाल्मली-स्थित कोटर तक का वर्णन।

२१ बुद्ध-चरित, [illegible], जन्म के अवसर पर; चतुर्थ सर्ग, स्त्री-निर्माण; किरातार्जुनीय -

ग—बाद के अन्य कवियों में कथानक के साथ वर्णनों के अरय की भावना कम होती गई। इस शिथिलता के साथ वर्णन शै और उद्दीपन की रूढ़िगत प्रवृत्ति बढ़ती गई। साहित्याचार्यों द्वारा उल्लिखित—

रूढ़िवाद

"नगरार्णवशैलर्तुचंद्रार्कोदयवर्णनैः।
उद्यानसलिलक्रीड़ामधुपानरतोत्सवैः॥"२२

को ही दृष्टि में रखकर वर्णनों को यत्र-तत्र जमाने का प्रयास किया गया है। इन कवियों में माघ, बुद्धघोष, जानकीदास तथा श्री— हर्ष जैसे कवि भी हैं।२३ इनके काव्यों में प्रकृति-चित्रण के संबन्ध में किसी भी प्रसंग-क्रम का कोई भी ध्यान नहीं रखा गया है। ऐसे वर्णनों में कथानक का सूत्र छूट जाता है, केवल वर्णना का आनन्द मात्र रह जाता है।

§८—वर्णना स्वयं एक शैली नहीं कही जा सकती वह तो व्यक्ति की व्यापक रीति भर है। वर्णना कितनी ही शैलियों के आ पर की जा सकती है। शैली से हमारा तात्पर्य का में प्रकृति के रूपों को भावगम्य करने के लिए प्रयु रीतियों से है। इनमें शब्दों की विभिन्न शक्तियों, भाषा की व्यंजन शक्ति और आलंकारिक प्रयोगों के द्वारा वर्णित विषय को मनस् में भाव-ग्रहण के लिए प्रस्तुत किया जाता है। कला और काव्य में भार- तीय आदर्श-भावना का जो विकास हुआ है, उसका सत्य प्रकृति वर्णन के इतिहास में भी छिपा है। भारतीय साहित्य में प्रकृति-वर्णन में भी आरम्भ से ही अनुकरण के अन्दर सादृश्य (Image) की भावना थी। बाद में सादृश्य के आधार पर कल्पनात्मक आदर्शवाद

वर्णना शैली

२२ का०ब्यादर्श; दण्डी

२३ इन सब कवियों ने सर्ग के सर्ग में प्रातः, सायं तथा ऋतुओं आदि का वर्णन किया है।

की सृष्टि हुई है। फिर इस कल्पनात्मक आदर्शवाद में वैचित्र्य का समन्वय होकर कला का रूप कृत्रिम हो उठा है; सौन्दर्य का स्थान आश्चर्य जनक विचित्रता ने ले लिया और कल्पना का स्थान दूर की उड़ान ने ग्रहण किया। इस प्रकार रूप-सादृश्य के स्थान पर केवल शब्द-साम्य पर ध्यान दिया जाने लगा। परम्परा का यह रूप क्रमिक रूप से संस्कृत के प्रकृति वर्णन के इतिहास में मिलता है। महाभारत के प्रकृति-रूपों में वस्तु, परिस्थिति और क्रिया-व्यापार का वर्णन उल्लेखात्मक ढंग से हुआ है, जिनमें रेखा-चित्रों की संश्लिष्टता पाई जाती है। इन चित्रों में प्रकृति के अनुकरणात्मक दृश्यों की सुन्दर उद्भावना है। इस अनुकरणात्मक योजना में केवल वस्तु तथा स्थितियों के चुनाव में आदर्श-भाव का संकेत है। परन्तु आदि कवि ने अपने नायक को जिन प्राकृतिक क्षेत्रों में उपस्थित किया है, उन स्थलों का वर्णन कवि ने विशद रूप से स्वयं किया है या पात्रों से कराया है। इन वर्णनों में वस्तु क्रियादि स्थितियों की व्यापक संश्लिष्टता है। परन्तु साथ ही भावात्मक और रूपात्मक सादृश्यमूलक अलंकारों द्वारा प्रकृति वर्णनों का विस्तार भी 'रामायण' में मिलता है। अश्वघोष के बुद्ध चरित्र तथा 'सौन्दरनन्द' में, और कलिदास के 'रघुवंश' तथा कुमारसम्भव' में यह संश्लिष्टात्मक वर्णन-योजना मिलती अवश्य है, परन्तु उनमें वस्तु तथा भाव को चित्रमय बनाने की प्रवृत्ति अधिक होती गई है। वस्तु और भाव दोनों को चित्रमय बनाने के लिये इन कवियों ने अधिकतर सादृश्य का आश्रय लिया है। महाकवि कालिदास में स्वाभाविक चित्रमयता का कलात्मक रूप बहुत सुन्दर है। प्रकृति के एक चित्र से दूसरे चित्र को सादृश्य के आधार पर प्रस्तुत करने में वे अद्वितीय हैं। उन्होंने उपमा और उत्प्रेक्षाओं का प्रयोग इसी मनोवैज्ञानिक आधार पर व्यंजना और अभिव्यक्ति के लिए किया है। प्रकृति-चित्र उपस्थित करने में अलंकारों का यह कलात्मक प्रयोग 'सेतुबन्ध' में भी हुआ है। केवल भेद इस बात का है कि इसमें स्वाभाविक रूप से

स्वतःसम्भावी सादृश्य योजना के स्थान पर काल्पनिक कवि-प्रौढ़ोक्ति सिद्ध सादृश्यों की योजना ही अधिक है। इसमें ऐसे रूप-रंगों की जो स्वाभाविक हैं विभिन्न काल्पनिक स्थितियों में योजना की गई है। फिर भी कला का यह आदर्श नितान्त कृत्रिम नहीं कहा जा सकता, इसकी रूपात्मकता और व्यंजना मानसशास्त्र के आधार पर हुई है। भारवि के 'किरातार्जुनीय' में अन्य प्रवृत्तियाँ भी मिलती हैं परन्तु इसमें काल्पनिक चित्रों को असाधारण बनाने की प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है। और इसमें वह प्रवरसेन के 'सेतुबंध' और माघ के 'शिशुपालवध' के समान है। साथ ही भारवि में चमत्कार की प्रवृत्ति भी परिलक्षित होने लगती है। यह कल्पना आदर्श तभी तक कही जा सकती है, जब तक प्रस्तुत चित्रमयता के आधार में भाव की या रूप की कुछ व्यंजना हो। परन्तु जब साधारण असाधारण में खो जाता है, हम स्वाभाविक रूप या भाव को न पाकर केवल चकित भर होते हैं, *आनन्द मग्न नहीं। बुद्धघोष के पद्यचूड़ामणि' में आदर्श-कल्पना के* सुन्दर चित्रों के साथ असाधारण का भाव भी आने लगा है। कुमार-दास के 'जानकी-हरण' में प्रकृति-वर्णन की शैली अधिकाधिक कष्ट-कल्पनाओं से पूर्ण होती गई है। इसमें अलंकारवादियों की भद्दी प्रवृत्ति का प्रवेश अधिक पाया जाता है, जो आगे चलकर माघ और श्रीहर्ष के काव्यों में क्रमशः चरम को पहुँच गई है। आलंकारिता की सीमा तक 'जानकीहरण' की उत्प्रेक्षाओं और उपमाओं में भाव को स्पर्श करने की शक्ति है। परन्तु माघ और श्रीहर्ष में बौद्धिक चमत्कार की ओर अधिक रुचि है। इनकी चमत्कृत उक्तियों में अलंकार का आधार कल्पना की स्वाभाविक प्रक्रिया से उत्पन्न सहज-चित्र नहीं हैं वरन् चमत्कार की भावना में ही है। कुमारदास उत्प्रेक्षाएँ भाव-वस्तु के चित्रों को प्रस्तुत करने के लिए भी प्रयुक्त करते हैं और उस सीमा में वे भारवि के समकक्ष ठहरते हैं। *माघ आदर्श रंग-रूपों के द्वारा असा-*धारण, *फिर भी स्वाभाविक चित्रों की उद्भावना में प्रवरसेन की प्रतिभा*

को पहुँचते हैं। उनमें यद्यपि उक्ति-वैचित्र्य अधिक है फिर भी वे प्रकृति के अधिक निकट हैं और श्रीहर्ष प्रकृति के स्थान पर मानवीय भावों के प्रति हैं। श्रीहर्ष के पांडित्य ने उनका सवत्र ही साथ दिया है, इस कारण उनके प्रकृति-वर्णनों में चरम का उक्ति-वैचित्र्य है जिसमें प्रकृति के रूप की सहजता बिलकुल खो गई है। यद्यपि यहाँ प्रकृति-वर्णन के प्रसग में ही इस प्रकार शैली की परम्परा का रूप दिखाया गया है; फिर भी यह आदर्श और शैली की संबन्धात्मक परम्परा प्रकृति के सभी प्रकार के रूपों में समान रूप से पाई जाती है। चाहे प्रकृति का मानवीकरण रूप हो या उद्दीपन रूप हो, यह शैली का विकास सभी जगह मिलेगा।[२४]

प्रकृति-रूपों की परम्परा

§६—प्रथम भाग में कहा जा चुका है मानव और उसकी कला के विकास में प्रकृति की सौन्दर्यानुभूति का पूरा हाथ रहा है। मानव के जीवन में सौन्दर्य्य की स्थापना करके उसे कलात्मक बनाने का श्रेय भी उसके चारों ओर फैली हुई प्रकृति को ही मिलना चाहिए। इस सौन्दर्यानुभूति का आलंबन है प्रकृति, उसका व्यापक सौन्दर्य्य। परन्तु जब प्रकृति हमारे अन्य भावों पर प्रभाव डालती हुई विदित होती है, उस समय उसका उद्दीपन-रूप होता है। संस्कृत के काव्याचार्यों ने प्रकृति को उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत माना है परन्तु संस्कृत काव्यों की विशद शृंखला में सभी प्रकार के प्रकृति-रूप आते हैं। यहाँ एक बात को स्पष्ट कर देना आवश्यक है। प्रकृति में ही हमारा जीवन व्यापार चल रहा है, इस प्रकार मानव के आकार, स्थिति और भावों के तादात्म्य-संबन्ध

आलंबन और संभ

२४ इस विषय में लेखक का 'संस्कृत काव्य में प्रकृति-वर्णन की शैलियाँ' नामक निबन्ध देखना चाहिए।

के लिए और साधरणीकरण के लिए भी आधार-रूप से प्रकृति का वर्णन आवश्यक होता है। इस प्रकार के प्रकृति-वर्णन एक ओर पृष्ठभूमि के रूप में भावों को प्रतिध्वनित करते हैं और साथ ही दूसरी ओर उनका प्रभाव मानसिक भावों पर भी पड़ता है। फिर प्रकृति कभी वस्तु आलंबन के रूप में और कभी भाव आलंबन के रूप में उपस्थित होती है। शुद्ध उद्दीपन विभाव में आनेवाली प्रकृति का रूप इससे भिन्न है, जिसमें प्रकृति केवल दूसरे भावों को उद्दीप्त करने की दृष्टि से चित्रित होती है।

§१०—संस्कृत साहित्य में प्रकृति का उन्मुक्त आलंबन रूप कम है, जिसमें भाव का आश्रय कवि या पाठक ही होता है। प्रकृति को आलंबन मानकर कवि अपनी भाव-प्रवणता में प्रकृति की सौन्दर्यानुभूति से अविभूत भावनाओं की अभिव्यंजना प्रकृति-चित्र की रूप-रेखा के साथ करता है। परन्तु इस प्रकार के मनस्-परक प्रकृति-चित्र संस्कृत साहित्य में बहुत ही कम हैं। यह प्रकृति का प्रभावात्मक रूप गीतियों में अधिक व्यक्त हो उठता है। प्रकृति को पाकर कवि स्वयं अनुभूतिशील होता है और उस समय वह केवल भावों की अभिव्यक्ति कर पाता है, प्रकृति के चित्र या तो रेखा-रूप में आधार प्रदान करते हैं या भावों को व्यंजित करते हैं। संस्कृत साहित्य में ऐसे गीति-काव्य का अभाव है, यद्यपि वैदिक साहित्य प्रकृति के उल्लास से डूबा हुआ ही विदित होता है। परन्तु यह उन्मुक्त भावों का काव्य-रूप जिसमें रूप से भाव-पक्ष अधिक होता है, संस्कृत की साहित्यिक परम्पराओं में नहीं आ सका है। सम्भव है उस समय की जन-भाषाओं में ऐसे गीत हों जो आज हमारे सामने नहीं हैं। संस्कृत साहित्य में इस भावना ने अन्य रूपों में अभिव्यक्ति का माध्यम ढूँढ़ा है।[१५] वाल्मीकि रामायण में कहीं कहीं प्रकृति के उन्मुक्त आलं-

उन्मुक्त आलंबन

---

१५ इस विषय में लेखक का 'गीति-काव्य में प्रकृति पक्ष और संस्कृत साहित्य'

वन चित्रों के साथ इस सौन्दर्यानुभूति की व्यंजना अवश्य आ जाती है। प्रकृति की वर्णना में कभी कभी पात्र की मनःस्थिति का रूप भी मिला हुआ है। काव्यों में तो इस प्रकार की व्यंजना पात्रों की पूर्व मनःस्थिति के उद्दीपन रूप में ही हुई है और या इस प्रकार के वर्णनों में आरोप की प्रवृत्ति अधिक है। कथानक के साथ प्रकृति का स्वतंत्र आलंबन जैसा रूप अवश्य मिलता है। उस समय या तो पात्र स्वयं ही वर्णन करते हैं और या वे वर्णनों से अलग अलग रहते हैं। संस्कृत के महाकाव्यों में घटनाओं द्वारा कथानक के विकास से अधिक ध्यान वर्णन सौंदर्य पर दिया जाता रहा है। इस कारण ये भी वर्णन-प्रसंग वस्तु-स्थिति और भाव-स्थिति दोनों के आधार न होकर स्वतंत्र लगते हैं। आदि काव्य में ऐसे वर्णनों को अधिक स्थान मिल सका है; उसमें दृश्यों की चित्रमय योजना की गई है। रामायण में वस्तु स्थिति, परिस्थिति और व्यापार-स्थिति के साथ वातावरण की योजना में रूप रंग, ध्वनि-नाद, आकार प्रकार और गंध-स्पर्श के संयोगों द्वारा चित्रों को स्पष्ट मनस् गोचर बनाने का प्रयास किया गया है। पीछे उल्लेख किया जा चुका है कि साधारण चित्रमय वर्णनों को आलंकारिक योजना द्वारा व्यंजनात्मक बनाने का प्रयास चलता रहा है जो आगे चलकर रूढ़ि और वैचित्र्य की प्रवृत्ति में दिखाई देता है। साथ ही स्वतंत्र वर्णनों को उद्दीपन की व्यापक-भावना के अन्तर्गत ही चित्रित करने की प्रवृत्ति का भी विकास होता गया है। यद्यपि पिछले महाकाव्यों में भी सर्ग के सर्ग सन्ध्या, प्रातः और ऋतु आदि के वर्णनों में लगाए गए हैं और उनका कोई विशेष संबन्ध भी कथा के विस्तार से नहीं लगता। फिर भी समस्त वर्णन व्यापक उद्दीपन के रूप में प्रस्तुत किए गए हैं।

§ ११—पहले ही कहा जा चुका है कि प्रकृति पृष्ठ-भूमि के रूप

नामक निबन्ध देखना चाहिए (विश्व-भारती पत्रिका, श्रावण-फाल्गुन, २००३।

में भी कभी वस्तु-आलंबन के रूप में और कभी भाव आलंबन के रूप में उपस्थित होती है। प्रकृति समस्त मानवीय स्थितियों को आधार प्रदान करती है। अपने परिवर्तित रूपों में समय और स्थान का ज्ञान प्रस्तुत करती है। इन रूपों में प्रकृति स्वतन्त्र आलंबन नहीं है, परन्तु स्थितियों के प्रसार में समवाय रूप से आलंबन अवश्य है। महाभारत में प्रकृति के रूप अपने रेखाचित्रों में इसी प्रकार के हैं। ये चित्र पात्र की वस्तु स्थिति और मार्ग के स्वरूप वातावरण आदि को सम्मुख लाने के लिए हैं। रामायण में भी इस प्रकार के वर्णन स्थान स्थान पर आए हैं। ये चित्र वन गमन-प्रसंग के बाद के हैं। राम वन में विचरण कर रहे हैं, उस समय उनके मार्ग का और उसमें स्थित वन, पर्वत, निर्झरों का चित्र सम्मुख रखना स्थितियों की विभिन्न रेखाओं को स्पष्ट करने के लिए आवश्यक था। रामायण में समय और स्थान का वर्णन भी है जो अधिकांश स्थलों पर स्वतंत्र रूप में ही है। इसी स्वतंत्र प्रवृत्ति के कारण ही कदाचित् बाद के कवियों में प्रातः, सायं, सूर्योदय, चन्द्रोदय तथा ऋतु वर्णनों के रूप किसी वस्तु स्थिति आदि के आधार नहीं हो गए। क्रमशः इनका संबंध कथानक की घटनाओं की पृष्ठभूमि में या पात्रों की स्थितियों के आधार रूप में नहीं के बराबर होता गया। कालिदास और अश्वघोष के काव्यों में इस प्रकार के वर्णनों का संबंध किसी सीमा तक आलंबन की भावना से है। स्थान आदि के वर्णन इसी वस्तु आलंबन के अन्तर्गत हुए हैं, यद्यपि इनमें उपमानात्मक प्रवृत्ति के फलस्वरूप शैली में भेद अवश्य है। संस्कृत के नाटकों में समय और स्थान के इस प्रकार के आलंबन [illegible] रूपों और घटनाओं को आधार प्रदान करने के लिए लिए गए हैं। नाटक की 'शकुन्तला' में प्रकृति की [illegible] पूर्णता में घटना स्थल प्रस्तुत करने के लिये ही हुई है और वह वस्तु आलंबन की सुन्दरतम उदाहरण है। कहीं इन चित्रों में इतनी पूर्णता

पृष्ठ-भूमि : वस्तु-आलंबन

और इतना सौन्दर्य विस्तार है कि वे स्वयं स्वतंत्र आलंबन लगते हैं। परन्तु चित्र अपने क्रमिक-विकास में विशेष घटना-स्थिति की ओर चित्र-पट के दृश्यों की भाँति घूमते, केन्द्रित होते आते हैं। भारवि के 'किरातार्जुनीय' में अर्जुन के मार्ग का वर्णन भी किसी किसी स्थल पर इसी प्रकार का है।

भाव-आलंबन

घ—कभी कभी कवि प्रकृति के चित्रों को किसी मनःस्थिति विशेष की पृष्ठ-भूमि के रूप में प्रस्तुत करता है अथवा प्रकृति में पात्र विशेष के मनःस्थित-भावों की प्रतिध्वनि करता है। ऐसी स्थिति में प्रकृति भाव आलंबन के रूप में उपस्थित होती है। यह प्रकृति की पृष्ठ-भूमि किसी मनोभाव से निरपेक्ष होकर भी भाव-आलंबन के रूप में रह सकती है, क्योंकि प्रकृति-सौन्दर्य में भावानुभूति के अनुकूल स्थिति उत्पन्न कर देने की शक्ति है। संस्कृत काव्यों में इस प्रकार का प्रकृति का भाव-आलंबन रूप कम है और जो चित्र हैं उनमें प्रकृति अनुकूल स्थिति में ही है—वह कभी पात्र का स्वागत करती जान पड़ती है और कभी छिपे हुए उल्लास की भावना व्यंजित करती है। कालिदास ने 'रघुवंश' में और भारवि ने 'किरातार्जुनीय' में कुछ ऐसे प्रकृति के रूप दिए हैं। इनमें कहीं कहीं तो केवल पाठक की मनःस्थिति को भाव के अनुरूप बनाने का प्रयास है और कहीं प्रकृति स्वयं इस भाव को प्रकट करती जान पड़ती है। मानवीय भावों के समानान्तर प्रकृति के चित्रों को उपस्थित करना भी इसी भाव आलंबन की सीमा में आ जाता है। कालिदास ने 'रघुवंश' में प्रातःकाल का वर्णन और ऋतु का वर्णन राजा के ऐश्वर्य के समानान्तर प्रस्तुत किया है। ये वर्णन भाव-आलंबन हैं क्योंकि प्रकृति के रूप बराबर उसी भाव में आत्मसात् हो जाते हैं। साथ ही स्वयंवर प्रसंग के प्रकृति संबंधी संकेतात्मक वर्णन भी वस्तु आलंबन और भाव-आलंबन के अन्तर्गत आ जाते हैं जिनमें किसी स्थान-काल का

रूप मिलता है।[२१]

१२—मानव अपने दृष्टि-कोण से अपने मनोभावों के आधार पर ही सारे जगत् को देखता है। इस दृष्टि की प्रधानता कारण ही उसे प्रकृति अपने भावों से अनुप्राणित लगती है और कभी अपनी जैसी क्रियाओं में व्यस्त जान पड़ती है। साथ ही जब वह अपनी भावानुभूति की ओर ध्यान देता है, उस समय प्रकृति उसके भावों के अनुकूल या प्रतिकूल होते हुए भी अधिक गम्भीर बनाती है। यह प्रकृति का उद्दीपन रूप है। प्रकृति के अनुप्राणित रूप और मानवीकरण में किसी दूसरी मनःस्थिति या भावों की स्थिति स्वीकृत है। इसके साथ जो सहचरण की भावना है उसमें प्रकृति का विशुद्ध रूप नहीं है। ऐसी स्थिति में प्रकृति किसी मनोभाव की सहायक न होकर, उनसे स्वयं प्रभावित रहती है। परन्तु व्यापक दृष्टि से इनका वर्णन फिर उसी प्रकार की मनःस्थिति उत्पन्न करता है जिससे प्रभावित वे चित्र थे। इस कारण उद्दीपन के अन्तर्गत इनको लिया जा सकता है। संस्कृत के महाकाव्यों में इस प्रकार के वर्णन आदि से अन्त तक पाये जाते हैं। इनकी प्रवृत्ति मानवीकरण की ओर अधिक रही है; साथ ही इस भावना में भी सुन्दर कल्पना और व्यंजना के स्थान पर रूढ़ि और चमत्कार का आश्रय अधिक होता गया है। कालिदास ही इस क्षेत्र में सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। भारवि और जानकीदास में भाव से अधिक आकार प्रधान होता गया, जो माघ में मधु-क्रीड़ाओं के रूप में अपने चरम पर पहुँचा है। प्रकृति-सहचरण की भावना के साथ प्रकृति के पात्रों से स्नेह-संबन्ध स्थापित करके भाव व्यंजना करने की परंपरा चली है। इससे संबन्धित दूत-काव्यों की परम्परा में कालि

अ० ६०वं८,८—उद्दीपन का सीमा

२१ विशेष विस्तार के लिए लेखक का संस्कृत के विभिन्न काव्य-रूपों में प्रकृति, नामक लेख देखा जा सकता है। (विश्व-भारती पत्रिका)

दास के 'मेघदूत' में जो मधुर-भावना है वह अन्यत्र नहीं है। प्रकृति से सहचरण की भावना का स्रोत मानव की स्वच्छंद प्रवृत्ति में ही है। आदि प्रबन्ध-काव्य में राम सीता का समाचार प्रकृति से पूँछते हैं; महाभारत में भी दमयन्ती नल का समाचार प्रकृति के नाना रूपों से पूछती फिरती है। 'अभिज्ञान शाकुंतल' का सौन्दर्य प्रकृति की सहचरण-भावना में ही सन्निहित है। भवभूति के 'उत्तर राम चरित' में प्रकृति के प्रति यही भावना प्रकृति रूप पात्रों की उद्भावना भी करती है; और प्रकृति के चित्र तो इस भावना से अनुप्राणित हैं ही। 'विक्रमोर्वशीय' मे इसी भावना के आधार पर एक अङ्क की समस्त वातावरण संबन्धी आयोजना की गई है जो अपने सौन्दर्य में अद्वितीय है।

§१२—शुद्ध-उद्दीपन के अन्तर्गत आने वाले प्रकृति के वर्णन भाव की किसी पूर्व स्थिति को उत्तेजित करते हैं। ऐसी स्थिति में प्रकृति कभी अनुकूल और कभी प्रतिकूल चित्रित होती है। निरपेक्ष प्रकृति भी भावों की उद्वेगशील स्थिति मे उद्दीपन का कार्य करती है। संस्कृत साहित्य में अधिकांश रूप से पहले दो रूप ही पाये जाते हैं। रामायण में वियोगी राम के द्वारा पम्पासर का वर्णन प्रकृति का निरपेक्ष रूप प्रस्तुत करता है। इस स्थल पर प्रकृति का निरपेक्ष रूप राम के हृदय में दो मनोभावों का समानान्तर सामञ्जस्य उपस्थित करता है। परन्तु इस स्थल पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि प्रकृति ने राम के मनोभाव को अधिक गम्भीर रूप से पाठक के सामने नहीं प्रस्तुत किया। प्रकृति के उद्दीपन का स्वाभाविक रूप भी रामायण में पाया जाता है। प्रकृति के परिवर्तित स्वरूप अपने संयोगों के साथ वेदना को घनीभूत करते हैं। महाकवि अश्वघोष के 'सौन्दरानन्द' में प्रकृति अपनी अनुकूल रूप-रेखा में वियोगी हृदय के साथ व्याकुल है। कुछ स्थलों पर कालिदास ने प्रकृति-चित्रों की उद्भावना स्वाभाविक रीति से ही भावों को उद्दीप्त करने के लिए की है। 'कुमारसम्भव' में वसन्त-वर्णन अपने समस्त

विशुद्ध उद्दीपन विभाव

वर्णन में उद्दीपन के रूप में प्रकृति का सुन्दरतम उदाहरण है विध्वस्त अयोध्या और देवपुरी का वर्णन इसी दृष्टि से हुआ है। पहले ही कहा जा चुका है कि उद्दीपन रूप में प्रकृ मनोभावों को अधिक प्रगाढ़ करने मे सहायक होती है, साथ ही अनुप्राणित प्रकृति की सहचरण भावना मे जो आरोप की भावना है वह भी उसी प्रवृत्ति से संबन्धित है। इस कारण प्रकृति के उद्दीपन-रूप के वर्णन मिश्रित हैं। बाद के कवियों में प्रकृति का उद्दीपक स्वरूप भी रूढ़िवादी होता गया है। ये कवि प्रकृति के समस्त वर्णनों को उद्दीपन के रूप में ही खींच ले जाते हैं। महाकाव्यों में कथा-प्रसंग से अलग केवल काल्पनिक नायिकाओं को पृष्ठभूमि में लाकर प्रकृति के उद्दीपन रूप को उपस्थित किया गया है। यह उद्दीपन की प्रवृत्ति प्रारम्भ से पाई जाती है, क्योंकि मानवीय स्वच्छंद भावना में भी किसी अदृश्य नायिका का रूप विद्यमान रहता है। रामायण के सुन्दर-काण्ड के वर्णनों में यह भावना पाई जाती है; साथ ही कालिदास के 'ऋतुसंहार' में भी सारी उद्दीपन की भाव-धारा किसी अदृश्य प्रेयसी को लेकर ही है। परन्तु बाद के कवियों ने वस्तु-वर्णन और काल वर्णन को केवल इसी दृष्टि से प्रस्तुत करना आरम्भ किया है। यह प्रवृत्ति अपनी रूढ़िवादिता में यहाँ तक बढ़ी कि वर्णन-प्रसंगों में प्रकृति की भिन्न वस्तुओं का उल्लेख करके ही भावों का एक मात्र वर्णन किया जाने लगा। और कभी कभी तो इन स्थलों पर केवल मानवीय मधु क्रीड़ाओं का वर्णन मात्र प्रमुख हो उठता है। कलात्मक रूढ़िवादिता ने संस्कृत काव्यों को कभी उन्मुक्त वातावरण नहीं दिया जिसमें प्रकृति का स्वतंत्र आलंबन रूप या उद्दीपन रूप ही विशुद्ध हो सकता। ये काव्य अधिकाधिक कृत्रिम और अस्वाभाविक होते गये हैं। उनमें भावात्मकता के स्थान पर शारीरिक मांसलता है और वर्णनों की चित्रमयता और भावप्रवीणता के स्थान पर विचित्र कल्पना और स्थूल आरोपवादिता अधिक आती

गई है।[२७]

§१४—पिछली विवेचना में कहा जा चुका है कि स्वाभाविक मानसशास्त्र के आधार पर अलंकारों का प्रयोग भाव और वस्तु को अधिक स्पष्टता से अभिव्यक्त करने के लिए होता है। बाद में अलंकारों में वर्णन-वैचित्र्य का कितना ही विकास क्यों न हो गया हो परन्तु उनकी अन्तर्निहित प्रवृत्ति अभिव्यक्ति को अधिक व्यंजनात्मक करने की रही है। साहित्य में प्रकृति की चित्रमय योजना के द्वारा आलंकारिक प्रयोगों से वस्तु स्थिति परिस्थिति और क्रिया-स्थितियों को वातावरण के साथ अधिक भाव गम्य बनाया गया है। इसके लिए जिन स्थलों पर प्रकृति के एक चित्र को स्पष्ट करने के लिए दूसरे दृश्य का आश्रय लिया गया है, वे चित्र सुन्दर बन पड़े हैं। ऐसे प्रयोग वाल्मीकि में भी मिलते हैं; परन्तु अश्वघोष और कालिदास में इनका विकास हुआ है। कालिदास में अलंकारों के ऐसे चित्रमय प्रयोग सर्वश्रेष्ठ बन पड़े हैं। भारवि और प्रवरसेन में अलंकारों का यह रूप रहा है, यद्यपि कल्पना अधिक जटिल होती गई है। माघ में यह प्रवृत्ति कम होती गई है। इन प्रयोगों में कहीं स्वतःसम्भावी रूपों की योजना का आश्रय लिया गया है और कहीं कवि प्रौढोक्ति सम्भव काल्पनिक रूपों की, जो अपने रंग-रूपों, आकार-प्रकार तथा ध्वनि-गंध के संयोग में विभिन्न स्थितियों के आधार पर सम्भव हो सकते हैं। भारवि और माघ में प्रकृति उपमानों की योजना का यही दूसरा रूप अधिक पाया जाता है। इसके अतिरिक्त अलंकारों में मानवीय स्थितियों और क्रियाओं से भी साम्य उपस्थित किया गया है। इसमें अलंकारों में प्रकृति का प्रयोग मानवीकरण के रूप में होता है और कहीं रूप को ही भावात्मक बनाने के लिए। बाद में इसमें भी

अलंकारों में उपमान

---

२७ विशेष विस्तार से 'संस्कृत काव्य में प्रकृति' नामक लेखक की पुस्तक में विचार किया गया है। (शीघ्र प्रकाशित होगी)

सकते हैं, परन्तु अपनी सामूहिक चेतना में वे रूढ़िवादी ही हैं।[२८]

§ १५—संस्कृत की काव्य-शास्त्र संबन्धी परम्परा तथा उसके काव्य के विभिन्न रूप हिन्दी-साहित्य के मध्ययुग की भूमिका के समान हैं। परन्तु हम आगे देखेंगे कि यह भूमिका साहित्य के आदर्शों तक ही सीमित है। अन्य क्षेत्रों में इस युग के साहित्य ने स्वतंत्र रूप से विभिन्न क्षेत्रों से प्रेरणा ग्रहण की है। संस्कृत-साहित्य के बाद के काव्य के समानान्तर प्राकृत और अपभ्रंश का साहित्य भी है। इन साहित्यों का एक भाग तो धार्मिक चेतना से पाली के समान ही प्रभावित रहा है। प्राकृत साहित्य में संस्कृत काव्यादर्शों का अनुकरण अधिक दूर तक हुआ है। अपभ्रंश-साहित्य में संस्कृत साहित्य के आदर्शों का पालन तो मिलता है, पर एक सीमा तक इसमें स्वच्छंद प्रवृत्तियों का समन्वय भी हुआ है। यह भावना जन-जीवन के सम्पर्क को लेकर ही है। परन्तु अपभ्रंश के काव्यों में (जिनमें प्रमुखता जैन काव्यों की है) धार्मिक प्रवृत्ति तथा साहित्यिक आदर्शों के अनुसरण के कारण स्वच्छंदवाद को पूरा अवसर नहीं मिल सका। इस कारण उसमें प्रकृति संबन्धी किसी परम्परा का रूप स्पष्ट नहीं हो सका है। अगले प्रकरण में हम देखेंगे कि हिन्दी साहित्य के मध्ययुग में काव्य को एक बार फिर अधिक उन्मुक्त वातावरण मिला।

हिन्दी मध्य युग की भूमिक

---

२८ 'वही'

द्वितीय प्रकरण

मध्ययुग की काव्य-प्रवृत्तियाँ

§१—प्रकृति और काव्य के मध्य में मानव की स्थिति निश्‍
है। काव्य में प्रकृति-रूपों की विवेचना के पूर्व काव्य की वि
प्रवृत्तियों से परिचित होना आवश्यक है।

युग की समस्या

प्रवृत्तियों का अध्ययन मानव को लेकर ही सम
है और मानव का अध्ययन युग विशेष की राजनीतिक, सामाजि
धार्मिक तथा सांस्कृतिक चेतना में सन्निहित है। साहित्य आदि
अभिव्यक्ति तो उसी मानव जीवन की है। जिस युग के विषय में कह
जा रहे हैं, उस हिन्दी मध्ययुग के साहित्य के विषय में पिछले साहि
के इतिहास-लेखकों का कथन था कि यह असहाय और पराजित जा
का प्रतिक्रियात्मक साहित्य है और इसी कारण इसमें भक्ति-भावन
को प्रधानता मिली है।[१] पं० हजारी प्रसाद ने इस धारणा को अस-

---

१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, मिश्रबंधु, पंडित अयोध्या सिंह उपाध्याय आ

मूलक सिद्ध किया है और मध्ययुग की भक्ति-भावना को साहित्यिक रूप में स्वीकार किया है।[१] स्वाभाविक रूप से राजनीतिक स्थिति तथा भारत में इस्लाम धर्म के प्रवेश का प्रभाव मध्ययुग के साहित्य पर अवश्य पड़ा है। इस युग के साहित्य पर जो प्रभाव इनका पड़ा है, उस पर आगे विचार किया जायगा। परन्तु इस युग की व्यापक भूमिका में युग की काव्य-प्रवृत्तियों को समझने के लिए आवश्यक है कि मध्ययुग की राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों के साथ दार्शनिक, धार्मिक तथा कलात्मक पृष्ठ-भूमि को भी प्रस्तुत कर लिया जाय। वस्तुतः हिन्दी मध्ययुग का साहित्य इस सांस्कृतिक चेतना के आधार पर विकसित हुआ है।

शृंखला की कड़ी

§२—इस विषय में एक बात का उल्लेख करना आवश्यक जान पड़ता है। अभी तक हम मध्ययुग के साहित्य के साथ संस्कृत साहित्य की बात सोचने के अभ्यस्त रहे हैं। इस युग के साहित्य के पूर्व अपभ्रंश तथा प्राचीन हिन्दी का विशाल साहित्य है। चारण काव्यों के रूप में प्राचीन हिन्दी का बहुत कम साहित्य हमारे सामने है। भारतीय साहित्य की शृंखला की यह कड़ी अभी तक उपेक्षित रहा है और इस कारण हिन्दी मध्ययुग की काव्यगत परम्पराओं की पूरी रूप-रेखा हमारे सामने नहीं आ सकी है।[२] धार्मिक भाव-धारा के विषय में भी पहले इसी प्रकार सन्देहात्मक स्थिति थी। इसी परिस्थिति के कारण ग्रियर्सन ने भक्ति को मध्ययुग की आकस्मिक वस्तु के रूप में समझा था। इधर दक्षिण के आलवारों की भक्ति परम्परा के प्रकाश में आने पर तथा सिद्धों और नाथों के

बाबू श्यामसुन्दरदास इसी मत के हैं। डा० रामकुमार वर्मा राजनीतिक कारण को महत्त्व देते हैं।

२ हिन्दी-साहित्य की भूमिका;

३ राहुल सांकृत्यायन; हिन्दी काव्य-धारा की भूमिका।

अध्ययन की पृष्ठ-भूमि पर भक्ति-भावना का स्रोत अधिक निश्चित हो सका है। अपभ्रंश साहित्य के व्यापक अध्ययन से साहित्यिक परम्पराओं का क्रम उपस्थित हो सकेगा।* इस साहित्य में जन-सम्पर्क संबन्धी स्वच्छंद प्रवृत्तियाँ अवश्य मिलती हैं, यद्यपि कवियों के सामने साहित्यिक आदर्शों की परम्परा भी सदा रही है। सिद्धों और नाथों का, एक वर्ग ऐसा अवश्य है जिसके सामने साहित्यिक बंधन नहीं था, परन्तु उसका अभिव्यक्ति का अपना ढंग था जिसमें जन-जीवन की बात न कही जाकर अपने मत और सिद्धान्त का प्रतिपादन ही है। जैन कवियों में धार्मिक चेतना अधिक है और राज्याश्रित कवियों के सामने संस्कृत तथा प्राकृत के आदर्श अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इसके उपरांत भी अपभ्रंश का कवि जन-जीवन से अधिक परिचित है और अपने साहित्य में अधिक उन्मुक्त वातावरण तथा स्वच्छंद भावना का परिचय देता है। हम देखेंगे कि इसी स्वच्छंद भावना को हिन्दी साहित्य के मध्ययुग ने और भी उन्मुक्त रूप से अपनाने का प्रयास किया है।

युग-चेतना तथा राजनीति

§३—यहाँ राजनीतिक परिस्थिति के रूप में एक बात का उल्लेख किया जा सकता है। हिन्दी-काव्य के मध्ययुग में कवियों के लिए विक्रम, हर्ष, मुंज और भोज जैसे आश्रयदाता नहीं थे और उनको अपने आश्रयदाता सामंतों के यश-गान का अवसर भी नहीं था। इस स्थिति को राजनीतिक प्रभाव के रूप में मुसलमानों के भारत-प्रवेश से संबन्धित माना जा सकता है। वस्तुतः मध्ययुग में इसको जीवन के सभी क्षेत्रों में जन-आन्दोलन के रूप में स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति

---

* इस दिशा में इलाहाबाद विश्वविद्यालय का हिन्दी विभाग प्रयत्नशील है। श्री हरिवंश कोछड़ का अपभ्रंश संबंधी कार्य लगभग समाप्त हो रहा है। काम का क्षेत्र विशेषतः जैन धर्म-ग्रन्थ है। लेखक ने इस विषय में कोई प्र-यत्न नहीं किया है।

दिखाई पड़ती हैं। इस युग में, दर्शन, धर्म तथा समाज आदि क्षेत्रों में रूढ़ि का विरोध हुआ और नवीन आदर्शों की स्थापना हुई। इस वातावरण के निर्माण के लिए तत्कालीन राजनीतिक स्थिति अनुकूल हुई। मुसलमान शासक विदेशी होने के कारण अपने धर्म के पक्षपाती होकर भी यहाँ कि परिस्थिति के प्रति उदासीन थे। मध्ययुग के पूर्व ही कुमारिल तथा शंकर ने बौद्धों को परास्त कर दिया था और राजपूत सामन्तों की सहायता से हिन्दू-धर्म का पुनरुत्थान हो चुका था। परन्तु न तो जनता के जीवन से बौद्धों का प्रभाव हट सका और न हिन्दू-धर्म की स्थापना से सामाजिक व्यवस्था का रूप ही निश्चित हो सका था। ऐसी स्थिति में राज्य-शक्ति भी विदेशी हाथों में चली गई। फिर तो धर्म को सामाजिक व्यवस्था का आधार बनाए रखना और अद्वैत दर्शन से धर्म के साधना पक्ष का प्रतिपादन करना दोनों ही कठिन हो गया। परिणाम स्वरूप उस समय एकाएक दर्शन, धर्म और समाज सभी को जनरुचि का आश्रय ढूँढना पड़ा। इसका अर्थ है इनको अपनी व्यवस्था की रूप-रेखा प्रचलित समाज की प्रमुख प्रवृत्तियों के आधार पर देनी पड़ी। साहित्य जीवन की जिन समष्टियों की अभिव्यक्ति है, वे सभी अपना संतुलन जन-जीवन के व्यापक प्रसार से कर रही थीं।

क—ऐसी स्थिति में मध्य-युग के साहित्य को जन-आन्दोलन के स्वच्छंद झोंके ने एक बार हिला दिया।[५] संस्कृत साहित्य की संस्कारवादी परम्परा में स्वच्छंदवाद को उन्मुक्त वातावरण नहीं मिल सका था। अपभ्रंश साहित्य में एक बार उसने प्रवेश करने का प्रयास किया है और मध्ययुग में इसको उन्मुक्त वातावरण भी मिल सका है, परन्तु यह प्रयास पूर्ण सफल नहीं हुआ। इस साहित्यिक आन्दोलन ने अपनी अन्य प्रेरणाएँ विभिन्न स्रोतों से प्राप्त की है और इस कारण उसमें विभिन्न रूप पाए जाते

स्वच्छंद वातावरण

---

५ हिन्दी-साहित्य की भूमिका; पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी; पृ० ५७

है। परन्तु इस समस्त काव्य की व्यापक भावना के अन्तराल में ए
स्वच्छंद तथा उन्मुक्त प्रवृत्ति का आभास मिलता है। यहाँ इन शब्द
का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया गया है। स्वच्छंदवाद किसी साहि
की देश-काल गत सीमा में नहीं बाँधा जा सकता। यह तो व्यापक रू
से मानव जीवन की स्वाभाविक तथा उन्मुक्त अभिव्यक्ति है। इस
साहित्यिक प्रेरणा में रूढ़ियों के प्रति विद्रोह भी होता है।[१] आगे की
विवेचना में हम देखेंगे कि मध्ययुग के जन-आन्दोलन ने इस युग के
दार्शनिक, धार्मिक और सामाजिक वातावरण को स्वच्छंद बनाने में
सहायता दी है और इन सबसे प्रेरणा पाकर इस युग का साहित्य भी
मूलतः स्वच्छंदवादी ही है। फिर भी मध्ययुग की अधिकांश काव्य-
परम्पराओं में इस प्रवृत्ति का विकास नहीं हो सका। इसका एक कारण
काव्य में भक्ति की प्रमुखता में देखा जा सकेगा। लेकिन इस युग के
काव्य पर भारतीय कला और साहित्य के आदर्शों का जो प्रभाव पड़ा
है उसकी विवेचना से यह बात और भी अधिक स्पष्ट हो सकेगी।

युग की स्थिति और काव्य

§४—शंकर की दिग्विजय के बाद भारतवर्ष में बौद्ध-धर्म का नाश हो गया। इसका अर्थ केवल इतना है कि यहाँ दार्शनिक पंडितों तथा धार्मिक आचार्यों में बौद्ध-दर्शन तथा बौद्ध-धर्म की मान्यता नहीं रह सकी। परन्तु बौद्ध-धर्म का प्रभाव जनता पर ज्यों का त्यों बना था। इस प्रभाव का तात्पर्य

दर्शन और जीवन

१ नेचुरलिज्म इन इंगलिश पोइट्री; स्टफोर्ड ए० ब्रुक; पृ० २४—'देखे अभी तक प्रकृतिवाद के विकास की बात कही है जिसमें काव्य का संबन्ध स्वच्छंद-भाव से है। और इसी कारण वह व्यापक मानव प्रवृत्तियों की उन्मुक्त अभिव्यक्ति है जिसमें अपने से पूर्व की रूढ़िवादी काव्य-भावना से विरोध भी है।'

आचारों तथा विश्वासों के विकृत रूप में लेना चाहिए।* जनता किसी भी धर्म के बौद्धिक-पक्ष पर अधिक ध्यान नहीं देती, फिर बौद्ध-धर्म तो विशेषतः सन्यासियों का धर्म था। जहाँ तक मस्तिष्क की समग्रता थी, तर्क का क्षेत्र था, शंकर का अद्वैत अटल और अकाट्य था। परन्तु जीवन की व्यावहारिक दृष्टि से यह दर्शन दूर पड़ता है। मध्ययुग की जनता के लिए अपने बौद्धिक स्तर पर यह तत्त्ववाद ग्राह्य होना सम्भव नहीं था। जीवन के आध्यात्मिक पक्ष को स्पर्श करने के लिए भी जीवन की अस्वीकृति मध्ययुग के आचार्यों को सम्भव नहीं जान पड़ी। आध्यात्मिक साधना के लिए अद्वैत को विशिष्ट अर्थ में ही स्वीकार किया जा सकता है। इसी कारण रामानुजाचार्य तथा उनके परवर्ती आचार्यों ने विशिष्टाद्वैत का ही प्रतिपादन किया है। दार्शनिक प्रतिपादन की शैली तर्क है और इस कारण इन आचार्यों ने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन तर्क के आधार पर ही किया है। अद्वैतवाद में जिस सीमा तक बौद्धिक कल्पना का चरम है, उस सीमा तक जीवन का व्यावहारिक समन्वय नहीं है। आत्मवान् जीव स्वचेतना तथा रूपात्मक जगत् की अनुभूति को लेकर ही आगे बढ़ता है। जीवन के स्वाभाविक और स्वच्छंद दर्शन में अद्वैत की व्यापक एकता का संकेत तो मिलता है, पर उसके लिए जगत् की रूपात्मक सत्ता को भ्रम मानना और अपनी स्वानुभूत आत्मा के व्यक्तित्व को अस्वीकार करना सरल नहीं है। इसलिए जब दर्शन धार्मिक जीवन और व्यक्तिगत साधना का समन्वय उपस्थित करना चाहता है, वह विभेदवादी लगता है। रामानुजाचार्य ने अपने विशिष्टाद्वैत में इसी एकता और भिन्नता का समन्वय उपस्थित किया है। रामानुज का ब्रह्म प्रकृति, जीव और ईश्वर से युक्त है। ईश्वर अपने पूर्ण स्वरूप में ब्रह्म से एक रूप है। भेद यह है कि ईश्वर धार्मिक

---

* हिन्दी-साहित्य की भूमिका; पं० हजारीप्रसाद : पृ० ४।

साधना का आश्रय है और ब्रह्म तत्त्ववाद की त्रि-एकता का प्रतीक है। रामानुज का यह सिद्धान्त बिलकुल नया हो, ऐसा नहीं है। इसमें जीव, प्रकृति और ईश को सत्य मानकर सब में ब्रह्म की अभिव्यक्ति स्वीकार की गई है। यह एक प्रकार से धार्मिक साधना के लिए शंकर के पारमार्थिक और व्यावहारिक सत्यों का समन्वय समझा जा सकता है। इसमें संसार की रूपात्मक सत्ता का अर्थ लगाने के लिए माया का आश्रय भी नहीं लेना पड़ा है। आचार्य वल्लभ ने अपने पुष्टि मार्ग के लिए जिस शुद्धाद्वैत का प्रतिपादन किया है उसका स्वरूप भी इसी प्रकार का है। शंकर ने सत्य के जिस अंशानुक्रम का उल्लेख किया है, उसी को वल्लभ ने सत् (प्रकृति), चित् (जीव) और आनन्द (ईश) के रूप में स्वीकार किया है।[८] जीव में प्रकृति का अंश है इसलिए वह 'सच्चित्' है और ईश में प्रकृति तथा जीव दोनों का तिरोभाव है इसलिए वह 'सच्चिदानन्द' है। इस प्रकार इसमें भी धार्मिक-साधना का दृष्टिकोण ही प्रमुख है। इस समस्त तत्त्ववादी विचार-धारा का कारण यही है कि दर्शन अपना मार्ग जीवन के व्यापक क्षेत्र में बना रहा था। ऐसी स्थिति में दर्शन में उन्मुक्त वातावरण की स्वीकृति सम्भव हो सकी, जिसके फल स्वरूप मध्ययुग के तत्त्ववाद में यथार्थवादी अद्वैत का प्रतिपादन हुआ।

§५—अभी तक दार्शनिक आचार्यों के तत्त्ववाद का उल्लेख किया गया है। यदि हम मध्ययुग के साधक कवियों के दार्शनिक मत

सहज आत्मानुभूति

पर विचार करें तो इस यथार्थवादी अद्वैतवाद की बात और भी स्पष्ट हो जाती है। साथ ही मध्ययुग में दार्शनिक स्वच्छंदवाद की प्रवृत्ति भी अधिक व्यक्त हो जाती है। इन साधकों के दार्शनिक मत के साथ ही यह भी जान लेना आवश्यक

---

८ ए कांस्ट्रक्टिव सर्वे ऑफ उपनिषदिक फिलासफी; आर० डी० रानाडे पृ० २१०, २१२।

है कि ये सहज आत्मानुभूति को ही ज्ञान (ब्रह्म ज्ञान) का साधन स्वीकार करते हैं। संतों का 'सहज' ज्ञान यही आत्मानुभूति है। कबीर जब 'सहज' का आध्यात्मिक ज्ञान की सीढ़ी कहते हैं या दादू अधिक कवित्वपूर्ण शब्दों में आत्मानुभूति को झील कहते हैं, तो उसका भाव आत्मानुभूति ही है।[9] जब कहते हैं—'बोलना का कहिए रे भाई, बोलत बोलत तत्तनसाई' उस समय निश्चय ही उनका संकेत आत्मानुभूति की ओर है। प्रेममार्गी सूफी कवियों ने भी ईश्वर को हृदय में बताया है। जायसी कहते हैं—'पिउ हिरदय मँह भेंट न होई। को रे मिलाव कहाँ कहि रोई।' परन्तु इन कवियों ने साधना के भाव-पक्ष को ग्रहण किया है। इसी कारण आत्मानुभूति का विषय भावाभिव्यक्ति हो गया है। ज्ञान के विवेचनात्मक पक्ष में सगुणवादी कवियों का भी यही मत है। तुलसीदास ने भक्ति के साथ ज्ञान को भी महत्त्व दिया है, पर वह ज्ञान का व्यापक रूप है, केवल व्यावहारिक नहीं। वैसे तुलसी भावात्मक भक्ति को ही प्रमुख मानते हैं और साथ ही विनयपत्रिका में उन्होंने भेद-बुद्धि वाले ज्ञान को त्याज्य माना है।[10] सूरदास ने भी सगुणवादी होने के साथ ही अपनी भक्ति में भावाभिव्यक्ति का साधन ग्रहण किया है और भगवान् के प्रेम को आत्मानुभूति के रूप में अंतर्गत मानेवाली ही बताया है।[11] इस प्रकार मध्ययुग के साधक कवियों ने अपनी

---

९ कबीर-ग्रंथा० पृ० ५९; १५—'हस्ती चढ़िया ज्ञान का, सहज दुलीचा डारि।" और दादू की बानी (ज्ञान-सागर) पृ० ४२; ७०—

"दादू सरवर सहज का, तामें प्रेम तरंग।
तह मन मूले आतमा, अपने साईं संग॥"

१० विनय-पत्रिका; पद १११—"केशव कहि न जाइ का कहिए!
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोउ जुगल प्रबल करि मानै।
तुलसीदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपुन पहिचानै।"

११ सूरसागर (वे० प्र०) प्र०, पद २—

अभिव्यक्ति में भाव-पक्ष को स्थान दिया है, साथ ही आत्मानुभूति को ज्ञान से अधिक महत्त्वपूर्ण माना है। इसका कारण यह है कि इन साधकों में कवि की अन्तर्दृष्टि अधिक है, दार्शनिक का तर्क कम और इन्होंने कवि की व्यापक अन्तर्दृष्टि से ही दार्शनिक प्रश्नों पर विचार किया है। भारतीय विचारों की परम्परा में दार्शनिक स्वच्छंदवाद का एक युग उपनिषद्-काल था। उपनिषद्-काल का द्रष्टा कवि और मनीषी था। उसके सामने जीवन और सर्जन का उन्मुक्त वातावरण था। उसने आत्मानुभूति में जिस क्षण सत्य का जो रूप देखा, उसे सुन्दर से सुन्दर रूप में अभिव्यक्त किया। यही कारण है कि उपनिषदों में विभिन्न सिद्धान्तों का मूल मिल जाता है। वस्तुतः सत्य की अनुभूति जब अभिव्यक्ति का माध्यम स्वीकार करती है, उस समय उसके रूपों में अनेक रूपता होना सम्भव है।[१२] हिन्दी मध्ययुग के साधक-कवियों की स्थिति भी लगभग ऐसी ही है। ये साधक द्रष्टा ही अधिक हैं, विचारक नहीं। यही कारण है कि इनके सिद्धान्तों में विचारात्मक एक-रूपता नहीं है। इनके पास दार्शनिक शब्दावली अवश्य थी, जिसका प्रयोग इन्होंने अपने स्वच्छंद मत के अनुरूप किया है। इसके अनुसार इनको तत्त्ववाद के विभिन्न मतवादों में रखना इनकी उन्मुक्त अभिव्यक्ति के प्रति अन्याय करना है।

§६—भावाभिव्यक्ति का माध्यम स्वीकार करने पर इस युग का साधना-काव्य अनुभूति प्रधान है। इनके विचार और तर्क इसी से प्रेरणा ग्रहण करते हैं। इस आधार पर सभी परम्पराओं के साधक-कवि अपने विचार में समान

समन्वय दृष्टि

"अविगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूँगे मीठे फल को रस अंतर्गतही भावै॥"

१२ द कांस्ट्रक्टिव सर्वे ऑव उपनिषदिक फ़िलासफ़ी; आर. डी. रानाडे; पृ. १७८

लगते हैं। जो भेद हैं वह उनके सम्प्रदायों तथा साधना पद्धति के भेद के कारण है। इस युग के समस्त साधक कवियों की व्यापक प्रवृत्ति समन्वय तथा सहिष्णुता की है। इनमें जो जितना महान कवि है वह उतना ही अधिक समन्वयशील है। परम सत्य की अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए समन्वय ही आवश्यक है, क्योंकि उसका बोध सीमा ज्ञान के द्वारा ही कराया जाता है। साथ ही भारतीय तत्त्ववाद के विभिन्न मतों से ये साधक परिचित थे और इन्होंने उनकी शब्दावली को पैत्रिक सम्पत्ति के समान पाया है। इस सारी परिस्थिति को यदि हम अपने सामने रखकर विचार करें तो हमें इनमें जो विरोधी बातों की कठिनाई जान पड़ती है, उसका हल मिल सकेगा।

क—अनुच्छेद चार में मध्ययुग के यथार्थवादी अद्वैत का उल्लेख किया गया है। परन्तु इसको भौतिक न समझकर विज्ञानात्मक ही मानना चाहिए। हिन्दी मध्ययुग के सभी साधक कवियों ने व्यापक विश्वात्मा की अद्वैत भावना पर विश्वास किया है। निर्गुण संतों में कबीर, दादू और सुन्दरदास आदि ने जिस परावर तथा इन्द्रियातीत का निरूपण किया है वह बहुत दूर तक अद्वैत है। जीव इस स्थिति में ब्रह्म से पूरी एक रूपता रखता है। अन्य जिन संतों में यह व्याख्या नहीं मिलती वे भी पूर्णतः 'भेदाभेदवादी' अथवा 'विशिष्टाद्वैतवादी' नहीं हैं। कुछ स्थलों पर अद्वैत की भावना जीव और ईश की एक रूपता में मिलती है [illegible] संतों ने ब्रह्म की व्याख्या समान नहीं की है और [illegible] कि में अद्वैत भावना का स्वरू[illegible] कबीर, दादू तथा [illegible] अभिव्यक्ति करने [illegible] प्रेम साधना के

विज्ञानात्मक अद्वैत

की अभिव्यक्ति स्वीकार की है। सभी ने माया को कई रूपों में लिया है। माया के संबन्ध में उपनिषद साहित्य में भी यही स्थिति है।[१७] इन्होंने माया को क्षणिकता, अज्ञान तथा आचरण संबन्धी दोषों के रूप में माना है। यद्यपि उस समय शंकर का मायावाद अधिक प्रसिद्ध था और इसका रूप भी इन साधकों के काव्य में मिलता है। प्रमुखतः माया को दो रूपों में स्वीकार किया गया है। माया का एक भ्रमात्मक पक्ष है जो जीव को ब्रह्म से अलग करता है और उसी के अन्तर्गत सामाजिक आचरण संबन्धी दोषों को लिया जा सकता है। दूसरे रूप में माया ईश्वर की शक्ति है जो विद्या है और जिसके सहारे सृजन चक्र चलता है। माया का यह रूप जीव का सहायक है। इसके अतिरिक्त वेदांत दर्शन परिणामवादी नहीं है, फिर भी मध्ययुग के साधकों ने सृष्टि-सर्जन का स्वरूप सांख्य से स्वीकार किया है। लगभग इस युग के सभी साधकों ने कुछ भेदों के साथ सर्जन क्रम के लिए प्रकृति और पुरुष को स्वीकार किया है और महत् से अहं आदि की उत्पत्ति उसी क्रम से मानी है। कबीर तथा तुलसी आदि कुछ प्रमुख कवियों ने इसको रूपक माना है और अन्य कवियों ने मूल रूप में स्वीकार कर लिया है।[१८]

उन्मुक्त दर्शन

ग—इस समस्त व्याख्या से यह स्पष्ट है कि मध्ययुग के तत्त्ववादी आचार्यों ने अपना मत कुछ भी स्थिर किया हो, इस युग के साधक-कवि किसी निश्चित मतवाद के बन्दी नहीं हैं। इन्होंने जीवन और जगत् को स्वच्छंद रूप से उन्मुक्त भाव में देखा है और उसी आधार पर अपनी अनुभूतियों और विचारों को व्यक्त किया है। साथ ही इनके विचारों की पृष्ठ भूमि में भारत की दार्शनिक विचार-धारा है। तत्त्ववाद के प्राचीन सिद्धान्तों

---

१७ क० म० ड० फि० : पृ० २१८

१८ दि निर्गुण स्कूल ऑफ हिंदी पोएट्री: पं० डॉ० बड़थ्वाल पृ० ५०

साथ राजशक्ति दी थी। ऐसी स्थिति में पंडितवर्ग ने समाज के प्रचलित आचार-व्यवहारों की व्यवस्था न करके उनकी स्वीकृति मात्र दी है।[२१] परिणाम स्वरूप मध्ययुग में सामाजिक विशृंखलता के साथ धार्मिक अव्यवस्था भी बढ़ चुकी थी। हिन्दी के साधक-कवियों में अधिकांश का स्वर इनके विद्रोह में उठा है। मध्ययुग के साहित्य में धार्मिक और सामाजिक नियमन विद्रोह तथा निर्माण दोनों ही आधारों पर किया गया है।

क—मध्ययुग के कवि के मन में वस्तु-स्थिति के प्रति विद्रोह है और साथ ही आदर्श के प्रति निर्माण की कल्पना है। केवल कुछ में विद्रोही स्वर अधिक ऊंचा और स्पष्ट है और कुछ में मानवीय आदर्श के निर्माण की व्यवस्था अधिक है। इस क्षेत्र में कबीर तथा अन्य सन्तों की वाणी अधिक स्वच्छन्द है। कबीर ने किसी परम्परा का आश्रय नहीं लिया, इसी कारण धार्मिक रूढ़ियों के प्रति उनका खुला विद्रोह है। परन्तु इन संत कवियों ने केवल खंडन किया हो ऐसा नहीं है। इन्होंने स्वाभाविक मानवीय धर्म का प्रतिपादन भी किया है। यह धर्म किसी शास्त्र-वचन की अपेक्षा न रख कर मानवीय आदर्शों पर आधारित है। इस युग की अन्य परम्पराओं के कवियों में शास्त्र-सम्मत होने की भावना है। परन्तु इन्होंने भी शास्त्र का संकुचित अर्थ नहीं स्वीकार किया है। इनके द्वारा स्वीकृत शास्त्र का अर्थ शुद्ध नैतिक दृष्टि से मानव-जीवन के सुन्दर और शिव आदर्शों का प्रतिपादन करने वाला है। सूर, तुलसी तथा जायसी आदि विभिन्न धाराओं के साधकों में सत्य, अहिंसा और दया के प्रति समान रूप से आस्था है और साधु-पुरुषों के प्रति महान् आदर-भाव भी पाया जाता है। तुलसी ने 'श्रुति सम्मत पथ' पर ही अधिक बल दिया है और 'वर्णाश्रम' की महिमा

विद्रोह और निर्माण

---

२१ हि० का० मू०; पृ० १३

का उल्लेख भी किया है। परन्तु उनका कथन सामाजिक एकता और व्यवस्था की दृष्टि से है। वास्तव में तुलसी क्रान्तिवादी सुधारक नहीं थे, वे परिष्कार के साथ व्यवस्था के पक्षपाती थे। एक सीमा तक इस सत्य का समर्थन संतों ने भी किया है कि धार्मिक मतों का विरोध और उनकी रूढ़िवादिता उनके शास्त्र-ग्रंथों के सत्यों से संबन्धित नहीं है। विरोध तो बिना विचार किए चलने से होता है।[28] जायसी के साथ अन्य सूफी प्रेम मार्गी भी समन्वयवादी व्यवस्थापक अधिक हैं। जायसी ईश्वर को प्राप्त करने के अनेक मार्ग स्वीकार करते हैं।[29] साथ ही इन्होंने तुलसी के समान धर्म ग्रंथों और पुरानी व्यवस्था पर अपनी आस्था प्रकट की है। सूरदास में यह समन्वय तथा उदारता की दृष्टि समान रूप से पाई जाती है; और मानवीय आदर्शों की स्थापना भी इन्होंने की है। भावात्मक गीतकार होने के कारण सूर में सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था का प्रश्न अधिक नहीं उठा है।

ख—ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि मध्ययुग के साधक कवियों ने धर्म को मानव के विकास का मार्ग माना है। इन्होंने धर्म को मानव समाज से संबन्धित करके देखा है।

मानव-धर्म

व्यक्तिगत तथा साम्प्रदायिक भेदों को छोड़कर इनकी व्यापक प्रवृत्ति यही है। साथ ही इनके काव्य में प्रमुख मानवीय आदर्शों को भी महत्त्व दिया गया है। सभी ने भगवान् को मानव मात्र का आराध्य माना है, सभी ने मानव मात्र को समान माना है। इन सभी साधकों ने आत्म-निग्रह, दया, दान तथा अहिंसा का

---

२८ संतबानी संग्रह (भाग १); कबीर: पृ० ४८—"बेद कतेब कहहु मत झूठे, झूठा जो न बिचारे।"

२९ जायसी ग्रं०; पद्मा० "विधना के मारग है तेते। सरग नखत तन रोवाँ जेते।"

उपदेश दिया है। साथ ही इन्होंने एक स्वर में धार्मिक विरोधों की निंदा की है और कुप्रवृत्तियों (मोह, ईर्ष्या, द्वेष आदि) से बचने को कहा है। इस प्रकार हिन्दी साहित्य के मध्ययुग में धार्मिक दृष्टि जीवन को सहज और स्वाभाविक रूप में ग्रहण करती है। संतों में इसकी प्रधानता है। परन्तु सामूहिक रूप से इन साधकों ने रूढ़िगत मान्यताओं को अस्वीकार किया है और समाज को नवीन दृष्टि से देखने का प्रयास किया है।

काव्य में स्वच्छंदवाद

६८—अभी तक युग की परिस्थिति की विवेचना की गई है और काव्य की प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्ति का उल्लेख किया गया है। काव्य बाह्य की प्रतिक्रिया ही नहीं है, वह अन्तः का प्रस्फुरण भी है। साहित्य के इतिहासकारों ने मध्ययुग के प्रारम्भिक भाग को भक्ति काल कहा है, परन्तु इसको साधना-काल कहा जाय तो अधिक उचित है। इस काल के अधिकांश कवि साधक थे, और इन्होंने अपनी अनुभूति को ही काव्य में अभिव्यक्ति का रूप दिया है। इसलिए इनकी काव्य-भावना पर विचार करने के पूर्व, साधना की दिशा पर विचार कर लेना आवश्यक है। साधना का क्षेत्र व्यक्तिगत अनुभूतियों का विषय है। इस दृष्टि से सगुण भक्ति और निर्गुण प्रेम दोनों ही व्यक्तिगत साधना के रूप में मनस्-परक हैं। आत्माभिव्यक्ति के रूप में इस युग के काव्य में एक नया युग आरम्भ होता है। कुछ अन्य कारणों से यह प्रवृत्ति व्यापक नहीं हो सकी, जिनका अन्यत्र उल्लेख किया जायगा। यह काव्य में आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति करने की शैली स्वतः ही स्वच्छंदवादी प्रवृत्ति की प्रतिपादक है। इसके अतिरिक्त इस साधना में जिन स्वाभाविक भावनाओं का आधार लिया गया है, वे भी जीवन से सहज संबन्धित हैं।

साधना की दिशा

क—जिस प्रेम या भक्ति को इस मध्ययुग के साधकों ने प्रमुखतः अपनी साधना का माध्यम स्वीकार किया है, उसके मूल में काम या रति की भावना अन्तर्निहित है।[२४] साधना के दो रूप स्वीकार किए जा सकते हैं। एक तो विरक्ति जिसमें सांसारिक भावों को त्यागना साधना का लक्ष्य है; परन्तु सहज भावना के विरुद्ध यह साधना कठिन है। दूसरा साधना का रूप व्यापक रूप से अनुरक्ति के आधार पर माना जा सकता है। प्रेम-साधना में इस अनुरक्ति का अर्थ सांसारिक वस्तुओं के प्रति अनुराग नहीं है। इसका अर्थ स्वाभाविक वृत्तियों को संसार से हटाकर अपने आराध्य के प्रति लगाना। मानव-भावों में रति या मादन भाव का बहुत प्रबल और महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसी कारण इसके आधार पर साधना अधिक सरल समझी गई है। जो मनोभाव हमको संसार के प्रति बहुत अधिक अनुरक्त रखता है, यदि वही भाव ईश्वरोन्मुखी हो जाता है तो वह उस ओर भी गम्भीर वेग धारण करता है। संतों की 'विरति' भी ब्रह्मोन्मुखी 'निरति' के लिए है। उनका प्रेम भी मानवीय सीमाओं में स्वाभाविक भावनाओं और मनोभावों को लेकर विकसित होता है। सगुणवादी माधुर्य-भाव के भक्तों तथा सूफ़ी प्रेमियों में भी साधना की आधार भूमि रति या मादन भाव है। जब इस भाव का आधार लौकिक रहता है, उस समय साधारण काम-कलाप या रति क्रीड़ा में यह अभिव्यक्ति ग्रहण करता है। इस स्थिति में आलंबन रूप के प्रत्यक्ष रहने पर, मनोभाव शारीरिक प्रक्रिया के रूप में अपनी गम्भीर सुखानुभूति को खो देता है। परन्तु जब भाव का आलंबन अप्रत्यक्ष रहता है, उस समय मनोभावों की गम्भीरता सुखानुभूति के क्षणों को बढ़ाती है। साथ ही भाव के लिए

(हाशिया: प्रेम और भक्ति)

---

२४ तसव्वुफ़ अथवा सूफ़ीमत; चन्द्रबली पाण्डेय: पृ० ११६-१७; हिन्दी सा० भू० पृ० ७९।

आलंबन का होना भी निश्चित है, इस कारण संतों में भी प्रेम साधना के क्षणों में द्वैत भावना लगती है। परन्तु संतों का प्रेम किसी प्रत्यक्ष आलंबन को ग्रहण नहीं करता, उसमें आलंबन का आधार बड़ा ही सूक्ष्म रहता है। और लगता है जैसे यह भाव किसी आलंबन की भूली हुई स्मृति के प्रति है। इस अभिव्यक्ति से एक ओर तो सीमा के द्वारा असीम की व्यंजना हो जाती है और दूसरी ओर उनकी साधना में लौकिकता को अधिक प्रश्रय नहीं मिलता।

सूफी साधकों का आधार अधिक लौकिक है। उसमें पुरुष-प्रेम की उन्मत्त-भावना ही 'इश्क मजाज़ी' से 'इश्क हक़ीक़ी' तक पहुँचाती है।[२५] हिन्दी मध्ययुग के प्रेममार्गी साधकों ने भारतीय भक्ति भावना के माधुर्य-भाव को भी अपनी साधना में स्थान दिया है। यही कारण है कि उनके प्रबन्ध काव्यों में नारी प्रेम की रति भावना को भी स्थान मिला है। परन्तु इन्होंने रति या मादन भाव को लौकिक से अलौकिक अपने आलंबन को प्रकृति में व्यापक रूप प्रदान करके ही बनाया है। दूसरी ओर इन्होंने भावाभिव्यक्ति में संयोग के क्षणों को अधिक गम्भीर बनाया है और वियोग के क्षणों को अधिक व्यापक रूप प्रदान किया है। माधुर्य-भाव की भक्ति भी इसी प्रकार अभिव्यक्ति का आश्रय ग्रहण करती है। परन्तु उसका आलंबन व्यापक सौन्दर्य का प्रतीक है जो अपनी सौन्दर्य की अभिव्यक्ति में स्वयं अलौकिक हो उठता है। इस प्रकार सूफी प्रेमी-साधकों और माधुर्य-भाव के भक्तों ने अपने इस भाव के लिए सौन्दर्य का अलौकिक रूप आलंबन रूप से स्थापित किया है। तुलसी की भक्ति भावना में माधुर्य-भाव का आधार नहीं है, परन्तु प्रेम की व्याख्या और आलंबन का सौन्दर्य रूप इनमें भी मिलता है। अपनी दास्य भक्ति का स्वरूप तुलसी ने सामाजिक तथा आचारात्मक आधार पर ग्रहण किया है।

---

२५ त० या सूफी० ; पृ० १२०

परन्तु प्रेम की महत्ता और उसकी अनन्यता को तुलसी ने भी स्वीकार किया है।[२६] कबीर, सूर तथा जायसी आदि ने इसी प्रकार अपने प्रिय को, अपने आराध्य को स्वामी रूप में देखा है और उसकी वन्दना भी की है। इस प्रकार हिन्दी भक्तयुग में साधना सहज तथा स्वच्छन्द रूप से चल रही थी।

भ—भक्तयुग के साधकों ने अपने साधना मार्ग को सहज रूप से ही ग्रहण किया है क्योंकि यह मानव की स्वाभाविक प्रवृत्तियों पर ही आधारित है। इन्होंने इसका उल्लेख स्थान स्थान पर किया है। साधना के इस सहज रूप के कारण इन साधकों की काव्याभिव्यक्ति जीवन की वस्तु है और हृदय को अभिभूत करती है। जिस प्रकार काव्य शास्त्र के अन्तर्गत 'रस सिद्धान्त' में मानव की स्वाभाविक भावनाओं पर आनन्द प्राप्ति का साधन कहा गया है, उसी प्रकार साधना की इस भाव व्यंजना में मनोभावों की चरम अभिव्यक्ति है। रूपगोस्वामी ने इन दोनों का समन्वय 'उज्ज्वल नीलमणि' में किया है।[२७] प्रेम साधना का यह रूप विभिन्न परम्पराओं में किसी भी स्रोत से क्यों न आया हो, अभिव्यक्ति में हमारे सामने दो बातें रखता है। पहले तो एक सीमा तक इन साधकों ने अपनी भावाभिव्यक्ति के द्वारा व्यक्तिगत मनस् परक काव्य का रूप प्रस्तुत किया है, जिसमें गीतियों की विशेषताएँ मिलती हैं। इस युग के पूर्व भारतीय साहित्य में गीतियों का लगभग अभाव है। और दूसरे भावव्यंजना रूप में सहज और स्वाभाविक माननीय भावों की अभिव्यक्ति को काव्य में स्थान मिला। इसके पूर्व जैसा पिछले प्रकरण में कह चुके हैं, काव्य में कला तथा रूढ़िवाद की प्रमुखता थी। इस प्रकार अभिव्यक्ति के

[illegible]

---

२६ तु० दोहावली: दो० २७२ "चातक तुलसी के मते, स्वातिहुँ पिये न पानि। प्रेम तृषा बाढ़ति भली, घटे घटे की कानि।" (तथा इस प्रसंग के अन्य दोहे)

२७ सूर-साहित्य; पं० हजारी प्रसाद : पृ० ८४

त्र में काव्य संस्कारवादी प्रभाव को बहुत कुछ छोड़कर स्वच्छद
ो सका है।

§६—इस युग के स्वच्छंदवादी वातावरण के साथ ही, इस युग
ा साधक प्रमुखतः कवि है। तत्ववाद की सीमा में न तो हम उसे
दार्शनिक कह सकेंगे, और न व्यक्तिगत साधना के
संकुचित क्षेत्र में उसे साधक ही कहा जा सकता

ाधक और कवि

। मध्ययुग के साधक कवियों ने सर्जन, जीवन और समाज पर
तंत्र रूप से विचार किया है। इसीलिए इन्हें विचारक और साधक
अधिक कवि ही स्वीकार करना है। इस बात का आग्रह कि ये
चकोटि के विचारक या साधक ही थे और उनका काव्य उनकी
धना अथवा विचारों की अभिव्यक्ति का साधन मात्र है, मैं कहूँगा
ुचित है, साथ ही मध्ययुग के कवियों के प्रति अन्याय भी है।
ु जब मैं कहता हूँ ये पूर्णतः और प्रमुखतः कवि हैं
समय यह नहीं समझना चाहिए कि ये कवि होने के साथ ही
चकोटि के विचारक अथवा साधक नहीं हो सकते। फिर यह भी
जा सकता है कि ऐसी स्थिति में जब वे साधक और कवि दोनों
, उनको साधक न कहकर कवि कहने का आग्रह क्यों? बात
सीमा तक उचित है; परन्तु इसमें दो कठिनाइयाँ हैं। पहले
से अनेक महान् साधक हो गए हैं जिनको अपनी अनुभूति को
यक्त करने के लिए माध्यम की आवश्यकता नहीं हुई। दूसरे यह
आवश्यक नहीं है कि साधना की अनुभूति के अनुसार साधक की
यक्ति हो सके। वस्तुतः अभिव्यक्ति का जो रूप हमारे सामने है
पकरणों के माध्यम में आ सका है; और साधक की कवित्व-
ही उसको अपनी अभिव्यक्ति के उपकरणों के प्रति अधिक
तथा जागरूक रख सकी है। इसी कारण इस युग के कवियों
प्रतिभा संपन्न थे, वे ही महान साधक भी लगते हैं क्योंकि उनकी
अभिव्यक्ति में साधना का गम्भीर रूप आ सका है। इसके साथ

ही समन्वय तथा जीवन के प्रति जागरूकता का यह भाव भी इनको कवि के रूप में ही हमारे सामने उपस्थित करता है।

उपकरण : भाषा

§१० — मध्ययुग के ये साधक-कवि अपने विचारों में स्वच्छंद हैं, साथ ही भाषा के जिस उपकरण को इन्होंने अपनी अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार की है उसे भी जनता से ग्रहण किया गया है। वस्तुतः इनका काव्य भाषा, छंद, शैली, भाव तथा चरित्र आदि की दृष्टि से अपने से पूर्व के काव्य से नवीन और मौलिक दिखाई देता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इस स्वच्छंद काव्य के पीछे कोई परम्परा नहीं है। जैसे इन कवियों के विचारों का स्रोत पिछले दार्शनिक विचारकों में मिल जाता है, परन्तु इससे इनकी उन्मुक्त प्रवृत्ति में कोई बाधा नहीं होती, इसी प्रकार यदि साहित्य के क्षेत्र में भी इनके पीछे एक परम्परा है, तो यह स्वाभाविक है और इससे इनकी मौलिकता और स्वच्छंदता में कोई अंतर नहीं पड़ता। भाषा की दृष्टि से मध्ययुग के कवियों की भाषा जनता के निकट की ही नहीं, वरन् साहित्यिक रूप में जनता की ही भाषा है। प्राकृत को जन-भाषा के रूप में माना जाता है। परन्तु अधिकांश में प्राकृत काव्य की भाषा जन-भाषा के आधार पर प्रचलित भाषा स्वीकार की जा सकती है। अपभ्रंश का सामन्ती काव्य तथा सिद्धों का काव्य भी प्रादेशिक भेदों के साथ प्रचलित भाषा के इसी रूप में स्वीकृत है। इस भाषा के समान मध्ययुग के संतों की भाषा तथा रीतिकालीन ब्रज भाषा को माना जा सकता है। प्रचलित भाषा में जनता के स्वच्छंद विचार रखे जा सकते हैं और दरबारी भाषा में रीति तथा अलंकार को निभाया जा सकता है। परन्तु जन-भावना की अभिव्यक्ति जन-भाषा में ही अधिक गम्भीर तथा सुन्दर हो सकती है। इसलिए कवि साहित्यिक परिष्कार के साथ जन-भाषा को अपना लेता है। यही कारण है कि मध्ययुग के कवियों की भाषा जन भाषा है। इस युग के उत्तरार्द्ध में रीति की रूढ़ि के साथ भाषा भी जनता से दूर और

[कृ]त्रिम होती गई है। जहाँ तक छंद का प्रश्न है, वह बहुत कुछ शैली [क]े साथ संबन्धित है। इन कवियों ने भावाभिव्यक्ति के स्थलों पर पद [श]ैली का प्रयोग किया है। पद शैली का विकास निश्चय ही ग्राम्य [ज]न-गीतियों तथा भारतीय संगीत के योग से माना जाना चाहिए। [ज]ब कवि अपनी अभिव्यक्ति के लिए वस्तु परक कथानकों और चरित्रों [क]ा आश्रय लेता है, उस समय दोहा-चौपाई की शैली प्रयुक्त हुई है। दोहा-चौपाई जन-समाज में अधिक प्रचलित हो सके हैं। एक तो कथानक प्रवाह के लिए जैसे संस्कृत में अनुष्टुभ् छंद अधिक उपयुक्त है, वैसे ही हिन्दी में यह छंद-शैली उपयुक्त सिद्ध हुई है। दूसरे जैन-साहित्य ने इसका प्रचार अपने कथानकों में पहले से किया था। सत्यों के उल्लेख तथा विचारों को प्रकट करने के लिए दोहों में संक्षेप तथा प्रभाव दोनों ही पाया जाता है, और दोहों का सम्बन्ध जन गीतियों के छंद से है। इस प्रकार मध्य युग के काव्य की प्रवृत्ति भाषा, छंद तथा शैली की दृष्टि से स्वच्छंदवादी है। इसकी भाषा जन समाज की भाषा है; इसके छंद और इसकी शैली में जीवन को उन्मुक्त रूप से देखने का प्रयास है।

§११—यह तो काव्य की अभिव्यक्ति के माध्यम का प्रश्न हुआ। पर काव्य भावना का क्षेत्र है जो कवि की आत्मानुभूति तथा भावाभिव्यक्ति से संबन्धित है और यह भावना जीवन को लेकर ही है। ये भाव काव्य में कभी तो कवि के व्यक्तिगत जीवन से संबन्धित होकर मनस्-परक स्थिति में व्यक्त होते हैं और कभी अन्य चरित्रों से संबन्धित वस्तु-परक स्थिति में। इन दोनों स्थितियों के अतिरिक्त एक ऐसी भी स्थिति होती है जिसमें कवि अपने मनोभावों को अध्यन्तरित कर किसी चरित्र के भावों के माध्यम से प्रकट करता है। कवि की स्वानुभूति की मनस्-परक अभिव्यक्ति, भारतीय साहित्य में सबसे पहले मध्ययुग के काव्य में मिलती

स्वच्छंद जीवन

है।[२८] इस अभिव्यक्ति के रूप में कवि को पूरी स्वच्छंदता मिली है; और इस कारण इस काव्य में प्राणों को अधिक गहरी अनुभूति मिली है। मीरा, आलम, रसखान तथा आनंदघन की काव्याभिव्यक्ति में प्राणों की गहरी संवेदना है। यही कारण है कि सूर, तुलसी के विनय के पदों में व्यापक तथा गम्भीर आत्म-निवेदन मिलता है। परन्तु जिन कवियों में अपने चरित्रों की भावना से पूर्ण तद्रूपता है: उनमें भी अपनी प्रतिभा के अनुरूप भावों की अभिव्यक्ति वैसी ही उन्मुक्त तथा सहज हो सकी है। सूर की गोपियों की भाव-व्यंजना में और विद्यापति की राधा की यौवन-सजगता में काव्य ऐसा ही स्वाभाविक है। इसी प्रकार की प्रवृत्ति जायसी की भावाभिव्यक्ति में स्थल-स्थल पर मिलती है। यहाँ पर एक बात का उल्लेख करना आवश्यक है। इस युग में कवि ने काव्य को मनस्-परक आधार तो दिया है; परन्तु उसका व्यक्तीकरण भावों के वस्तु-परक आधार पर ही हो सका है। इसलिए स्वानुभूति को व्यक्त करने वाले कवियों में भी विशुद्ध मनस्-परक अभिव्यंजना का रूप नहीं मिलता है। अर्थात् इस काव्य में मानसिक संवेदना से अधिक शारीरिक क्रियाओं तथा अनुभावों को चित्रित करने की प्रवृत्ति रही है और यह स्वच्छंदवादी प्रवृत्तियों की विरोधी प्रवृत्तियों में से एक मानी जा सकती है।

क—जिन भावनाओं को इस काव्य में स्थान मिला है, वे जीवन की साधारण परिस्थितियों से संबन्धित हैं। इन भावनाओं में जीवन की सहज स्वाभाविकता है। प्रारंभिक मध्ययुग की

अभिव्यक्त भावना

समग्र काव्य-परम्पराओं की प्रमुख प्रवृत्ति यही है। कबीर आदि प्रमुख संतों ने अपने रूपकों को साधारण जीवन से

---

२८ यहाँ इसे साहित्य की व्यापक प्रवृत्ति के रूप में समझना चाहिए। हिन्दुस्तान-साहित्य के विषय में लेखक का 'पंजाबी काव्य-रूपों में प्रकृति' नामक लेख देखना चाहिए (विश्व-भारती पत्रिका)

अपनाया है। ये रूपक साधारण जीवन के वातावरण से निर्मित हैं साथ ही इनमें भावनाएँ भी सहज जीवन की हैं।[२९] सूर का काव्य जन-जीवन की विभिन्न भाव-स्थितियों का स्वच्छंद प्रस्फुटन है। सूर मानवीय भावों को सहज रूप से अनेक मुद्राओं में चित्रित करने में सिद्धहस्त हैं। भावों की परिस्थिति-जन्य विविधता और स्वाभाविक सरलता सूर में अनुपमेय है।[३०] जायसी का कथानक यद्यपि प्रतीकात्मक है पर भावों की स्वाभाविकता के लिए उन्हें प्रतीकार्थ को छोड़ना पड़ा है। व्यापक रूप से इन्होंने भारतीय जीवन के स्वाभाविक मनोभावों को उपस्थित किया है।[३१] बाद में अन्य सूफी प्रेममार्गियों में यह सहज तो नहीं रह सका है पर उन्होंने अनुसरण जायसी का ही किया है। तुलसी परिस्थिति जन्य मनोभावों के क्रम को उपस्थित करने में सफल कलाकार हैं और परिस्थितियों के साथ मनोभावों में भी स्वाभा-

---

२९ ईश्वरवियों की प्रमुख भावना स्त्री-पुरुष प्रेम का सोर है। इस कारण वियोग-जन्य परिस्थितियों का रूप इनमें प्रचुर एवं मार्मिक है—

'देख' पिया पाती मों पै भरी।

दुख देख भयानक लागी, मरी विरह की मारी।" (सं० बा० भा० २ पृ० १७२)

३० भावों के चित्रण के विषय में सूर की यह विशेषता है कि वे परिस्थिति के केन्द्र पर भाव को केन्द्रित कर देते हैं। उस स्थिति में ऐसा लगता है मानों भाव उसी से निकल कर चारों ओर फैलते जाते हैं और अपने प्रस्फुरण के अनेक रूपकों में प्रकट हो रहे हैं। इस प्रकार सूर एक परिस्थिति को चुनकर अनेक लोगों के भावों को एक सम धरातल पर विभिन्न रूपों में प्रतिकृत करते हैं। उदाहरण के लिए बाललीला, माखनचोरी आदि लिया जा सकता है, पर विरह-वर्णन सब से अधिक सुन्दर है।

३१ जायसी ने नागमती के विरह-वर्णन में मनोभावों का सुन्दर तथा स्वाभाविक रूप दिया है।

विक विस्तार है।[९२] वैसे तुलसी का क्षेत्र भावना से अधिक चरि
का है।

§१२—चरित्र का रूप भावों के माध्यम से सामने आता है
परन्तु जब हम चरित्र की बात कहते हैं उस समय भावों की समष्टि

चरित्र-चित्रण

समष्टि का रूप हमारे सामने आता है। इस कार
सामाजिक जीवन का रूप देखने के लिए, उस
आदर्शों को समझने के लिए चरित्र ही अधिक व्यक्त है। भाव त
मूलतः एक ही हैं। हमारे सामने इस युग के पूर्व का जितना भी
साहित्य है, उसमें सभी चरित्र या तो अलौकिक हैं या महापुरुषों के
हैं। इसके अतिरिक्त जो अन्य चरित्र हैं, वे भी उच्च वंश तथा ऐश्वर्य
से संबन्धित हैं। अपभ्रंश जैन काव्यों के नायक साधारण होकर भी
धार्मिक अलौकिकता से संबन्धित हैं। इस प्रकार की परम्परा साहित्यिक
आदर्श के रूप में स्वीकृत थी। मध्ययुग के काव्यों में इस आदर्श का
रूप तो समान है, परन्तु इस प्रकार के चरित्रों में एक विशेषता
दृष्टिगत होती है और इस विशेषता का मूल जैन अपभ्रंश काव्यों में
मिलता है। चरित्र अपनी कथात्मक स्थिति में कुछ भी रहा हो, परन्तु
कवि ने उसका चित्रण साधारण जीवन के आधार पर किया है।
जैन काव्यों में साधारण जीवन से चरित्र लेकर उसे आदर्श और
असाधारण के रूप में ही ग्रहण करते हैं। सूर के चरित्र-नायक कृष्ण
लीलामय परम-पुरुष हैं; पर उनके चरित्र को उपस्थित करते समय
कवि यह भुला देता है। सूर ने जिन चरित्रों को उपस्थित किया है, वे
साधारण के साथ ही ग्राम के जीवन से संबन्धित हैं। जीवन की सहज

---

९२ सूर के विपरीत तुलसी में परिस्थिति की परिधि रहती है जिसमें से विभिन्न भाव निकल कर केन्द्रित होते रहते हैं। परिस्थिति भावों को घेरे रहती है और भावों की प्रतिक्रिया उसी से चलती रहती है। उदाहरण के लिए धनुष-यज्ञ प्रसंग, राम-वन-गमन प्रसंग, कैकेयी प्रसंग आदि हैं।

स्वाभाविक स्वच्छंदता उनके चरित्रों में गतिशील है। जहाँ चरित्र में अलौकिक का आभास देना होता है, उस स्थल को सूर अलग रखते हैं; और उस घटना या चरित्र के भाग का स्मरण पात्रों को नहीं रहता। कबीर और अन्य संतों ने जीवन के जितने भी चित्र उपस्थित किए हैं, वे सभी साधारण स्तर के हैं। जायसी तथा उस परम्परा के अन्य कवियों के पात्र राजकुमार तथा राजकुमारियाँ हैं परन्तु उन चित्रण साधारण व्यक्ति के जीवन के समान हुआ है। तुलसी के च अलौकिक हैं, राज-वंश के हैं, साथ ही आदर्शवादी भी हैं। परन्तु चरित्रों में राज्य ऐश्वर्य कहीं भी प्रकट नहीं होता और उनका अ साधारण जीवन पर अवलंबित है।

§ १३—इस युग की काव्य-भावना पर विचार करने से निष्कर्ष निकलता है कि इसमें पूर्णतः स्वच्छंदवादी प्रवृत्तियों का सम हुआ है। इसकी पृष्ठभूमि में जो विचार-धारा

अपफल आन्दोलन

वह अन्य सिद्धान्तों से प्रभावित होकर भी स्व वेग से प्रवाहित हुई है। इससे संबन्धित साधना विभिन्न परम्पराओं विकसित होकर भी जीवन की सहज स्वीकृति पर ही आधारित है। में हम देखते हैं कि काव्य की प्रमुख भावना में जन-जीवन के साधा स्तर पर मानवीय भावनाओं का ही प्रसार है। परन्तु इस युग काव्य में इतना व्यापी स्वच्छंदवादी आन्दोलन होने पर भी, उसमें प्र को उन्मुक्त रूप से स्थान नहीं मिल सका। जैसा प्रथम भाग में गया है, मानव की सौन्दर्य-भावना के विकास में प्रकृति का अ योग है और काव्य की सौन्दर्यानुभूति के आलंबन में प्रकृति अनेक रूप मिलते हैं। काव्य में जीवन की सहज अभिव्यक्ति के प्रकृति का स्वच्छंद रूप स्वाभाविक है। परन्तु हिन्दी मध्ययु काव्य में ऐसा नहीं हो सका। इसका क्या कारण है? वस्तुतः स्वच्छंदवादी आन्दोलन के साथ इस युग के काव्य में कुछ प्रतिनि त्मक प्रवृत्तियाँ भी सन्निहित हैं। इन्हीं प्रवृत्तियों के कारण

काव्य पूर्णतः स्वच्छंदवादी नहीं हो सका और उसने उन्मुक्त रूप से प्रकृति को आलंबन रूप में अपनाया भी नहीं।

प्रतिक्रियात्मक शक्तियाँ

§ १४—मध्ययुग के काव्य में दर्शन और धर्म की व्याख्या जीवन के आधार पर की गई थी। परन्तु धर्म के अन्तर्गत आचारात्मक व्यवस्था का रूप प्रधानता से आ जाता है। और इससे धर्म तथा साधना के क्षेत्र में सांप्रदायिकता का विकास हुआ, और इस युग के काव्य में यह प्रमुख प्रतिक्रियात्मक शक्ति रही है जिसने काव्य में स्वच्छंदवाद को पनपने नहीं दिया। प्रत्येक धारा के प्रमुख कवियों में वातावरण अधिक उन्मुक्त है, परन्तु बाद में साधारण श्रेणी के कवियों में रूढ़ि का बंधन अधिक कड़ा होता गया है। इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप पिछले कवियों ने अपने काव्य का क्षेत्र जीवन की स्वतंत्र अभिव्यक्ति से हटाकर परम्परा को बना लिया। कबीर, दादू तथा नानक आदि कुछ प्रमुख संतों को छोड़कर बाद के अन्य संत कवियों ने अपने संप्रदाय का अनुसरण उधार के वचनों और व्यवहृत रूपकों के आधार पर किया है। सूर, नन्ददास आदि कतिपय कवियों को छोड़कर कृष्ण-काव्य में ऐसी ही परिस्थिति है। बाद में कृष्ण-काव्य के कवियों में सांप्रदायिक आचारों आदि का वर्णन ही अधिक बढ़ता गया है। जायसी के बाद सूफी प्रेममार्गी कवियों में भी अनुसरण तथा अनुकरण अधिक है। इन्होंने अपनी कथा के विभिन्न स्थलों तक को जायसी के अनुकरण पर ही सजाया है। राम-काव्य में तुलसी के बाद कोई उल्लेखनीय कवि भी नहीं दिखाई देता। और इसका कारण कदाचित् यह है कि तुलसी की परम्परा में कोई संप्रदाय नहीं था।

सांप्रदायिक रूढ़िवाद

§ १५—सांप्रदायिकता के अतिरिक्त धर्म की प्रेरणा से उपदेशात्मक प्रवृत्ति अधिक बढ़ गई। इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप

श्रौर स्थापना की भावना इस युग के काव्य में विशेष रूप से दिखाई पड़ती है। इसके कारण काव्य में विवेचना श्रौर तर्क को अधिक स्थान मिल सका श्रौर ये जीवन की उन्मुक्त अभिव्यक्ति में बाधक ही सिद्ध हुए। संतों में यह प्रवृत्ति अधिक है इस कारण उनके साहित्य में कवित्व कम है। साथ ही साधना-पक्ष में आधार मानवीय भावना का होकर भी व्यापक रूप से मध्ययुग के काव्य का स्वर संसार से विरक्त होने का रहा है। इस विरक्ति भावना के कारण इस काव्य में जीवन के प्रति आसक्ति का अभाव है। इन साधकों के लिए सांसारिकता का आधार अध्यात्म के लिए ही है। इस वातावरण में उन्मुक्त स्वच्छंदवाद की जीवन के प्रति अटूट आसक्ति को फैलने का अवसर नहीं मिल सका।

धर्म और विरक्ति

§ १६—स्वच्छंदवाद की विरोधी शक्तियों में भारतीय कला की आदर्श-भावना भी है। भारतीय आदर्श कला के क्षेत्र में व्यक्ति को महत्त्व नहीं देता। उसमें व्यापक भावना के लिए ही स्थान है। यह भावना आदर्श 'सादृश्य' की भावना है जो स्वर्गीय सौन्दर्य की आकृति की तदाकारता पर निर्भर है और यह 'सादृश्य' कवि के वाह्य अनुभव का फल न होकर आन्तरिक समाधि पर निर्भर है जिसके लिए आत्म-संस्कार और आत्म-योग की आवश्यकता है।[३३] इस कला के आदर्श के साथ ही कलाकार में आन्तरिक उल्लास भावना भी भारतीय कला की विशेषता रही है। भारतीय कलाकार जीवन की संवेदना को दुःख के रूप में ग्रहण नहीं करता, वरन् उसको उल्लास में परिणित करता

भारतीय आदर्श भावना

---

३३ ट्रान्सफ़ारमेशन ऑव नेचर; कुमारस्वामी : पृ० ४८। इस विषय में लेखक का 'संस्कृत काव्य-शास्त्र में प्रकृति' नामक लेख देखना चाहिए (हिन्दुस्तानी; अक्टू० ४७ ई०)

है। मध्ययुग के काव्य का प्रमुख भाग इस कला के आदर्शों से प्रभावित है। इतना ही नहीं, वरन् आराध्य की सौन्दर्य व्यंजना में इसको और भी स्पष्ट रूप प्रदान किया गया है। इस आदर्श के फल स्वरूप मध्ययुग के काव्य के एक बड़े भाग में जीवन की स्वाभाविक भावनाएँ तथा प्रकृति का व्यापक सौन्दर्य केवल प्रतीक के अर्थ में प्रदीत है। परिणाम स्वरूप इस काव्य में जीवन और प्रकृति को प्रमुख स्थान नहीं मिल सका।

§ १७—कहा गया है कि इस युग में काव्य साहित्यिक रूढ़ियों से मुक्त हुआ है। परन्तु वस्तुतः इस युग का काव्य साहित्यिक परम्परा का बहिष्कार नहीं कर सका है। कृष्ण-काव्य ने काव्य-शास्त्र के रस और अलंकार को विशेष रूप से अपनाया है। तुलसी ने इनका निर्वाह बहुत ही सुन्दर और सहज रूप से किया है और इससे स्पष्ट है कि वे काव्य-शास्त्र की परम्परा को स्वीकार करके चले हैं। जायसी का शास्त्रीय ज्ञान कम है, फिर भी यथा सम्भव उनका प्रयास भी इस विषय में रहा है। रस-सिद्धान्त अपने विकसित रूप में भक्ति-भावना से बहुत कुछ साम्य रखता है। आलंकारिक योजना आराध्य की रूप साधना के लिए अधिक सहायक हो सकी है। इस प्रकार मध्ययुग के प्रारम्भ में काव्य के अन्तर्गत रस तथा अलंकार आदि को प्रश्रय मिल चुका था। बाद में रसानुभूति को अलौकिकता के स्थान पर लौकिक आधार अधिक मिलता गया; और अलंकारों की सौन्दर्य-योजना आराध्य को रूप दान करने के स्थान पर रूढ़िगत नारी के सौन्दर्य सँवारने में प्रयुक्त होने लगी। आगे मध्ययुग के उत्तरार्द्ध में यह प्रवृत्ति कुछ अन्य परिस्थितियों को पाकर रीति-काल के रूप में हमारे सामने आती है।

काव्य-शास्त्र की रूढ़ियाँ

क—आमुख में हम कह चुके हैं कि मध्ययुग का पूर्वार्द्ध भक्ति-काल है और उत्तरार्द्ध रीति-काल। इस समस्त युग को मध्ययुग कहने

के आग्रह के विषय में पहले ही कहा जा चुका है। यहाँ यह कहना ही पर्याप्त है कि भक्ति-काल में काव्य शास्त्र की रूढ़ि का जो प्रतिक्रियात्मक रूप था वही रीति-काल में प्रमुख हो उठा। और इस कारण इस भाग में स्वच्छंदवाद को बिलकुल स्थान नहीं मिला। अन्य परम्पराओं में धार्मिक तथा सांप्रदायिक रूढ़िवाद का स्थान हो चुका था और रीति की परम्परा प्रमुख हो उठी थी। यह रीति की भावना स्वयं में संस्कारवादी है और हिन्दी साहित्य में तो यह रूढ़ि के रूप में अधिक अपनाई गई है। यद्यपि रीति काल में कवियों की प्रवृत्ति प्रमुखतः शास्त्रीय नहीं हो सकी, और यह उनकी भावमय स्वच्छंद प्रवृत्ति का संकेत देती है। फिर भी रीति स्वच्छंदवाद की विरोधी शक्ति के रूप में ही स्वीकार की जा सकती है।

रीति-काल

× × ×

§ १७—हमारे सम्मुख समस्त मध्ययुग अपनी काव्य-प्रवृत्तियों के साथ आ चुका है। हम देखते हैं कि इस युग के आरम्भ में काव्य स्वच्छंदवादी प्रवृत्तियों से विकसित हुआ है साथ ही उसमें कुछ प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्तियाँ भी क्रियाशील रही हैं और इन्होंने काव्य को पूर्णतः जीवन के उन्मुक्त धरातल पर नहीं आने दिया। परन्तु इन प्रवृत्तियों ने सभी काव्यों को समान रूप से प्रभावित नहीं किया है। यही कारण है कि हमको विभिन्न काव्य-धाराओं में स्वच्छंदवाद का रूप विभिन्न प्रकार से और विभिन्न अनुपातों में मिलता है। साथ ही कुछ कवि ऐसे भी हैं जो अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व के कारण किसी धारा के अन्तर्गत नहीं आते और जिनके काव्य में स्वच्छंदवाद का अधिक उन्मुक्त रूप मिलता है। कृष्ण-काव्य के वे कवि जो किसी संप्रदाय में नहीं हैं, अथवा जिन्होंने संप्रदाय के बन्धन को स्वीकार नहीं किया है इसी वर्ग के कवि हैं।[३४] साथ ही प्रेम-काव्य

स्वच्छंदवाद का रूप

---

३४ विद्यापति, मीरा, रसखान, आलम, घनानंद, बोधा तथा ठाकुर

की स्वतंत्र परम्परा भी इसी वर्ग में सम्मिलित की जा सकती है; जिनमें प्रेम की व्यंजना का आधार सूफ़ियों के प्रतीक नहीं है।[१९] परन्तु इन सभी कवियों ने अपने समकालीन साहित्य से प्रेरणा ग्रहण की है और इस कारण ये एक सीमा तक ही स्वतंत्र कहे जा सकते हैं।

आदि इसी श्रेणी के अन्तर्गत हैं।

१९ 'ढोला मारू रा दूहा' तथा 'माधवानल कामकंदला' आदि।

तृतीय प्रकरण

आध्यात्मिक साधना में प्रकृति-रूप

§ १—हिन्दी-साहित्य के मध्ययुग का पूर्वार्द्ध धार्मिक काल है। इस काल का अधिकांश काव्य धार्मिक भाव-धारा से संबन्धित है। पिछले प्रकरण में इस ओर संकेत किया गया है कि इस काव्य में जिन धार्मिक भाव-धाराओं का विकास हुआ है उनकी पृष्ठभूमि में निश्चित दार्शनिक सिद्धान्त तथा आध्यात्मिक वातावरण था। इस काल के कवियों में बहुत कुछ काव्य संबन्धी प्रवृत्तियों का साम्य है। और इसका कारण उनकी अपनी स्वच्छंदवादी प्रवृत्ति तथा तथ्यों को अनुभूति के माध्यम से ग्रहण करने की प्रेरणा है। परन्तु विभिन्न परम्पराओं से संबन्धित होने के कारण इनके काव्य पर उनके विचारों का प्रभाव निश्चित है। प्रतिभा-संपन्न कवि अपनी परम्परा में अपने संप्रदाय के प्रभाव को लेकर भी एक सीमा तक स्वतंत्र रह सके हैं। परन्तु बाद के कवियों में अपने संप्रदाय तथा अपनी

साधना-युग

परम्परा की रूढ़िवादिता अधिक है और साथ ही ये अपने आदर्श कवि के अनुकरण पर अधिक चलते हैं। प्रत्येक काव्य-परम्परा में एक महान् कवि प्रारम्भ में ही हुआ है और उसी का प्रभाव लेकर बाद के अधिकांश कवि चले हैं। इस कारण आदर्श कवि की रूढ़िवादिता को तो इन कवियों ने अपनाया ही, साथ ही उनका अनुकरण भी इनके लिए रूढ़ि हो गया है। स्वच्छंदवाद की प्रतिक्रियात्मक शक्ति के रूप में धार्मिक सांप्रदायिकता का उल्लेख हुआ है। कहा गया है कि स्वच्छंद प्रवृति तथा अनुभूति जन्य समन्वय के कारण साधक कवि अपने दृष्टिकोण में व्यापक हैं। कबीर द्वैताद्वैत विवर्जित तत्त्व को प्रतिपादित करके भी अद्वैत विचार को अपनाते हैं और साथ ही द्वैत निहित प्रेम साधना का प्रतिपादन करते हैं। प्रेम मार्गी सूफी कवि सूफी होकर भी भारतीय विचारों को स्थान स्थान पर ग्रहण करते हैं। सूर वल्लभाचार्य के शिष्य होकर भी निर्गुण ब्रह्म को अस्वीकार नहीं करते हैं और साथ ही वे दास्य भक्ति का रूप भी उपस्थित करते हैं। तुलसी रामानन्द की शिष्य परम्परा में माने जाते हैं; पर वे अद्वैत तथा विशिष्टाद्वैत को स्वीकार करके आत्म निर्भरा भक्ति का प्रतिपादन करते हैं। यह सब होते हुए भी इनके विचारों के आधार में कुछ निश्चित दार्शनिक सिद्धान्त हैं और अपनी समष्टि में इनकी अपनी अलग विचारधारा है। विचार का यह रूप उनकी साधना को प्रभावित करता है और साधना का रूप आध्यात्मिक होता है। इस प्रकार प्रत्येक भाव-धारा का कवि अपने आध्यात्मिक वातावरण में दूसरी भाव धारा से अलग है। इस भूमिका के आधार पर हमारे सामने दो प्रमुख बातें आती हैं। पहले तो ये समस्त धार्मिक परम्पराएँ स्वच्छंदवादी प्रवृत्ति के मार्ग में प्रतिक्रिया के समान हैं। दूसरे प्रतिक्रिया के रूप में समान होकर भी ये अपने दृष्टिकोण में भिन्न हैं। इन दोनों बातों का प्रभाव इस युग के प्रकृति संबन्धी आध्यात्मिक रूपों पर पड़ा है।

साधना और प्रकृतिवाद

§ २—प्रत्येक संप्रदाय की विचार-पद्धति और उसकी साधना का रूप निश्चित हो जाता है। आगे उसके मानने वालों को उनकी स्थापना करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। जगत् और जीवन की प्रत्यक्ष अनुभूति के आधार पर सत्यों का रूप उपस्थित करने की स्वतंत्रता उनको नहीं मिलती। तर्क की जो परम्परा और विवेचना का जो रूप उनके पूर्व विकसित हो चुकता है; वही उन्हें स्वीकार कर लेना होता है। ऐसी स्थिति में जगत् का दृश्यात्मक रूप प्रकृति उस विचारक तथा साधक के लिए न तो कोई प्रश्न उपस्थित करती है और न कोई प्रेरणा देती है। इस प्रकार हिन्दी मध्ययुग की काव्य-भावना में प्रकृति के प्रति उन्मुक्त जिज्ञासा के रूप में कभी स्वच्छन्दवाद का रूप नहीं आ सका। राम, कृष्ण और प्रेमाख्यान काव्य की भाव-धाराओं में पूर्व निश्चित दार्शनिक सिद्धान्तों का ही समन्वय और प्रतिपादन हुआ है। संत अपने विचारों में स्वतंत्र अवश्य लगते हैं, पर उनकी विचार-परम्परा का भी एक स्रोत है; साथ ही उनकी स्वतंत्रता विचारात्मक स्थापना तथा विरोध पर ही अधिक चलती है। क्योंकि इन समस्त कवियों ने विचार और साधना का रूप गुरु-परम्परा से स्वीकार किया है, इस कारण इनका आध्यात्मिक क्षेत्र भी पूर्व निश्चित तथा स्वतःसिद्ध रहा है। यह साधक कवि अपने चारों ओर के जगत् तथा जीवन से प्रेरणा न प्राप्त करके अपनी साधना के लिए आध्यात्मिक वातावरण उसी परम्परा के अनुसार ग्रहण करता है। फल-स्वरूप मध्ययुग का कवि प्रकृति के दृश्य-जगत् को कभी प्रमुखतः अपनी अनुभूति का, अपने काव्य का विषय नहीं बना सका।

प्रकृति से प्रेरणा नहीं

§ ३—अभी कहा गया है कि मध्ययुग के कवियों ने संप्रदाय और परम्परा का अनुसरण किया है, और इसलिए उनको प्रकृति से

प्रेरणा प्राप्त करने का अवसर नहीं मिला। परन्तु पिछले प्रकरण में हम कह चुके हैं कि इन कवियों की प्रवृत्तियाँ किसी भी परम्परा की बन्दी नहीं हैं। प्रश्न उठ सकता है कि यह विरोध क्यों है। वस्तुतः जब हम कहते हैं कि इन्होंने परम्परा का अनुसरण किया है, उस समय अंध अनुसरण से मतलब नहीं है। यह अनुसरण इतना ही है कि उनकी विचार धारा का आधार बन कर प्राचीन विचार-धारा आती है। इसकी स्वतंत्र प्रवृत्ति का अर्थ है कि इन कवियों में सभी सिद्धान्तों के विभिन्न सत्यों को समन्वित रूप से देखने की शक्ति थी। इस क्षेत्र में धार्मिक काल के साधक कवि के प्रकृतिवादी होने के विषय में सब से बड़ी बाधा थी, उसका विचारात्मक होना। यह इस युग के काव्य की स्वच्छंद-भावना के विरोध में सब से बड़ी प्रतिक्रियात्मक शक्ति रही है; और जिसका उल्लेख पीछे किया गया है। वस्तुतः जैसा प्रथम भाग के प्रथम प्रकरण में संकेत किया गया है; आध्यात्मिक भावना का विकास मानव के अन्दर दार्शनिक चेतना से पूर्व ही हो चुका था। और इस आध्यात्मिक चेतना का आधार बाह्य जगत् के प्रभाव ही कहे जा सकते हैं। जिस जाति ने इस आध्यात्मिक भावना को प्रमुख रखकर ही बार बार दार्शनिक चेतना का प्रश्न उठाया है; उसमें प्रकृति का प्रश्न, उसके प्रति जिज्ञासा का भाव प्रबल हो उठता है। एक बात और भी है। सभी देशों और सभी कालों में दार्शनिक चेतना और दार्शनिक भावना इतनी प्रबलता से उनके कवियों को प्रभावित भी नहीं करती। ऐसा तो मध्ययुग में रीति-काल में देखा जा सकता है। एक सीमा तक दार्शनिक परम्पराओं के प्रभाव से मुक्त कवि दार्शनिक चेतना की ओर बढ़ता है, तो वह प्रकृति और जगत् के माध्यम से आगे बढ़ता है। योरप तथा इंगलैंड के स्वच्छन्द-युग के कवियों का प्रकृति संबन्धी आकर्षण इसी सत्य की ओर संकेत करता है। बाद में जब दार्शनिक चेतना विकसित होने लगती है उस समय आध्यात्मिक साधना अन्तर्मुखी हो उठती है।

अध्यात्म का आधार

इस सत्य के लिए हम भारत के प्राचीन आध्यात्मिक इतिहास को सामने रख सकते हैं।

§ ४—वैदिक-काल प्रकृतिवादी कहा जा सकता है। उसमें प्रकृति की विभिन्न शक्तियों की उपासना की जाती थी। उस युग की प्रार्थनाओं के मूल में धार्मिक अध्यात्म-भावना का विकास वस्तु-परक आधार पर हो रहा था।[1]

अनुभूति का आधार—विचार

प्रथम भाग के प्रथम प्रकरण में इस बात का उल्लेख किया गया है कि दिक्काल की अस्पष्ट भावना और माध्यमिक गुणों की भ्रामक स्थिति से आदि मानव के मन में अपने चारों ओर फैली हुई प्रकृति के प्रति एक भय की भावना उत्पन्न कर दी थी। बाद में व्यक्तीकरण के आधार पर मानव ने उसे अधिक प्रत्यक्ष रूप से देखा होगा। प्रकृति पूजा में यही सत्य सन्निहित है।[2] प्रकृति के व्यक्तीकरण के आधार पर ईश्वर की भावना का विकास हुआ है, और इस आध्यात्मिक भावना के मूल में बाह्य दृश्य जगत् था। परन्तु दार्शनिक चेतना के विकास में यह

---

१ कॉ० ए० ऑ० फि०; आर० डा० रानडे: प्रक० —'दि वैक ग्राउन्ड' पृ० ४—'सब से पूर्व हमको जानना चाहिए कि ऋग्वेद प्रकृति-शक्तियों के व्यक्तीकरण का बहुत बड़ा प्रार्थना-संग्रह है। इस प्रकार यह धार्मिक चेतना के विकास की प्रारम्भिक स्थिति प्रस्तुत करता है जो धर्म का बाह्य वस्तु-परक आधार कहा जा सकता है। दूसरी ओर उपनिषद् में धर्म का मनस्-परक आधार है।'

२ वर्शिप ऑव नेचर: जे० जी० फ्रेज़र इन्ट्रोडक्शन, पृ० १६—'सर्व प्रथम प्रकृति-पूजा के विषय में जिससे मेरा मतलब प्रकृति के रूपों की पूजा से है, जब वे चेतना वाली मानी गई हैं, जो मानव को हानि पहुँचाने या उपकार करने की इच्छा या शक्ति से संवलित हैं। . . . इस प्रकार जिसको हम प्रकृति-पूजा कहते हैं, प्रकृति के रूपों के व्यक्तीकरण पर आधारित है।

बहिर्मुखी भावना अन्तर्मुखी होती गई—और बाह्य प्रकृति
का स्थान आत्म-विचार ने लिया है। इस आत्म-चेतना के
जाने पर प्रकृति के देवताओं का आतंक तथा आकर्षण ज
है। और उपनिषद्-कालीन ऋषियों ने दृश्यात्मक जगत् के
विस्तार में अपनी आत्म-चेतना का विस्तार देखा।[3] इस
पर उपनिषद्कार अपने दृष्टिकोण में सर्वेश्वरवादी हो चुका
परन्तु आत्मचेता दार्शनिक के लिए अब प्रकृति में विशेष आ
नहीं रह गया था; वह प्रकृति की ओर विशेष ध्यान नहीं दे सका। उ
लिए प्रकृति दृश्यमान् भासमान् रह गई थी जो सांसारिक भ्रम के रू
है।[4] फिर भी इस काल में आत्मानुभूति के आधार पर सर्वचेतनवा
मत था। ऋषियों की दार्शनिक चेतना में अनुभूति प्रधान थी। लेकि
हिन्दी-साहित्य का भक्तियुग जिस वेदान्ती दार्शनिक आधार पर खड़ा
है उसकी समस्त प्रेरणा विचारवादी और तर्क-प्रधान है और मध्ययुग
की आध्यात्मिक साधना भावात्मक होकर भी बुद्धिवादी दर्शन के
आधार पर खड़ी है। वैदिक युग में दृश्यात्मक प्रकृति ही आध्यात्मि
भावना और वातावरण की आधार थी। उपनिषद् काल में आत्मानु-
भूति से दार्शनिक चिंतन आरम्भ होता है, परन्तु दृश्य-जगत् में आत्म-
प्रसार देखने के लिए आधार था। हिन्दी मध्ययुग में उपनिषद्-कालीन
अनुभूत सत्यों की स्थापना तो हो सकी, पर उनका आधार तर्क

---

३ हां० ए० उ० फि०: आर० डा० रानाडे: प्रक०—'दि बैक ग्राउन्ड'; पृ० ।

४ उपनिषदों में 'माया' शब्द का प्रयोग कई भावों तथा अर्थों में हुआ
है। उनमें भासमान् भ्रम के अर्थ में भी 'माया' का प्रयोग कई स्थलों पर मिल
है। श्वे० उ० में कहा गया है—[ईश्वर का ध्यान करने से, उससे युक्त होने
पर और उसके अस्तित्व में प्रवेश पाने पर ही संसार के महान भ्रम से छुटका
मिलता है।] 'तस्याभिध्यानात् योजनात् तत्त्वभावात् ... विश्वमाया-
निवृत्तिः (१·१०)

रहा है। इसका कारण यह था कि पिछले सिद्धान्तों के सामने अपना मत रखना था। फिर इसी दार्शनिक स्थापना के आधार पर इस युग की साधना की नींव पड़ी है।[५] ये साधक कवि इस क्षेत्र में अपने आचार्यों के प्रतिपादित तत्वों को अपनी अनुभूति से आध्यात्मिक साधना का विषय बनाते हैं। उपनिषद् काल में अन्तर्मुखी अनुभूति से विचार की ओर बढ़ा गया था, पर इस मध्ययुग में विचार से भावानुभूति की ओर जाने का क्रम हो गया। परिणाम स्वरूप इस युग के कवियों की भाव-धारा में प्रकृतिवाद को स्थान नहीं मिल सका, वे प्रकृति से अपना सीधा संबन्ध नहीं स्थापित कर सके।

§ ५—भारतीय प्रमुख विचार परम्पराओं में ब्रह्म परम तत्त्व स्वीकार किया गया है और प्रकृति तो उसका आवरण है, बाह्य स्वरूप है या उसकी शक्ति की अभिव्यक्ति है। किसी रूप में हो प्रकृति उसी परम तत्त्व को लेकर है।

ब्रह्म का रूप

हिन्दी मध्ययुग के भक्त कवियों का मत इसी दार्शनिक पृष्ठभूमि पर बना है और इस कारण इनके काव्य में प्रकृति का रूप इन विचारों से बहुत दूर तक प्रभावित है। हम देखते हैं कि वैदिक प्रकृतिवाद उस युग के देवताओं के व्यक्तीकरण से आगे बढ़कर एकदेववाद के रूप में उपस्थित हुआ था और यही एकदेववाद वैदिक एकत्ववाद तक पहुँच गया था। यह वैदिक एकत्ववाद या अद्वैतवाद का रूप बाह्य जगत् या प्रकृति से ही प्राप्त हुआ था। उसके आधार में प्रकृति का व्यापक विस्तार था। परन्तु उपनिषदों का चरम-तत्त्व

---

५ कॉ० स० व० फि०: भार० डी० रानाडे; प्रक० — दि वैक प्रावन्द, पृ० ११—'लगभग बारह-सौ वर्ष बाद, अब दूसरी बार वेदान्त-दर्शन के निर्माता उपनिषद्-कालीन ऋषियों के द्वारा प्रस्तुत आधार पर अपने तत्वों को स्थापित करने लगे, तो फिर नए धर्म के पुनरुत्थान का रूप प्रकट हुआ। पर इस बार के पुनरुत्थान में धर्म का रूप रहस्यात्मक से अधिक बौद्धिक था।'

अन्तर्मुखी सत्य हो उठा है । उपनिषदों में सप्रपंच अथवा
निष्प्रपंच अथवा निर्गुण दोनों ही रूपों में चरम-तत्त्व का वर्ण
है । बाद में शंकर ने उपनिषदों के आधार पर निष्प्रपंच नि
का प्रतिपादन किया और इसीलिए उन्होंने जगत् की उत्पत्ति
अनेकता की प्रतीति के लिए माया का सिद्धान्त स्वीकार कि
उपनिषदों में सप्रपंच की भावना के साथ दार्शनिक चेतना अ
के आधार पर विकसित हुई है । इस कारण उनमें प्रकृति के प्र
से चरम-तत्त्व की कल्पना तक पहुँचने के लिए प्रेरणा मिलती है
इन स्थलों पर ऋषियों की दृष्टि सर्वेश्वरवादी है । बाद में परिस्थि
बदल चुकी थी । जिस मायावाद का प्रतिपादन शंकर ने किया है
उसी रूप में उपनिषदों में नहीं मिलता । पर दृश्यात्मक के अर्थ
और भ्रम के रूप में इसका मूल उपनिषदों में है । यही विचार जगत्
की रूपात्मकता की व्याख्या करने के लिए मायावाद में आता है
और यह भारतीय विचार परम्परा में किसी न किसी प्रकार से निर्
भावना से संबन्धित अवश्य रहा है । बौद्ध-धर्म की निवृत्ति भावना ने
संसार की परिवर्तनशीलता तथा क्षणिकता से जो रूप पाया है, व
उपनिषद् में भी पाई जाती है । बाद में बौद्ध-धर्म के साथ ही इस

१ कि सप्रपंच उपनिषदों में इस प्रकार का वर्णन मिलता है जिसमें सृष्टि के
व्यापक सत्य का आभास मिलता है । 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि
सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः ।' बृह० ३.८.९) (हे गार्गि, इस अक्षर
परम तत्त्व के शासन में सूर्य और चन्द्रमा धारण किए हुए स्थित हैं)
'अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात् स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः ।
अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा ।' (मुण्ड० २.१.९)
(इस से समस्त पर्वत और समुद्रों की उत्पत्ति हुई, इससे सभी
बहती हैं, सारी औषधियाँ और रस इसी से निकले हैं । इसी [illegible]
[illegible] यह अन्तरात्मा स्थित है ।)

भावना भारतवर्ष में अधिक व्यापक हो उठी। बौद्ध धर्म का प्रभाव समाप्त हो गया पर संसार-त्याग की भावना जनता में बनी रही। शंकर के मायावाद की ध्वनि ऐसी ही है साथ ही निर्गुण संतों के माया का रूप भी यही था। ब्रह्म की निष्प्रपंच भावना का विकास हो चुका था, उसके अनुसार दृश्य जगत् माया के रूप में मिथ्या या भ्रम स्वीकार किया गया।* इसके कारण हिन्दी मध्ययुग की एक प्रमुख काव्य-धारा में प्रकृति के प्रति, सीधे अर्थों में कोई आकर्षण नहीं रहा है। शंकर के बाद अन्य वेदान्तियों ने ब्रह्म को सप्रपंच भी माना है और इस प्रकार माया को भी सत्य रूप में स्वीकार किया है। सगुण भक्त-कवियों ने प्रकृति को असत्य नहीं माना है, परन्तु यहाँ उनका विचार व्यावहारिक समन्वय उपस्थित करने का है। अन्ततः ये निर्गुण को ही स्वीकार करते हैं। साथ ही जिस सगुण ब्रह्म की स्थापना ये करते हैं, प्रकृति उसकी शक्ति से संचालित है और उसके इंगित मात्र पर नाचने वाली नटी है। इस प्रकार सगुणवादियों में प्रकृतिवाद को फिर भी स्थान नहीं मिल सका, यद्यपि इन्होंने उसके रूप और उसकी दृश्यात्मकता को अस्वीकार भी नहीं किया है।

§६—हम देख चुके हैं कि परम-तत्त्व-रूप ब्रह्म को एक बार पहिचान लेने के बाद भारतीय तत्त्ववाद के इतिहास में आदि तत्त्व के बारे में तर्क चले हैं; पर ब्रह्म विषयक प्रश्न प्रकृति के समक्ष उसके माध्यम से नहीं उठ सके हैं। प्रकृति का उन्मुक्त-क्षेत्र उस जिज्ञासा की प्रेरणा शक्ति नहीं हो सका।⁸ इसके साथ ही ईश्वर की कल्पना के विकास ने प्रकृति के प्रति उपेक्षा को और भी दृढ़ कर दिया है। विचारक स्वयं आदि तत्त्व

ईश्वर का कल्पना

* कॉ० स० उ० फ़ि० आर० डी० रानडे: अध्या० —'दि [illegible] फ़िलासफ़ीस्'

⁸ कठोपनिषद् कहता है—'एतत् सूक्ष्मं अपरं [illegible] से बतलाता है। [illegible]

के विचार को लेकर व्यक्त था और जनता को उसने
कल्पना देकर संतुष्ट कर दिया था। ईश्वर या भगवान् की
जनता में एक बार प्रचलित हो जाने के बाद, उसमें किसी
या किसी प्रश्न के लिए स्थान नहीं रह जाता। जिस प्रकार
तत्त्व की खोज में, आत्मानुभूति के आधार पर परम आत्मवाद
की कल्पना सामने आई है; उसी प्रकार प्रकृति शक्तियों के
करण और सामूहीकरण को जब मानवी आधार मिल गया तब ई
का रूप सामने आता है। इस स्थल पर प्रथम भाग के द्वितीय प्रक
का उल्लेख कर देना आवश्यक है। उसमें विस्तार से विवेचना
गई है कि मनस् तथा वस्तु की क्रिया प्रतिक्रिया किस प्रकार एक
वस्तु-स्थिति से दो सत्यों का बोध कराती है। वैदिक युग में बहुदेववाद
एकदेववाद में परिवर्तित हो चुका था और जिस समय से एक देवता
को सर्वोपरि मानने की भावना उत्पन्न हो जाती है, उसी समय से
ईश्वरकी कल्पना का प्रारम्भ मानना चाहिए। वैदिक मंत्रों में ही
प्रकृति की भौतिक-शक्ति की कल्पना से क्रमशः देवता का व्यक्तीकरण
भावात्मक होता गया है और इस व्यक्तीकरण में आचरणात्मक
गुणों तथा आध्यात्मिक चरित्रों का संयोग होता गया।[१] इस हीन
पर वैदिक ऋषि एक देवता की शक्ति-कल्पना में दूसरे देवता
की शक्ति का योग भी करने लगे थे। देवता के साथ कर्ता और
कारण की भावना जुड़ गई और साथ ही मृत्यों की जीवन संबन्धी
व्यवस्थाओं से भी उसका संयोग हो गया। देवता के व्यक्तीकरण

चन्द्रमा और तारे अपने ही प्रकाश से प्रकाशवान् हैं। क्या बिजली अपनी
स्वाभाविक चमक से चमकती है। और आगे चलकर वह कहता है—'न तत्र
सूर्यो भाति न चंद्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनु-
भाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।' (कठो० २।५।१५)

१ इन्साइक्लोपीडिया ऑव रिलिजन एंड एथि...

की इस प्रकृति और समाज की सम्मिलित स्थिति को ईश्वर के रूप में समझा जा सकता है। ईश्वर के आचरणात्मक व्यवस्थापक रूप के मूल में आदिम मानव की प्रकृति शक्तियों के प्रति भय की भावना सन्निहित है। बाद में सामाजिक आधार पर मानवीय मनोभावों का संयोग व्यक्तीकरण के साथ हुआ है।[10] वैसे वैदिक युग में भी मानवीय भावों के व्यक्तीकरण रूप देवताओं का उल्लेख हुआ है।

इस प्रकार ईश्वर की धार्मिक कल्पना, वैदिक एकदेववाद के विकसित होते रूप में समस्त भौतिक तत्त्वों के कर्त्ता का रूप और उस व्यक्तीकरण में आचरणात्मक व्यवस्थापक और भावात्मक उपास्य के रूप के मिल जाने से प्राप्त हुई है। यद्यपि उपनिषद्-कालीन द्रष्टा आत्मानुभवी दार्शनिक हैं, ईश्वर की पूर्ण कल्पना का विकास इसी युग में हुआ है। श्वेताश्वेतर उपनिषद् में ईश्वर की कल्पना है।[11] आगे चल कर पौराणिक-युग में यह कल्पना त्रिदेवों के रूप मे पूर्ण होती है। ईश्वर स्रष्टा है, पालन कर्ता है और साथ ही संहार भी करता है। इसमें सर्जन और विनाश प्रकृति का योग है और पालन की भावना मानवीय है। भारतीय दर्शन की कोई भी विचार-धारा रही हो, साधना में ईश्वर का स्वरूप कुछ भी माना गया हो; परन्तु भारतीय जनता में ईश्वर की भावना आज भी इसी रूप मे चली आती है। इस प्रकार भारतीय विचारों और भावों दोनों में ईश्वर का दृढ़ आधार रहा है। इस आधार के बिना एक पग आगे बढ़ा ही नहीं

गया है। परिणाम स्वरूप धार्मिक काव्य के साधक-कवि को
प्रति जिज्ञासा नहीं हुई। तर्क और विशुद्ध ज्ञान के क्षेत्र में
तो व्यवहार की सीमा में भगवान् की स्थापना थी। सब कुछ क[रने]
रखने वाला और मिटानेवाला है ही; फिर प्रश्न उठता ही न[हीं]
यह सब क्या है, कैसे हुआ और क्यों है। इधर हिन्दी साहि[त्य]
मध्ययुग में मुसलमानी एकेश्वरवाद का रूप भी जनता के सामने
चुका था। भारतीय ईश्वर की कल्पना के आधार में अद्वैत ब्रह्म
आत्म-तत्त्व जैसी एकता की भावना रही है; परन्तु मुसलिम एकेश्वरवा[द]
एकान्तरूप से एक की कल्पना लेकर चलता है जिसमें परिव्याप्त औ[र]
परावर की भावना नहीं है। इसका ईश्वर एक शासक और अधिष्ठाता
के रूप में है। हिन्दी मध्ययुग में इस भाव-धारा का प्रभाव कबीर
आदि संतों पर केवल खंडनात्मक पक्ष तक ही सीमित है; पर सूफी
प्रेममार्गी कवियों में प्रत्यक्ष है। इस शासक रूप ईश्वर के समक्ष
प्रकृति सर्जना का प्रश्न आता ही नहीं और प्रकृति के रूप के प्रति
आकर्षण की समस्या उठती ही नहीं।

§ ७—इस विषय में एक बात का उल्लेख कर देना आवश्यक
है, जिससे मध्ययुग की आध्यात्मिक साधना में प्रकृति के रूपों पर विशेष

प्रेम-भावना

प्रभाव पड़ा है। और इससे भी इस युग के काव्य
में प्रकृतिवाद को स्थान नहीं मिल सका। हिन्दी
साहित्य के मध्ययुग की साधना का रूप प्रेम है जिसका आधार 'रति'
का स्थायी भाव कहा जा सकता है। माधुर्य भक्ति प्रेम साधना का
एक रूप है। तुलसी की भक्ति-भावना अवश्य दास्य-भाव की है,
परन्तु इसमें भी सामाजिक आधार पर एक महत् के प्रति प्रेम की
भावना सन्निहित है। इस प्रकार इस युग की भाव-साधना पूर्ण रूप
से सामाजिक आधार पर स्थापित है। प्रेमी साधक जब अपने आराध्य के
प्रति आत्म-निवेदन करता है, उस समय वह मानवीय भावों का आधार
ग्रहण करता है। मध्ययुग की भावात्मक उल्लास की

प्रधान साधना की प्रतिक्रिया थी। वैदिक युग की जीवन संबन्धी उत्सुकता और शक्ति चाहना उपनिषद्-काल की अन्तर्मुखी चिन्तन-धारा में जीवन और जगत् से दूर हट गई। संसार की क्षणिकता और दुःखवाद से यह निवृत्ति की भावना बौद्ध-काल में अधिक बढ़ी गई। परन्तु जीवन के विकास और उसकी अभिव्यक्ति के लिए यह दुःखवाद और निवृत्ति-मार्ग अवरोध थे। यह परिस्थिति आगे नहीं चल सकी। जीवन को अपना मार्ग खोजना ही पड़ा।[१२] मध्ययुग में फिर जीवन और जगत् के प्रति जागरूकता बढ़ी। लेकिन समस्त पिछली विचार-धारा के फल स्वरूप इस आकर्षण का रूप दूसरा हुआ। इस नवजागरण के युग में अनन्त आनन्द और उल्लास के रूप में जीवन तथा जगत् दोनों को ग्रहण किया गया। और इस रूप का केन्द्र हुआ भगवान् का रूप, जिससे इस आनन्द [illegible] विस्तार में, अनन्त जीवन, चिर यौवन तथा राशि [illegible] उल्लसित हो उठा। यह नया जागरण, नया उत्थान [illegible] साहित्य का भक्ति आन्दोलन था।[१३] इस भाव-धारा [illegible] मानवीय भावों की प्रधानता है जो भगवान् के आनन्द [illegible] संवेदनशील हो उठती है। फलस्वरूप इस युग में प्रकृति [illegible] नहीं मिल सका, काव्य मे प्रकृति को प्रमुख स्थान [illegible] हम देखेंगे कि प्रकृति में जीवन का आनन्दोल्लास और [illegible] का जो रूप इस काव्य में मिलता है, वह या तो [illegible] से प्रतिबिंबित लगता है और या वह मानवीय [illegible]

के अर्थ में प्रयुक्त है।

§ ८—ऊपर जिन कारणों का उल्लेख किया गया है, स
से उनसे हिन्दी साहित्य के मध्ययुग के धार्मिक काव्य क
भारतीय सर्वेश्वरवाद संबन्धी दृष्टिकोण निश्चित होता है। क
कारण वैदिक युग से भारतीय विचार-धा
प्रमुख प्रेरणा देनेवाली प्रवृत्तियों के रूप में रहे हैं। भारतीय वि
धारा में ब्रह्म की इतनी स्पष्ट-भावना और ईश्वर का इतना व्यक्त
रहा है कि भारतीय सर्वेश्वरवाद में ब्रह्म की भावना और ईश्वर
रूप ही प्रथम है, प्रत्यक्ष है। और प्रकृति उसी भावना में, उसी
में अन्तर्व्याप्त है, उसका स्वतंत्र अस्तित्व किसी प्रकार से स्वीकार नह
किया जाता। पाश्चात्य सर्वेश्वरवाद प्रकृति के माध्यम से एकत्व
और एकात्म की ब्रह्म भावना को समझने का प्रयास बाद तक करता
रहा है। इसी कारण उनके काव्य में प्रकृति में ब्रह्म-चेतना के पर्र-
व्याप्त होने की भावना अधिक मिलती है। प्रमुख भारतीय मत से
प्रकृति तो दृश्यमान् है, भ्रामक है, और उसकी सत्ता व्यावहारिक
दृष्टि से ही सत्य। प्रतिदिन के व्यवहार में सामने आनेवाले यथार्थ
को स्वीकार भर कर लिया गया है। प्रकृति में जो सत् है वह जीव
और ईश्वर दोनों का अंश है; इसलिए वह कभी जीव की दृष्टि से
देखी जाती है और कभी ईश्वर के रूप में अन्तर्भूत हो उठती है।
व्यापक भारतीय मत से प्रकृति का यही सत्य है।[१४] पूर्व और पश्चिम
को लेकर प्रकृति के संबन्ध में यह बहुत बड़ा अन्तर है। हम देख

१४, इन्सा॰ रि॰ एथि॰: गॉड्स् (हिन्दू)—'व्यापक रूप से पाश्चात्य सर्वेश्वरवाद ईश्वर को प्रकृति में परिव्याप्त मानता है। पर भारतीय के लिए प्रकृति ईश्वर में अन्तर्भूत हो जाती है। ... इस प्रकार सिद्धान्त से, इस्लामिक सत्य के समन्वय के प्रयास में, साथ ही परम सत्य को प्रस्तुत करने में प्रकृति सृष्टि का कोई वास्तविक अस्तित्व स्वीकार नहीं किया गया ...

चुके हैं कि प्रारम्भिक वैदिक युग में भारतीय सर्वेश्वरता की भावना प्रकृति के माध्यम से ही किसी व्यापक सत्ता की ओर बढ़ी थी। परन्तु एक बार ब्रह्म-तत्त्व स्वीकार हो जाने पर, ईश्वर की कल्पना पूरी हो जाने के बाद भारतीय विचार में सर्वेश्वरता तथा काव्य-रूप में प्रकृतिवाद के लिए स्थान नहीं रह जाता। प्रकृति का दृश्यमान् सत्य केवल परिवर्तनशील है, क्षणिक है: वह व्यापक न होकर केवल कारणात्मक और सापेक्ष है। ऐसी स्थिति में प्रकृतिवाद भारतीय दृष्टि से केवल एक मानसिक भ्रम स्वीकार किया जा सकता है। वस्तुतः मध्ययुग के निर्गुणवादी संतों की दृष्टि से प्रकृति भ्रम है, मिथ्या है, और सगुणवादी भक्तों की दृष्टि में प्रकृति का सारा स्वरूप ईश्वर-सिद्धान्त में निलय हो जाता है।[१५]

इन सिद्धान्तों के आधार पर हम आगे की विवेचना में देखेंगे कि जिस काव्य परम्परा में ब्रह्म (और ईश्वर का भी) का जो रूप स्वीकार किया गया है उसमें प्रकृति का रूप उससे प्रभावित है। साथ ही ऊपर की समस्त विवेचना को लेकर पर हम इन सिद्धान्तों को आधार रूप से प्रस्तुत कर सकते हैं। हिन्दी मध्ययुग के साधना काव्य में ब्रह्म की भावना और ईश्वर के रूप के प्रत्यक्ष रहने के कारण इस युग के सर्वेश्वरवाद में ईश्वर में प्रकृति का अन्तर्भाव है। ईश्वर प्रकृति में परिव्याप्त है और इस प्रकार इस युग के काव्य के आध्यात्मिक वातावरण के लिए दार्शनिक तथा साधनात्मक दोनों पक्षों में प्रकृतिवाद उपयुक्त नहीं हो सका। इस युग के काव्य में आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रकृति कभी मूल प्रेरणा के रूप में नहीं आ सकी। फिर भी हिन्दी मध्ययुग की आध्यात्मिक साधना और उसके आधारभूत दर्शन में माया के रूप में प्रकृति नितान्त भ्रम तथा असत्य नहीं है। संतों को

---

१५ इन्ट्रोडक्शन टु दि स्टडी ऑव दि हिन्दू डॉक्ट्रिनः रेना ग्यूनॉनः दि क्लेसिकल प्रिज्युडिसेज़ः पृ० ४२।

छोड़कर अन्य साधकों ने प्रकृति को सत् (सत्य) के रूप में
परन्तु हम आगे देख सकेंगे कि प्रकृति उनके ईश्वर रूप में
ही हो उठती है।

संत साधना में प्रकृति-रूप

§६—संत साधकों की विशेषता उनकी साधना तथा वि
पद्धति का सहज रूप है। सहज' शब्द संत-काव्य की आधार शि
सहज सिद्ध सा है। इनकी विचार-धारा की पृष्ठ-भूमि में अने
परम्पराएँ हैं, पर इन्होंने अपनी समन्वित दृष्टि
इन सब को अपने सहज सिद्धान्त के अनुरूप कर लिया है। अनेक
विचार-पद्धति में कबीर नाथ-पंथियों से बहुत दूर तक प्रभावित हैं;
परन्तु साधना के क्षेत्र में इन्होंने अनुभूति और प्रेम का मार्ग चुना
है। और संतों के इस मार्ग में सभी सिद्धान्त सहज होकर ही उपस्थित
होते हैं। कबीर आदि संतों में विरोध दिखाई देने का कारण भी यही
है।[१६] हम देख चुके हैं कि पिछले युगों में प्रकृति के उन्मुक्त क्षेत्र से
जिज्ञासा हट चुकी थी और सृष्टि तत्त्व का निरूपण तर्क तथा अनुमान
के आधार पर होने लगा था। संत साधक भी इस तर्क तथा विचार
की परम्परा को छोड़कर उन्मुक्त होकर प्रकृति के सामने नहीं खड़ा हो
सका। परन्तु अपनी सहज भावना में वह प्रकृति के प्रति आग्रही
अवश्य दिखाई देता है। कबीर पूछ उठते हैं—

> "प्रथमे गगन कि पुहपी प्रथमे; प्रथमे पवन कि पाणी।
> प्रथम चन्द कि सूर प्रथम प्रभु, प्रथमे कौन बिनाणी।
> प्रथमे दिवस कि रैणि प्रथमे प्रभु, प्रथमे बीच कि खेतं।
> कहै कबीर जहाँ बसहु निरंजन; तहाँ कछु आहि कि सुन्नं।"

इस पद के अन्तर्गत नाथपंथी सृष्टि-प्रतीकों का आधार होने पर भी,

---

१६ कबीर: क० ग्र० [illegible]: प० ५ 'निरंजन [illegible]

साधक का ध्यान निश्चय ही व्यापक विश्व-सर्जना पर है। प्रभु की सर्वप्रथम भावना के सामने उसको यह प्रश्न अधिक जचना नहीं। फिर भी उसका प्रश्न है—नश्वर सर्जना में प्रथम कौन माना जाय? दादू अधिक तार्किक नहीं हैं और इसलिए वे सर्जन-क्रम के प्रति अधिक प्रत्यक्ष रूप से प्रश्नशील हुए हैं—'हे समर्थ यह सर्जन देखा नहीं जाता। कहाँ से उत्पत्ति होती है और कहाँ निलय होता है। पवन और पानी कहाँ से हुए और पृथ्वी-आकाश का विस्तार जाना नहीं जाता। यह शरीर और प्राण का आकाश में सञ्चरण कैसे हुआ। यह एक ही अनेक में कैसे प्रकट हो रहा है फिर यह विभिन्नता एक में कैसे विलीन हो जाती है। सृष्टि तो स्वयं चकित, मुग्ध है; हे दयालु इसका नियमन किस प्रकार करते हो!'[10] यहाँ साधक के मन में सर्जन के प्रति जिज्ञासा है, आश्चर्य है; पर उसके सामने अपने 'प्रभु' की भावना भी स्पष्ट है। इस कारण प्रकृति के रूपों तथा स्थितियों के प्रति जिज्ञासा केवल उनके उत्तर को स्पष्ट करने के लिए है।

क—और यह उनके आराध्य की भावना इनके सामने प्रत्यक्ष रहती है। वास्तव में प्रकृति के प्रति जिज्ञासा भी संत साधक में ब्रह्म विषयक प्रश्न को लेकर ही है। संत साधकों को प्रकृति के रूप के प्रति कोई आकर्षण नहीं और कोई कारण भी नहीं, जब उनको अपनी साधना का विषय इससे परे ही मिलता है। संत साधक प्रकृति की क्रियाशीलता और परिवर्तनशीलता के आधार पर सृष्टा की कल्पना दृढ़ करना चाहता है। वह सर्जन के विस्तार में पृथ्वी, आकाश या स्वर्ग में अपने अलख देव को देखना चाहता है। वह जल, थल, अग्नि और पवन में व्याप्त हो रहे अपने आराध्य को पूछता है; और सूर्य-

प्रकृति का रूप-दर्शन

---

१० स०बा० दादू; पद ५४

चंद्र की निकटता में उसे खोजता है।[१८] साधक के समक्ष सर्जन के प्रति जिज्ञासा अधिक दूर तक चल भी नहीं सकती, क्योंकि उसा उसके सामने प्रत्यक्ष है—

> "आदि अंति सब भावै घड़ै, ऐसा समरथ सोइ।
> करम नहीं सब कुछ करै, यौं कलि धरः बनाइ॥" (दादू)

§१०—सर्जन के प्रति प्रश्न ने और ब्रह्म की प्रत्यक्ष भावना ने साधकों को सृष्टा के प्रश्न पर पहुँचाया है। इस सीमा पर वे एकेश्वरवादी जान पड़ते हैं। यह भावना विचार के क्षेत्र में कबीर में भी मिलती है और अन्य संत-कवियों में अपने अपने विचारों के अनुसार पाई जाती है। दादू के अनुसार प्रकृति सर्जना का रचयिता राम है—'जिसने प्राण और पिंड का योग किया है उसी को हृदय में धारण करो। आकाश का निर्माण करके उसे तारकों से जिसने चित्रित किया है। सूर्य-चन्द्र को दीपक बनाकर बिना आलंबन के उन्हें वह संचरित करता है। और आश्चर्य! एक शीतल तथा दूसरा उष्ण है; ये अनन्त कला दिखाते हुए गतिशील हैं। और यही नहीं, अनेक रंग तथा ध्वनियोंवाली पृथ्वी की, सातों समुद्रों के साथ जिसने रचना की है। जल-थल के समस्त जीवों में जो व्याप्त होकर उनका पालन करता है। जिसने पवन और पानी को प्रकट किया है और जो सहस्र धाराओं में वर्षा करता है। नाना प्रकार के अठारह कोटि वृक्षों को

ईश्वरवादी भावना

---

१८ उद्धा० दादू; पद ५८—

"ऐसउ देव मुर देहुरनाय। कहाँ रहौ त्रिभुवन पति राय।
धरती गगन बसुह कविलास। तीन लोक मैं कहाँ निवास
[illegible]
[illegible]
[illegible]

सींचनेवाले वही हैं।[१९] परन्तु संतों का यह एकेश्वरवाद मुसलिम एकेश्वरवाद से नितान्त भिन्न है। उसमें ईश्वर का विचार एकछत्र सम्राट के समान है जिसकी शक्तियाँ असीम और अप्रतिहत हैं। परन्तु व्यापक होने की भावना उसमें नहीं पायी जाती। यहाँ दादू कहते हैं—'पूरि रहया सब संगा रे'। इस प्रकार संत प्रकृति में जिस सृष्टा की भावना पाते हैं वह उपनिषदों में उल्लिखित तथा भारतीय विचार-धारा से पुष्ट सप्रपंच-भावना के समान है।[२०] सुन्दरदास में इसका और भी प्रत्यक्ष रूप मिलता है, क्योंकि अद्वैत-भावना का उनपर अधिक प्रभाव है। उनका सप्रपंच ब्रह्म—'आकाश को तारों से विभूषित करता है और उसने सूर्य-चन्द्र को दीपक बनाया है। सप्त द्वीपों और नव खण्डों में उसने दिन रात की स्थापना की है और पृथ्वी के मध्य में सागर और सुमेरु की स्थापना की है। अष्ट-कुल पर्वतों की रचना उसने की है जिनके मध्य में नदियाँ प्रवाहित हैं। अनेक प्रकार की विविध वनस्पतियाँ फल फूल रही हैं जिन पर समय समय पर मेघ आकर वर्षा करते हैं।[२१] वस्तुतः यहाँ सृष्टा प्रकृति के आश्रय से अपने ही गुणों को प्रसरित करता है। वह अपने से अलग थलग सृष्टि कर्त्ता नहीं है। आगे हम देखेंगे कि सूफी प्रेममार्गियों से इस विषय में इनका मतभेद है।

§११—संतों ने संसार को क्षणिक माना है, परिवर्तनशील स्वीकार

---

१९ शब्द० दादू: पद ३४३

२० दि निर्गुण स्कूल ऑव हिन्दी पोएट्री: पी० डी० बड़थ्वाल: प्र० २, पृ०: २० ।

२१ ग्रन्था० सुन्दर०: गुन उत्पत्ति निसानी का पद। सर्जन के संबन्ध में सुन्दरदास में एक पद और मिलता है—'नटवर रासरो नटैव एक' (राग रासभरो पद ५) इसमें भी लोगानि गुणात्मक सर्जन का बात कही गई है।

किया है। प्रकृति की परिवर्तनशीलता दार्शनिक चेतना की

प्रवहमान् प्रकृति शक्ति रही है। आत्म-तत्त्व के स्थायित्व को स
करने के लिए भी यह एक आधार रहा है।
पहले ही संकेत कर चुके हैं कि मध्ययुग के साधकों ने विचार-पर
से ही सत्य को ग्रहण किया है। यही कारण है कि वे विश्व-परिव
की ओर ध्यान रखते हुए भी उन पर अधिक ठहर नहीं सके; औ
उन्होंने उसके परिवर्तन तथा उसकी क्षणिकता में आत्म-तत्त्व का
संकेत नहीं दिया है। बात यह है कि इनके पूर्व ही अद्वैतवाद ने
दृश्यमान् जगत् की क्षणिकता के साथ उसको अनुभव करनेवाली
आत्मा को सत्य स्वीकार किया था। उपनिषद्-काल से यह सत्
दृश्यमान् प्रकृति के परे आत्म-तत्त्व के रूप में स्वीकृत चला आया
है।[२२] इस कारण संतों ने जीवन के विस्तार में ही अधिक परिवर्तन
दिखाया है; उनके काव्य में प्रकृति की दृश्यात्मकता नहीं है। फिर भी
प्रतीकात्मक कल्पना में प्रवहमान् प्रकृति का रूप यत्र-तत्र मिल जाता
है। सुन्दरदास विश्व-सर्जन की कल्पना एक महान् वृक्ष के समान
करते हैं। यह वृक्ष चिर नवीन है: इसमें एक ओर सघन फल-फूलों
का वसंत है तो साथ ही झरते हुए पत्तों का पतझड़ भी है। ऐसे

---

२२ इंडियन फिलासफ़ी; एस० राधाकृष्णन्; (द्वि० भाग) अष्ट प्रक०, पृ०
५९२—'सत्य के आधार पर विचार करने पर, अनुभवों का संसार अपने
रूपात्मक स्वभाव को प्रकट करता है। सभी विशेष वस्तुएँ और घटनाएँ बदले
वाले मनस् के विरोध में वस्तु-रूप में स्थित हैं। जो कुछ ज्ञान का विषय है,
नश्वर है। शंकर का मत है कि सत्य और भासमान्, तथ्य और द्रष्टा सद्
(आ.वा) तथा इतर विषय (ज्ञेय) के सम रूप हैं। जब कि प्रत्यक्ष-ज्ञेय है
विषय असत्य है; आत्मा जो द्रष्टा है और जो प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, ज
है। (दि फ़ेनामेनलिस्टों ऑफ दि वर्ल्ड); बृहदारण्यक (४।१३० (१—४) में जनक
के पूछने पर याज्ञवल्क्य आत्म-प्रकाशित की ओर संकेत करते हैं।

विश्व तरु की मूल अनन्त-व्यापी काल प्रसरित है। परन्तु परिवर्तन सत्य नहीं है, क्योंकि जो सत्य है वह शाश्वत भी है। शाश्वत का आरम्भ नहीं होता; जिसका आरम्भ और अन्त होता है वह शाश्वत सत्य नहीं हो सकता। इसलिए यह भ्रम है, माया है। सुन्दर कहते हैं—

"मन ही के भ्रम तें जगत यह देखियत,
मन ही कौ भ्रम गये जगत बिलात है।
(सुन्द० ग्रं० चाण० अं २५)

यहाँ जगत् का अर्थ है सृष्टि, सजन।

ब—इस प्रवहमान् परिवर्तनशीलता के स्थायी आत्म-तत्त्व से परिचित होना ही सत्य ज्ञान है। सुन्दर प्रकृति-रूपक में इसी ओर

आत्म-तत्त्व और ब्रह्म-तत्त्व का संकेत

संकेत करते हैं—"देखो और अनुभूति ग्रहण करो। प्रत्येक घट में आत्माराम ही तो निरन्तर वसंत खेलता है। यह कैसा विस्तार है जिसका अन्त ही नहीं आता। इस चार प्रकार के विस्तार वाली सृष्टि में चौरासी लाख जीव हैं। नभचारी, भूचारी तथा जलचारी अनेक रचनाएँ हुई हैं। पृथ्वी, आकाश, अग्नि, पवन और पानी ये पाँचों तत्त्व निरन्तर क्रियाशील हैं। चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र-मंडल, सभी देव-यक्ष आदि अनंत हैं। ये सब हैं, परन्तु इनका अस्तित्व क्षणिक है, परिवर्तनशील है। जैसे समुद्र में राशि राशि फेन, असख्य बुद्बुद् और असंख्य लहरें बनकर मिट जाती हैं; और तत्त्व-रूप तरुवर एक रस स्थिर है, पर पत्ते झर झर पड़ते हैं। यह क्रीड़ा का प्रसार ज्यों का त्यों फैला हुआ है और अनन्त काल बीत चुका है। परन्तु सभी संत यह जानते हैं कि ब्रह्म का विलास ही अनन्त और अखंडित है।"[२३] फिर जब क्षणिकता और प्रवहमान् के परे आत्म-तत्त्व सचि-

२३ ग्रन्थ०; सुन्द० : राग रामसरी पद ६

हित है जो ब्रह्म से वसत खेलता है, तो निश्चय ही 'माया'
'अविद्या' को अलग करना होगा। सत्य की अनुभूति के लिए अवि
को दूर करना आवश्यक है, ऐसा. वेदान्त का मत भी है—'शं
का मत है कि हम सत्य का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते, जब तक ह
अविद्या के अधिकार में हैं जो विचार की तार्किक प्रणाली है।
अविद्या आत्मानुभूति से पतन है, यह ससीम को मानसिक व्याधि है
जो आध्यात्मिक सत्य को सहस्रों भाग में कर देती है। प्रकाश का
छिपना ही अन्धकार है। डायन जैसा कहते हैं, अविद्या ज्ञान की
अदृश्यता है, मनस का वह घुमाव है जिससे वस्तुओं को दिक्-काल-
कारण के माध्यम के अतिरिक्त देखना असम्भव हो जाता है।"[२४]
संत माया की सर्जनात्मक शक्ति का उल्लेख नहीं करते; परन्तु उ
अविद्या रूप को वेदान्त के समान ही स्वीकार करते हैं जो आ
आकर्षण से आत्मानुभूति से वंचित रखती है। दादू प्रकृति-रूपक में उस
माया को, अविद्या को, जीव के बन्धन के रूप में चित्रित करते हैं—

"मोहयो मृग देखि वन अंधा, सूझत नहीं काल के फंधा।
फूल्यो फिरत सकल वन माहीं; सिर साधे सर सूझत नाहीं॥"[२५]

यह काल का परिवर्तन ही है जो सभी को नष्ट करने के लिए तत्पर
रहता है, और उसी की ओर दादू ध्यान ले जाना चाहते हैं। परिवर्तन
पर विश्वास करने पर कोई आत्माराम को कैसे जान सकेगा। प्रकाश
को छिपाना ही तो अंधकार है। दादू इसी प्रवहमान् प्रकृति को देख
रहे हैं—'(जीवन-) रात्रि बीत चली, अब तो जागो; (ज्ञान का प्रकाश
ग्रहण करो) यह जन्म तो अंजलि में भरे पानी के समान ठहरेगा नहीं।
फिर देखते नहीं यह अनंत काल घड़ी-घड़ी करके बीतता जाता है;

---

२४ द वेदन्त फ़िर सकी; एन० राय कृष्णन्: भा० भाई—'अद्वैतवाद-
अविद्या,' पृ० ५०४—१।

२५ दादू० द.वृ: पद ११।

यह वेदान्त के अद्वैत की ब्रह्म-कल्पना के समान ठहरता है। उ
ऐसा विचार इसलिए रहा है कि इन्होंने नाथ-पंथी तर्क शैली
अपनाया है और वे सत् असत् के अभाव को स्वीकार करके चल
वाली बौद्धों की शून्यवादी परम्परा से प्रभावित थे। इसके अतिरि
जब संत अद्वैत का विरोध करते हैं, तो वे उसे द्वैत का विपर्यायी
मान लेते हैं और इससे प्रकट होता है कि संत शंकर के अद्वैतवादी
तर्कों से पूर्ण परिचित नहीं थे। इसके अतिरिक्त संत अनुभूति के विष
को तर्क के चक्कर में डालने के विरोधी हैं. यद्यपि इस विषय में शंकर
के समान मौन वे स्वयं भी नहीं रहे हैं। इन संतों ने निर्गुणरूप में
जिस ब्रह्म की स्थापना की है, वह तत्वतः अद्वैत के स्थापित ब्रह्म के
समान हैं। केवल भेद यह है कि शंकर ने व्यावहारिक क्षेत्र में ईश्वर
की स्वीकृति दी है और संतों ने इसकी कल्पना को अपनी ब्रह्म भावना
के साथ मिला लिया है। वे दोनों में भेद मान कर नहीं चलते। कबीर
प्रकृति की रूपाकार दृश्यमान् सीमाओं में उसी का उल्लेख करते हैं—
'हे गोविन्द, तू एकान्त निरंजन रूप है। यह तेरी रूपाकार दृश्यमान्
सीमाएँ और ज्ञात चिन्ह कुछ भी तो नहीं—यह सब तो माया है। यह
समुद्र का प्रसार, पर्वतों की तुंग श्रेणियाँ और पृथ्वी-आकाश का विस्तार
क्या कुछ है? यह सब कुछ नहीं है। तपता रवि और चमकता चन्द्र
इन दोनों में कोई तो नहीं हैं. निरन्तर प्रवाहित पवन भी वास्तविक
नहीं। नाद और बिन्दु जिनसे सर्जन कार्य चलता है; और काल के
प्रसार में जो पदार्थों का निर्माण-कार्य चल रहा है, यह सब भी क्या
सत्य है? और जब यह प्रतिबिम्बमान् नहीं रहता, तब तू ही, रामराय
रह जाता है।'[१८]

क—कबीर के अनुसार ब्रह्म प्रकृति-तत्वों की नश्वरता से परे है।
अद्वैत मत ब्रह्म को इसी प्रकार स्वीकार करता है। अगर ससीम मान

१८ ग्रंथा०; कबीर; पद २१९

ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करले, तो या उसका ज्ञान और उसकी बुद्धि असीम है और या ब्रह्म ही ससीम है । प्रत्येक शब्द, जिसका प्रयोग किसी वस्तु के लिए किया जाता है, वह उस वस्तु का जाति, गुण क्रिया अथवा स्थिति संबन्धी निश्चित ज्ञान का संकेत करता है। पर ब्रह्म इन सब प्रयोजनात्मक विभेदों से परे है. और प्रयागात्मक स्थितियों के विरोध में है।[२९] संतों ने इसी को व्यक्त करने के लिए प्रकृति-रूपों की निषेधात्मक व्यंजना की है, और यह उनके सहज के अनुरूप है। दादू के अनुसार—'यह समस्त अहं का विस्तार भ्रम की छाया है, सर्वत्र राम ही व्याप्त हो रहा है। यह सर्जन का समस्त विस्तार—धरणी और आकाश, पवन और प्रकाश, रवि-शशि और तारे सब इसी अहं का पंच-तत्त्व रूप प्रसार है—माया की मरीचिका है।[३०] हम कह चुके हैं कि संत ब्रह्म को द्वैताद्वैतविशिष्ट मानते हुए भी अभाव या शून्य के अर्थ में नहीं लेते। परन्तु वे निषेधात्मक रूप में ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं। वस्तुतः जब उसे सत् और असत् दोनों में बाँधा नहीं जा सकता तब यही कहा जा सकता है ब्रह्म क्या नहीं है, और जो वह नहीं है। वह स्थायित्व और परिवर्तन दोनों से परे है। वह तो न पूर्ण है, न ससीम है न असीम, क्योंकि यह सब अनुभवों के विरोधों पर ही आधारित है।[३१] सुन्दरदास का ब्रह्म प्रकृति की सर्जनात्मक अतद्व्यावृत्ति में अपने को प्रकट करता है—

सर्जना का अस्वीकार तथा परावर

---

२९ शंकर गीता-भाष्य; अध्या० १३।१२।

३० शब्दा०; दादू; पद २९४।

३१ इ० फि०; एस० आर० कृष्णन्; भा० १; पृ० ५३६ (ब्रह्म)—"उपनिषद् और साथ ही शंकर ब्रह्म के सत् और असत् दोनों ही रूपों को अस्वीकार करते हैं, जिनसे हम अनुभव के क्षेत्र में परिचित हैं"

यह वेदान्त के अद्वैत की ब्रह्म-कल्पना के समान ठहरता है। उनका ऐसा विचार इसलिए रहा है कि इन्होंने नाथ-पंथी तर्क-शैली को अपनाया है और वे सत् असत् के अभाव को स्वीकार करके चलने-वाली बौद्धों की शून्यवादी परम्परा से प्रभावित थे। इसके अतिरिक्त जब संत अद्वैत का विरोध करते हैं, तो वे उसे द्वैत का विपर्ययार्थी मान लेते हैं और इससे प्रकट होता है कि संत शंकर के अद्वैतवादी तर्कों से पूर्ण परिचित नहीं थे। इसके अतिरिक्त संत अनुभूति के विषय को तर्क के चक्कर में डालने के विरोधी हैं, यद्यपि इस विषय में शंकर के समान मौन वे स्वयं भी नहीं रहे हैं। इन संतों ने निर्गुणरूप में जिस ब्रह्म की स्थापना की है, वह तत्वतः अद्वैत के स्थापित ब्रह्म के समान है। केवल भेद यह है कि शंकर ने व्यावहारिक क्षेत्र में ईश्वर को स्वीकृति दी है और संतों ने इसकी कल्पना को अपनी ब्रह्म भावना के साथ मिला लिया है। वे दोनों में भेद मान कर नहीं चलते। कबीर प्रकृति की रूपाकार दृश्यमान् सीमाओं में उसी का उल्लेख करते हैं— 'हे गोविन्द, तू एकान्त निरंजन रूप है। यह तेरी रूपाकार दृश्यमान् सीमाएँ और शत चिन्ह कुछ भी तो नहीं—यह सब तो माया है। यह समुद्र का प्रसार, पर्वतों की तुंग श्रेणियाँ और पृथ्वी-आकाश का विस्तार क्या कुछ है। यह सब कुछ नहीं है। तपता रवि और चमकता चंद्र इन दोनों में कोई तो नहीं है, निरन्तर प्रवाहित पवन भी वास्तविक नहीं। नाद और बिन्दु जिनसे सर्जन कार्य चलता है, और काल के प्रसार में जो पदार्थों का निर्माण-कार्य चल रहा है, यह सब भी क्या सत्य है? और जब यह प्रतिबिम्बमान् नहीं रहता, तब तू ही, रामराय रह जाता है।'[२८]

क—कबीर के अनुसार ब्रह्म प्रकृति-तत्त्वों की नश्वरता के परे है। अद्वैत मत ब्रह्म को इसी प्रकार स्वीकार करता है। अगर ससीम मानर

---

२८ ग्रंथा०; कबीर : पद २१९

ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करले, तो या उसका ज्ञान और उसकी बुद्धि असीम है और या ब्रह्म ही ससीम है। प्रत्येक शब्द, जिसका प्रयोग किसी वस्तु के लिए किया जाता है, वह उस वस्तु का जाति, गुण क्रिया अथवा स्थिति सम्बन्धी निश्चित ज्ञान का संकेत करता है। पर ब्रह्म इन सब प्रयोजनात्मक विभेदों से परे है, और प्रयागात्मक स्थितियों के विरोध में है।[२९] संतों ने इसी को व्यक्त करने के लिए प्रकृति-रूपों की निषेधात्मक व्यंजना की है, और यह उनके सहज के अनुरूप है। दादू के अनुसार—'यह समस्त अहं का विस्तार भ्रम की छाया है, सर्वत्र राम ही व्याप्त हो रहा है। यह सर्जन का समस्त विस्तार—धरणी और आकाश, पवन और प्रकाश, रवि-शशि और तारे सब इसी अहं का पंच-तत्त्व रूप प्रसार है—माया की मरीचिका है।'[३०] हम कह चुके हैं कि संत ब्रह्म को द्वैताद्वैतविशिष्ट मानते हुए भी अभाव या शून्य के अर्थ में नहीं लेते। परन्तु वे निषेधात्मक रूप में ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं। वस्तुतः जब उसे सत् और असत् दोनों में बाँधा नहीं जा सकता तब यही कहा जा सकता है ब्रह्म क्या नहीं है, और जो वह नहीं है। वह स्थायित्व और परिवर्तन दोनों से परे है। वह तो न पूर्ण है, न ससीम है न असीम, क्योंकि यह सब अनुभवों के विरोधों पर ही आधारित है।[३१] सुन्दरदास का ब्रह्म प्रकृति की सर्जनात्मक अतद्व्यावृत्ति में अपने को प्रकट करता है—

सर्जना का अस्वीकरण तथा परावर

---

२९ शंकर गीता-भाष्य: अध्या० १३।१२।

३० शब्दा०; दादू: पद ३९४।

३१ हि० फि०; एस० म० कृष्णन्: प्रक० ८: पृ० ५३६ (मध्य)—"उपनिषद् और साथ ही शंकर ब्रह्म के सत् और असत् दोनों ही रूपों को अस्वीकार करते हैं, जिनसे हम अनुभव के क्षेत्र में परिचित हैं"

"सोई है सोई है सोई है सब मैं।
कोई नहिं कोई नहिं कोई नहिं तब मैं॥
पृथ्वी नहिं जल नहिं तेज नहिं तन मैं।
वायु नहिं व्योम नहिं मन आदि मन मैं।"[३२]

यहाँ अतद्व्यावृत्ति का अर्थ भारतीय तत्त्ववाद के अनुसार निषेधात्मकता से है। इसी प्रकार गुन निर्गुन की बात को लेकर प्रकृति के तत्त्वों के निर्माण-कार्य को अस्वीकार करके रैदास भी परावर की स्थापना करते हैं—'पंडित, क्या कहा जाय, रहस्य खुलता नहीं और कोई समझा कर कहता नहीं। भाई. चंद और सूर सत्य नहीं, न रात-दिन ही; और न आकाश में उनका संचरण ही। वह न शीतल वायु है और न उष्ण-कठोर है। वह कर्म की व्याधि से भी अलग है। वह धूप और धूल से भरा हुआ आकाश भी नहीं है; और न पवन तथा पानी से आपूरित है। उसको लेकर गुन-निर्गुन का प्रश्न नहीं उठता। तुम्हारी बात का चातुर्य कहाँ है।'[३३] इस समस्त अतद्व्यावृत्ति-भाव के साथ संतों के लिए ब्रह्म-तत्त्व परावर सत्य और परम अनुभूति का विषय रहा है।

ख—इस अतद्व्यावृत्ति में प्रकृति का समस्त रूप और क्रम विलीन हो जाता है। फिर संत अपने ब्रह्म की अज्ञात सीमा का निर्देश किए

अज्ञात सीमा :
निर्मल-तत्त्व

बिना नहीं रहता। दादू उसकी सीमा का उल्लेख प्रकृति की अदृश्य सीमा के परे करते हैं,—'वह निर्गुण अपनी विधि में निरंजन जैसा स्वयं
में पूर्ण है। इस निर्मल-तत्त्व रूप ब्रह्म की न उत्पत्ति है और न कोई
रूपाकार। न उसके जीव है और न शरीर। काल की सीमा और कर्म
ी शृंखला से वह मुक्त है। उसमें शीतलता और घाम का कोई

---

३२ ग्रंथा०; सुन्द० : राग भैरव, पद ४।
३३ बा॰नी॰, रैदास : पद ११।

पशु पक्षी और क्या कीट-पतंग ।[३९]

घ—ब्रह्म की इसी व्यापक भावना को संतों ने आरती के प्रसंग में भी प्रस्तुत किया है। इन्होंने इस आरती का जिस प्रकार उल्लेख किया है, उसमें मानों विश्व-रूप प्रकृति ही ब्रह्म की चिरन्तर आरती के समान है। कभी प्रकृति के समस्त रूप उस आरती के उपकरण बन जाते हैं; और कभी समस्त प्रकृति रूपों में आरती की व्यापक भावना ब्रह्म की अभिव्यक्ति बन जाती है। किसी किसी स्थल पर साधक अपने हृदय में नाम-साधना की आरती सजाता है, और अन्तर्मुखी साधना के उपकरणों की योजना में, आरती की कल्पना समग्र विश्व को प्रतिभासित करने वाले प्रकाश से उद्भासित हो उठती है। इस आरती की योजना से समस्त विश्व उस परम ब्रह्म का प्रतिरूप हो जाता है।[४०] यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि संतों ने इस प्रकार रूपकमयी व्यंजना तो की है परन्तु प्रकृति के प्रसार में व्याप्त ब्रह्म-भावना की ओर उनका ध्यान नहीं है। वे तो अन्तर्मुखी साधना और अनुभूति पर विश्वास रखकर चलते हैं। प्रकृतिवादी दृष्टि से उनका यह अन्तर है। यही कारण है कि संतों के इन वर्णनों में प्रकृति-रूप का संकेत भर है उनमें सौन्दर्य्य-योजना का अभाव है।

विश्व-सर्जन की आरती

§१३—शारीरिक बन्धन में आत्मा जीव है। आत्मा और ब्रह्म: जीव और ईश के संबन्ध की सीमा ही आध्यात्मिक साधना की माप है। इस कारण यहाँ देखना है कि संतों ने आत्मा और ब्रह्म के संबन्ध को व्यक्त करने के लिए प्रकृति का माध्यम कहाँ तक स्वीकार किया है। विचार

आत्मा और ब्रह्म का संबन्ध

---

३९ बानी धरनीदास: बोधलीला से।

४० शब्द०; गुलाल०: आरती; बानी०; मलूक०; आरती० अंग ४ और बानी; गरीब०: आरती से—

किया गया है कि संतों की आत्मा और ब्रह्म की अद्वैत-भावना की अनुभूति, उपनिषद्‌कालीन ऋषियों की भांति जीवन और जगत् से न मिल कर, विचार और परम्परा के आधार पर ही अधिक हुई है। इन्होंने ब्रह्म ज्ञान के लिए आत्मानुभूति को स्वीकार किया है। इस प्रकार इनके लिए प्रकृति का कोई महत्व नहीं है। केवल जब इन्होंने अपनी आत्मानुभूति को व्यक्त करने के लिए माध्यम स्वीकार किया है उस समय ब्रह्म और जीव की एकात्मता के लिए प्रकृति के उपमानों और रूपकों की योजना की है। इस एकात्म और अद्वैत भावना का संकेत पिछले रूपों में मिल चुका है। संत साधक इस 'एकमेक' की भावना में ब्रह्म को परम सत्य और आत्म-तत्व के रूप में उपस्थित करता है। कबीर नश्वर प्रकृति में ब्रह्म की सत्ता आच्छन्न भावना के साथ भी उसे आत्मानुभूति सत्य स्वीकार करते हैं—'त्रिगुणात्मक आधार के नष्ट होने पर यह जीव कहाँ स्थिर होगा कोई नहीं समझाता। शरीर, ब्रह्माण्ड, तत्व आदि समस्त सृष्टि साथ स्रष्टा भी नश्वर है; उसका भी अस्तित्व सिद्ध नहीं। रचना अनस्तित्व के साथ रचयिता का प्रश्न भी व्यर्थ है। परन्तु सत्य, या यह है कि प्राणों की प्रतीति जो सदा साथ रहती है, इसी आत्मतत्व में सभी गुणों का तिरोभाव हो जाता है। इसी आत्म तत्व के द्वारा गुणों और तत्वों के सर्जन तथा विनाश का क्रम चलता है।'[१] कबीर यहाँ जिस आत्म-तत्व को 'प्राणों की प्रतीति' के रूप में स्वीकार करते हैं, वह शंकर के अद्वैत का ब्रह्म और जीव विषयक एक

' [illegible]
[illegible]
'नूर के बीज नूर के [illegible], नूर के [illegible] नूर के [illegible]
नूर की [illegible] नूर की [illegible] [illegible]
[illegible]

रूपता है।

क—संत-साधक पंच तत्त्वों के अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं; परन्तु जीव और ब्रह्म की एकात्म-भावना को व्यक्त करने के लिए वे उनको रूपकों में ग्रहण कर लेते हैं। कबीर को अपनी अभिव्यक्ति में जल-तत्त्व का आश्रय लेना पड़ता है—

भौतिक-तत्त्वों के माध्यम से

"पाणी ही ते हिम भया, हिम ह्वै गया बिलाइ।
जो कुछ था सोई भया, अब कछू कह्या न जाइ॥"[४२]

इसी आत्म-तत्त्व और ब्रह्म-तत्त्व के द्वयात्मक भेद को प्रकट करने के लिए, तथा उनके अन्ततः अभेद को प्रस्तुत करने के लिए, कबीर अद्वैत वेदान्त के प्रचलित रूपक को अपनाते हैं,—

"जल में कुंभ कुंभ में जल, बाहरि भीतरि पानी।
फूटा कुंभ जल जलहि समाना, यहु तत कथौ गियानी॥"[४३]

इसी प्रकार आकाश-तत्त्व से कबीर इसी सत्य का संकेत करते हैं—"आकाश, पाताल तथा समस्त दिशाएँ गगन से आपूरित हैं; समस्त सर्जन और सृष्टि गगनमय है। परमेश्वर तो आनन्दमय है; घट के नष्ट होने से आकाश तो रह जाता है।"[४४] ब्रह्म की कल्पना में यहाँ आनन्द का आरोप साधक की अपनी एकात्म भावना का रूप है। दादू की कल्पना जल और आकाश दोनों तत्त्वों का आधार ग्रहण करती है—"जल में गगन का विस्तार है और गगन में जल का प्रसार है, फिर तो एक की ही व्याप्ति समझो।"[४५] परन्तु यह भी स्पष्ट है

४२ वही; परचा० अं० १७, अन्यत्र कबीर कहते हैं—
"कहु मन मैं मन रै मन न सिहरै कहै कबीर मन मन।" (पद २९२)
४३ वही, पद ४५ और भण्डार टी० पं० ७१,७२ बूंद और समुद्र।
४४ वही; पद ४४
४५ दादू; दादू शि० अं० ६

कि इस मिलन के भाव को प्रकट करने के लिए संत ऐसा लिखते हैं। जैसे वे इन समस्त तत्त्व-गुणों के नष्ट हो जाने पर ही मिलन को मानते हैं।

ख—इस प्रकार संत तत्त्वों से परे मानकर भी जीव और ब्रह्म को एक स्वीकार करते हैं। इस एकता को व्यक्त करने के लिए दादू तेज-

परम-तत्त्व रूप

तत्त्व की कल्पना करते हैं, हम पीछे निर्मल तत्व का उल्लेख भी कर चुके हैं—

"ज्यों रवि एक अकाश है, ऐसे सकल भर पूर।
दादू तेज अनंत है, अल्लह आले नूर ॥"[४६]

परन्तु वस्तुतः मिलन जभी होगा—जब इन सब तत्त्वों से, इन समस्त दृश्यात्मक गुणों से जीव छूट जायगा और उसको उसी समय सहज रूप से प्राप्त कर सकेगा। 'पृथ्वी और आकाश, पवन और पानी का जब अस्तित्व विलय हो जायगा, और नक्षत्रों का लोप हो जायगा उस समय हरि और भक्त ही रह जायगा।'[४७] यहाँ 'जन' की स्वीकृति अद्वैत की विरोधी भावना नहीं मानी जा सकती और तत्त्वों की अस्वीकृति अभावात्मक भी नहीं कही जा सकती। साधारणतः संतों ने आध्यात्मिक क्षेत्र में जीव और ब्रह्म की 'एकमेक' भावना को प्रकट करने के लिए व्यापक प्रकृति-तत्त्वों का आश्रय लिया है और इन सब के साथ साधक का अपने आराध्य के प्रति विश्वास बना है जिसे हम अभावात्मक सत्य की सीमा तो निश्चय ही नहीं मान सकते। कुछ संत अपने अद्वैत सिद्धान्त में ब्रह्म को 'चिदानन्दघन' कहते हैं; और इससे इनके समन्वयवादी मत का ही संकेत मिलता है।[४८] फिर

४६ वही; पे० सं० ८९
४७ ग्रंथा०; कबीर : पद० सं० २६
४८ ग्रंथा०; सुन्दर० : ज्ञान समुद्र—'है चिदानन्दघन ब्रह्म तू सोई।
देह संयोग जीवत्व भ्रम होई॥

भी वे एक ही अनुभूत सत्य की बात कहते हैं।

§ १४—अभी तक संतों के आध्यात्मिक विचारों की अभिव्यक्ति के विषय में कहा गया है। अब देखना है कि संत साधकों ने अपनी अनुभूति को व्यक्त करने के लिए प्रकृति-रूपकों का माध्यम किस सीमा तक स्वीकार किया है। संतों की अन्तर्मुखी साधना में अलौकिक अनुभूति का स्थान है। और उसी की व्यंजना के लिए प्रकृति रूपों का आश्रय लिया गया है। परन्तु ये चित्र तथा रूपक इस प्रकार विचित्र और अलौकिक हो उठे हैं कि इनमें सहज सुन्दर प्रकृति का आधार किस प्रकार है यह समझना सरल नहीं है। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि इन संतों पर नाथ-पंथी योगियों तथा सिद्ध साधकों का प्रभाव अवश्य था। इन्होंने उनके बाह्याचारों के प्रति विद्रोह किया है; परन्तु इनकी साधना का एक रूप यह भी था। इस कारण संतों की अभिव्यक्ति पर इस परम्परा के प्रतीकों का प्रभाव है। व्यापक दृष्टिकोण के कारण इनकी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में रूढ़ि के स्थान पर व्यापक व्यंजना मिलती है; फिर भी अभिव्यक्ति का आधार और उसकी शब्दावली वैसी ही है। पहले यह देखना है कि संतों ने अपनी प्रेम-साधना को प्रकृति के माध्यम से किस प्रकार स्थापित किया है। इसी आधार पर हम आगे देख सकेंगे कि किस सीमा तक इनके प्रकृति-रूपक सिद्धों और योगियों की साधना परम्परा से ग्रहीत हैं और किस सीमा तक ये प्रेम-व्यंजना के लिए स्वतंत्र रूप से प्रयुक्त हुए हैं।

भाव भिव्यक्ति में प्रकृति रूप

क—संत-साधकों के प्रेम की व्याख्या संबन्धी रूपक योगियों के प्रतीकों से लिए गए हैं। परन्तु संत सहज की स्वीकृति मानकर चलता है; इस कारण इन रूपकों में प्रकृति के विस्तार के माध्यम से अर्थ ग्रहण कर के ही प्रेम की व्यञ्जना की गई है। साथ ही इन्होंने प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए स्वतंत्रता पूर्वक अन्य रूपों को भी चुना है। कबीर 'प्रेम को हृदय-स्थित कमल-मानते

प्रेम की व्यंजना

है जिसमें सुगन्धि ब्रह्म की स्थिति है; और मन-भ्रमर जब उस आकर्षित होकर खिंच जाता है, तो उस प्रेम को काम लोग ही जानते हैं।[४९] कमल को लेकर ही कबीर प्रेम की व्याख्या अन्यत्र भी करते हैं—'निर्मल प्रेम के उगने से कमल प्रकाशित हो गया, अनंत प्रकाश के प्रकट होने से रात्रि का अंधकार नष्ट हो गया।'[५०] संत-साधक को यौगिक अनुभूति की क्षणिकता को लेकर अविश्वास है। 'इंगला पिंगला' और 'अष्ट कमलों' के चक्कर में भी यह नहीं पड़ता।[५१] परन्तु साधक कमलों के माध्यम से प्रेम की सुन्दर व्याख्या करता है। कबीर कमलिनी रूपी आत्मा से कहते हैं—हे कमलिनी, तू कुम्हला क्यों रही है, यह जल तेरे लिए ही तो है। इसी जल में तेरी उत्पत्ति हुई है और इसी में तेरा निवास है। जल का तल न तो संतप्त हो सकता है, और न उसमें ऊपर से आग ही लग सकती है। हे नलिनी, तुम्हारा मन किस ओर आकर्षित हो गया है।[५२] इसमें आत्मा के ब्रह्म-संयोग के साथ प्रेम का रूप भी उपस्थित किया है। संतों की प्रेम साधना में कोमल कल्पना के लिए स्थान रहा है। इन्होंने हंस और सरोवर के माध्यम से प्रेम तथा संयोग की अभिव्यक्ति की है। इन समासोक्तियों और रूपकों में प्रेम संबन्धी भावों और स्थितियों का

४९. संत०, कबीर : पृ० सं० ७, [illegible] —
'सुख सरोवर मन भ्रमर तहाँ [illegible] ।
[illegible] निरखत [illegible] ॥' [illegible]
५०. वही : पृ० सं० ४५
५१. [illegible]; कबीर है—"[illegible] ।
[illegible] ।
[illegible] ।"
५२. [illegible]; कबीर० : [illegible]

उल्लेख है; साथ ही प्रेम की अनुभूति की व्यञ्जना भी सुन्दर हुई है—'सरोवर के मध्य, निर्मल जल में हंस केलि करता है; और वह निर्भय होकर मुक्ता समूह चुगता है। अनंत सरोवर के मध्य जिसमें अथाह जल है हंस संतरण करता है—उसने निर्भय अपना घर पा लिया है, फिर वह उड़ कर कहीं नहीं जाता।'[५३] दादू इस प्रकार अनंत ब्रह्म में जीवात्मा की प्रेम-केलि की ओर संकेत करते हैं। कबीर भी पूछ उठते हैं कि हंस सरोवर छोड़ कर जायगा कहाँ। इस बार बिछुड़ जाने पर पता नहीं कब मिलना हो। इस अनंत सागर में क्रीड़ा की अनुभूति पाकर हंस अन्यत्र जायगा नहीं—प्रेम की अनुभूति का आकर्षण ऐसा ही है—

"मान सरोवर सुभग जल, हंसा केलि कराहि।
मुकाहल मुकता चुगै, अब उड़ि अनत न जाहि॥"[५४]

ख—संतों ने प्रेम को समस्त आवेग में भी शांत और शीतल माना है। उनकी प्रेम-व्यञ्जना में सांसारिक जलन आदि का समावेश नहीं है। इसी कारण प्रेम की स्थिति का संत-साधक

शांत बादल

बादल के रूपक में प्रस्तुत करते हैं। बादल के उमड़ते विस्तार में, उसकी घुमड़ती गर्जना में पृथ्वी के वनस्पति-जगत् को हरा-भरा करने की भावना ही सन्निहित है। कबीर बताते हैं—'गुरु ने प्रसन्न होकर एक ऐसा प्रसंग सुनाया, जिससे प्रेम का बादल बरस पड़ा और शरीर के सभी अंग उससे भीग गए।...प्रेम का बादल इस प्रकार बरस गया है कि अन्तर में आत्मा भी आह्लादित हो उठी और समस्त वनराजि हरी-भरी हो गई।'[५५] इन संत-साधकों

---

५३ बानी०; द.दू: पद ६८

५४ बीजक; कबीर: रमैनी १५—"हंस, प्यारे सरवर तजि कहाँ जाय।
जेहि सरवर बिच मोतिया चुगत होता बहुविधि केलि कराय।"
तथा ग्रंथा०; कबीर० : पर० अं० ३९,

५५ वही०; गुरू० अं० २९, ३४

के द्वारा ब्रह्मानुभूति प्राप्त करता है। परन्तु मानव के ज्ञान की शक्ति परिमित है, उसके बोध की सीमाएँ बँधी हुई हैं। इस कारण अपनी अनुभूति के व्यक्तीकरण में योगियों को भी भौतिक जगत् का आधार लेना पड़ता है, यद्यपि वे इससे ऊपर की स्थिति मानते हैं। ससीम कल्पना मानवीय विचार और मानवीय अभिव्यक्ति से अलग नहीं की जा सकती और इस कारण आध्यात्मिक अनुभव का सीधा वर्णन नहीं हो सकता। यह सदा ही रूपात्मक और व्यंजनात्मक होगा।[५०]

क—जिस अन्तर्साक्ष्य की बात ये योगी करते हैं, उसमें भौतिक तत्वों का ही आश्रय लिया गया है। इसीके आधार पर सृष्टि कल्पना में शिव और शक्ति, नाद और बिन्दु की योजना की गई है। साधक अपनी अनुभूति के क्षणों में नाद (स्फोट) का आधार ग्रहण किए रहता है और उससे उत्पन्न प्रकाश का ध्यान करता है। शिव और शक्ति की क्रिया प्रतिक्रिया से उत्पन्न जो अनाहत नाद समग्र विश्व और निखिल ब्रह्मांड में व्याप्त हो रहा है, उसको यह बहिर्मुखी जीव नहीं सुन पाता। परन्तु योगियों के अनुसार साधना द्वारा सुषुम्ना का पथ उन्मुक्त हो जाने पर यह ध्वनि सुनाई देने लगती है। वस्तुतः भौतिक तत्वों में ध्वनि सब से अधिक सूक्ष्म तत्व है और इसी कारण अन्तर्मुखी साधना में उसको उतना महत्त्व स्वीकार किया गया है और उसको ब्रह्मानुभूति के समकक्ष स्थान दिया गया है। इसके बाद बिन्दु रूप प्रकाश का स्थान आता है। शब्द-तत्त्व पर स्फोट को अखण्ड सत्ता के रूप में ब्रह्म-तत्त्व मानने का कारण भी यही है। योगियों ने स्वर या नाद को विभिन्न प्रकार से विभाजित किया है—

ध्वनी से संबन्धित व्यंजना

> "आदौ जलधि जीमूत-भेरी झर्झर-संभवाः।
> मध्ये मर्दल-शंखोत्थाः घंटा-काहलनास्तथा॥

---

५० मिस्टीसिज्म; इवेलिन अन्डरहिल : पृ० १५०-१

अन्ते तु किंकणी-वंश-वीणा-भ्रमरनिस्वनाः ।
इति नानाविधाः शब्दाः श्रूयन्ते देहमध्यगाः ॥[५८]

हठयोग के नाद-बिन्दु को संत-साधकों ने ग्रहण किया है, परन्तु इनके अनुभूति-चित्र स्वतंत्र हैं। योगियों ने ध्वनि और प्रकाश की व्यापक भावना का आधार ग्रहण किया है और इस कारण अपनी अभिव्यक्ति में भौतिक-तत्वों और इन्द्रियों से ऊपर नहीं उठ सके हैं। संत-साधक ध्वनि-प्रकाश को व्यापक आधार प्रकृति-चित्रों की गम्भीरता में देते हैं, साथ ही इनको अन्तिम नहीं स्वीकार करते। दादू की प्रकाशमयी सुन्दरी का पति भी प्रकाशमय है और उनका मिलन स्थल भी प्रकाशमान हो रहा है। वहाँ पर अनुपम वसंत का शृंगार हो रहा है।[५९]

इन्द्रिय-प्रत्यक्षों का संयोग

स—संतों की रहस्याभिव्यक्ति नाद और प्रकाश के माध्यम से कम हुई है, परन्तु जब अनुभूति अलौकिक प्रकृति-रूपों में उपस्थित होती है तो उस समय इनका योग हो जाता है। अपनी अभिव्यक्ति में उन्मुक्त होने के कारण संतों की अनुभूति में नाद से अधिक प्रकाश और इन दोनों से अधिक स्पर्श का आनन्द छिपा हुआ है। यही करण है कि साधक बादल की गरज और बिजली की चमक से अधिक वर्षा की शीतलता का अनुभव कर रहा है। वस्तुतः संत-साधक की अन्तर्मुखी

---

५८ ह० प्र०; ४.८४, ८५ : सुन्दरदास अपने 'ज्ञान-समुद्र' के अन्तर्गत इनको दस प्रकार विभाजित करते हैं—(१) शंख (३) मृदंग (४) ताल (५) घंटा (६) वीणा (७) भेरि (८) दुंदभी (९) समुद्र (१०) मेघ : चरणदास 'ज्ञान स्वरोदय' वर्णन के अन्तर्गत (१) भ्रमर (२) घुंघरू (३) शंख (४) घंटा (५) ताल (६) मुरली (७) भेरि (८) मृदंग (९) नफीरी (१०) सिंह : 'दरिया साहब' में (१) चिड़िया (२) झींगुर (३) क्षुद्रघंटिका (४) शंख (५) बीन (६) ताल (७) मुरली (८) मृदंग (९) नफीरी (१०) बादर की ध्वनि।

(५९) बा० द० दू: वे० प्र० पृ० से।

साधना आँख बन्द करने और प्राण वायु को केन्द्रित करने पर विश्वास
लेकर नहीं चलती; वह तो जीवन के प्रवाह से सहज सम ही उपस्थित
करना चाहती है। इसीके फल स्वरूप इनकी अनुभूति के अलौकिक
प्रकृति चित्रों में इन्द्रिय-बोधों का स्वतंत्र हाथ रहा है। कबीर अनन्त
अनुभूति में गरज और चमक के साथ ही भीगने का आनन्द ह
अधिक ले रहे हैं—

"गगन गरजि मघ जाइये, तहाँ दीसे तार अनंत रे।
बिजुरी चमके घन बरषि है, तहाँ भीजत है सब संत रे॥"[10]

दादू भी जहाँ बादल नहीं है वहाँ झिलमिलाते बादलों को देख
रहे हैं। जहाँ वातावरण निःशब्द है वहाँ गरजन सुन रहे हैं। जह
बिजली नहीं है वहाँ अलौकिक चमक देख रहे हैं और इस प्रका
परमानन्द को प्राप्त कर रहे हैं। परन्तु वे अनन्त तेजपुंज प्रकाश
ज्योति के चमकने और झलमलाने के साथ आकाश की अमरबेलि
से झरनेवाले अमृत के स्वाद की कल्पना नहीं भूलते।[11] संतों
आनन्दानुभूति के साथ विभिन्न इन्द्रिय-प्रत्यक्षों का संयोग मिलता
अधिकांश में वर्षा की अनुभूति के साथ स्पर्श-सुख का उल्लेख है
मलूकदास को 'सहज समाधि लग जाने पर अनहद तूर्य बज रहा
अनुभूति की अनन्त लहरें उठती हैं और मोती की चमक जैसा कु
बरस रहा है'। वह ऐसी जगमगाती ज्योति को गगन गुफा में बैठकर दे
रहा है।[12] यहाँ लहर और बरसने का भाव दोनों ही स्पर्श की अनु
भूति की ओर संकेत करते हैं। कभी कभी इन चित्रों की कल्पना
साथ अनुभूति अधिक व्यक्त हो उठती है और ऐसे स्थलों पर जै
साधक का रूप कवि लेता है। बुल्ला देखते हैं—'काली काली घटा

---

१० ग्रंथ०; कबीर० : पद ४
११ बानी; दादू: दे० अंग से०
१२ बानी०; मलूक० : शब्द ११

की आवश्यकता नहीं मानी। साथ ही यह स्मरण रखना चाहिए कि संत इन अनुभूतियों को अन्तिम नहीं मानते। यह भौतिक आधार अपनी व्याप्ति और गम्भीरता में भी क्षणिक है। जबकि आत्मा और ब्रह्म में तात्विक भेद ही नहीं स्वीकार किया जाता, ये प्रकाशानुभूतियाँ आदि तो आध्यात्मिक सत्य की वस्तु-परक आधार मात्र है। वस्तुतः रहस्यानुभूति की अभिव्यक्ति अपने प्रत्येक स्तर पर इस प्रकाशानुभूति से संबन्धित है। हिन्दी के संत-साधकों ने प्रकृति का यथार्थ आधार स्वीकार नहीं किया; परन्तु उसके माध्यम से जो ब्रह्मानुभूति की अभिव्यक्ति की है, वह सहज प्रकाशानुभूति का रूप स्वीकार की जा सकती है।[६५]

अधिभौतिक और अलौकिक रूप

ग—इसी को जब संत-साधकों ने अधिक व्यक्त करना चाहा है तो यह अधिभौतिक और अलौकिक रूप धारण करता है। इन्होंने अपने इन चित्रों में योगियों के रूपकों से शब्द अवश्य लिए हैं, परन्तु इनमें नाद तथा ध्वनि के साथ रूप की दृश्यात्मकता अधिक प्रत्यक्ष हो उठी है। साथ ही इन्होंने अपने आनन्दाह्लाद का भी संयोग इनके साथ उपस्थित किया है। इसका कारण है कि संत-साधना प्रेम के आधार पर है। उपनिषद् कालीन रहस्यवादी के सामने भी दृश्यात्मक अनुभूति प्रत्यक्ष हो सकी थी और इसका कारण भी उनकी जगत् के प्रति जागरूकता है।[६६] ये अलौकिक रूप भौतिक-जगत् को अस्वीकार करके आन्तरिक अनुभूति में प्राप्त हुए हैं, इसीलिए इनमें दृश्य-जगत् का आधार होकर भी उसका सत्य नहीं है। दृश्य-जगत् भ्रामक है, इसको अन्ततः सत्य नहीं स्वीकार किया जा सकता। यह तो इन्द्रिय-

---

६५ मिस्टिसिज़्म : इवलिन अन्डरहिल—'दि इल्युमिनेशन ऑव दि सेल्फ़' पृ० २८२

६६ ग्रा० ए० ए० फ़ि०: आर० डी० रानाडे—'मिस्टिसिज़्म' पृ० १४१

प्रत्यक्ष के आधार पर प्राप्त बोध मात्र है। इस विषय में प्रथम भाग के प्रथम प्रकरण में संकेत किया गया है। यही कारण है कि रहस्यवादी अपनी अन्तर्दृष्टि से अलौकिक अधिभौतिक रूपों की कल्पना करता है। ऐसी स्थिति में वह इन्द्रिय बोध की सीमा पार करने लगता है और अलौकिक सत्यों का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करता है। परन्तु इसमें इसको असत्य नहीं कह सकते, क्योंकि जानते हैं कि हमारा ज्ञान स्वयं सीमित है।[१०]

(i) हम कह चुके हैं कि संत-साधक दृश्यमान जगत् को सत्य मान कर नहीं चलता और इसलिए ब्रह्म की व्यापक विश्व-भावना में अपनी अभिव्यक्ति का सामञ्जस्य भी ढूँढ़ता चलता है। परन्तु संतों की सहज-भावना सीमा बना नहीं चलती, उसमें विश्व की बाह्य रूपात्मकता। स्वीकृति भी मिल जाती है। ये साधक अलौकिक अनुभूति के क्षणों भौतिक-जगत् का आश्रय तो लेते ही हैं, पर प्रकृति-सर्जना के विस्तार में विश्वात्मा को पाकर आह्लादित भी हुए हैं। पर इस प्रकार की कल्पना दादू जैसे प्रेमी साधक में ही मिलती है—'उस ब्रह्म से समस्त विश्व पूर्ण है—प्रकाशमान् सत्य उद्भासित होकर धारण कर रहा है—समस्त असुन्दर नष्ट होकर ईशमय हो रहा है। वह समस्त विश्व में सुशोभित है और सब में छाया हुआ है। धरती-अंबर उसी के आधार पर स्थिर है—चंद्र-सूर्य उसकी सुध ले रहे हैं; पवन में वही प्रवहमान् है। पिंडों का निर्माण और तिरोभाव करता हुआ वह अपनी माया में सुशोभित है। जिधर देखो आप ही तो है, जहाँ देखो आप ही छाया हुआ है—उसको तो अगम ही पाया। रस में वह रूप होकर वह व्याप्त है, रस में वह अमृत रूप रसमय हो रहा है। प्रकाशमान् वह प्रकाशित हो रहा है; तेज में वह तेजरूप होकर

विश्वात्मा की कल्पना

---

१० मिस्टिसिज्म; इवीलेन अन्डरहिल: 'दि हर्निंग प्रासेस' से

व्याप्त हो रहा है।[६८] यह अनुभूति का रूप व्यापक प्रकृति में विराट-रूप की योजना के समान है।

कबीर की भावना

(ii) संत-साधक अपनी समस्त अलौकिक अनुभूति में इस बात के प्रति सचेष्ट है कि वह जिस अनुभूति की बात कर रहा है, वह अतीन्द्रिय जगत् से संबन्धित है। इस क्षेत्र में साधक प्रकृति के भौतिक प्रत्यक्षों को अस्वीकार करके अपनी अनुभूति को व्यक्त करने का प्रयास करता है। दादू अपनी अनुभूति में—'*जहाँ सूर्य नहीं है वहाँ प्रकाशमान् सूर्य देखते हैं जहाँ* चंद्रमा का अस्तित्व नहीं है वहाँ उसे चमकते पाते हैं—तारे जहाँ विलीन हो चुके हैं वहीं उन्हीं के समान कुछ झिलमिलाता है। यह वे आनन्द से उल्लसित होकर ही देख रहे हैं।'[६९] 'एकमेक' की भावना को ही पूर्ण सत्य माननेवाले संत प्रत्यक्ष की अनुभूति को अन्ततः सत्य मानकर नहीं चलते। चरणदास इसी ओर संकेत करते हैं—'*उस समय समस्त भौतिक रूपात्मकता लोप हो जाती है चंद्रमा* ही दिखाई देता है और न सूर्य ही! आकाश के तारे भी विलीन हो जाते हैं। प्रकृति की समस्त रूपात्मकता नष्ट हो गई—न रूप का अस्तित्व है न नाम का। फिर इस स्थिति में जीव और ब्रह्म की, साहब और संत की उपाधियाँ भी लुप्त हो गईं।'[७०] इसी सहज स्थिति का वर्णन नानक भी करते हैं जिसमें प्रकाशमान् तथा अलौकिक सृष्टि भी तिरोहित हो जाती है—ब्रह्म तथा जीव की स्थिति समरूप हो जाती है। वस्तुतः संत साधक का यही चरम सत्य है,—

"उन्मनि एको एक अकेला; नानक- उन्मनि रहै सुहेला।
उन्मनि अस्थावर नहिं जंगम, उन्मनि छाया महिलु विहङ्गम ॥

---

६८ बानी०; दादू० : पद २३६

६९ वही०; तेज० अंग से

७० भक्तिसागर; चरणदास : ब्रह्मज्ञान सागर वर्णन से (पृ० ३)

उन्मनि रवि की ज्योति न धारी उन्मनि किरण न शशिहि स्वारी।
उन्मनि निशि दिन ना उजियारा उन्मनि एकु न कीआ पसारा ॥⁷¹

परन्तु इस समस्त योजना में संतों ने अस्वीकार करके भी भौतिक-जगत् का ही तो माध्यम स्वीकार किया है। साधक अपनी ज्ञान की सीमाओं में कर ही क्या सकता है।

( ) फिर भी संतों का चरम सत्य ऐसा ही है। जो अगम है, अतीत है; जो इन्द्रियातीत है, परात्पर में संत उसी की अनुभूति

अति प्राकृत का प्रश्रय — व्यक्त करना चाहता है। जब अभिव्यक्ति का ... है तो वह अपने प्रयत्न के आगे जायगा कैसे लेकिन उस अनुभूति की, चरम और परम अभिव्यक्ति साधारण तथा लौकिक के सहारे की भी नहीं जा सकेगी। यही कारण है कि अन्य रहस्यवादियों की भाँति संत-साधक अपनी अनुभूति को अतिप्राकृतिक रूपों की अलौकिक योजना द्वारा ही व्यक्त करते हैं। कबीर का यह अलौकिक चित्र जैसे प्रश्न ही बन जाता है—'राजाराम की कहानी समझ में आ गई। इस अमृत के उपवन को उस हरि के बिना कौन पूरा करता। यह तो एक ही तरुवर है जिसमें अनंत शाखाएँ फैल रही हैं और जिसकी शाखाएँ, पत्र और पुष्प सभी रसमय हो रहे हैं। अरे यह कहानी तो मैंने गुरू के द्वारा जान ली। इस उपवन में उसी राम की ज्योति तो उद्भासित हो रही है।...और उसमें एक भ्रमर आसक्त होकर पुष्प के रस में लीन हो रहा है। वृक्ष चारों ओर पवन से हिलता है—वह आकाश में फैला है। और आश्चर्य —यह सहज शून्य से उत्पन्न होनेवाला वृक्ष तो पृथ्वी-पवन सबको अपने में विलीन करता जाता है।'⁷² इससे स्पष्ट है कि संतों ने योगियों के रूपक व्यापक आधार पर स्वीकार किए हैं। दादू का अनु-

---

७१ प्राणसंगली; नानकः प्रथम भाग (पृ० ५०)

७२ ग्रंथा० कबीर; नानक : प्रथम भाग (पृ० ५००)

पूर्ण चित्र विशिष्ट प्रकृति-चित्रों को ही अलौकिक रूप प्रदान करता है। 'आत्मा कमल में राम पूर्ण रूप से प्रकट हो रहा है, परम पुरुष वहाँ प्रकाशमान है। चन्द्रमा और सूर्य के बीच राम रहता है, जहाँ गंगा यमुना का किनारा है और त्रिवेणी का संगम है। और आश्चर्य —जहाँ निर्मल और स्वच्छ झरना ही झरा दिखाई देता है जिसे देख कर आत्मा सम्पूर्ण होकर प्रकाश के पुंज में लीन हो जाती है। —दादू कहते हैं हम अपने ही आनन्दोल्लास में मग्न हैं।'[७३] दादू ने इस चित्र में प्रतीकों का आश्रय लिया है, पर यह भावानुभूति का अलौकिक संकेत ही अधिक देता है। गरीबदास 'गगन मंडल में पार-ब्रह्म का ध्यान देखते हैं, जिसमें शून्य महल के शिखर पर हंस आत्मा विश्राम करती है। यह स्थिति भी विचित्र है—अन्तर्मुखी कंक-नाल के मध्य में त्रिवेणी के किनारे मानसरोवर में हंस क्रीड़ा करता है और यह कोकिल कीर के समान बोली बोलता है। यहाँ तो सभी विचित्र है, अगम अनाहद द्वार है, अगम अनाहद लोक है, फिर अगम अनाहद आकाश में अगम अनाहद अनुभूति होती है।'[७४]

अतिप्राकृतिक चित्रों में विविध वस्तुओं और गुणों का संयोग होता है। इनमें विविध परिस्थितियाँ उपस्थित की गई हैं, बिना कारण के परिणाम या वस्तु का होना बताया गया है। यह सब अलौकिक अनुभूतियों का परिणाम है जो प्रत्यक्ष को ही असीम का आधार देकर किसी अज्ञात और अलौकिक से अपना संबन्ध जोड़ना चाहती है। कभी-कभी इन चित्रों में उलटवाँसी का रूप मिलता है। एक सीमा तक ऐसा कहा जा सकता है, परन्तु आगे देखेंगे कि उलटवाँसी में इनसे भेद है और इसका ऐसा लगना अलौकिकता के कारण है। धरनीदास के इस बिखरे हुए चित्र में कई प्रकार की योजनाएँ मिल

७३ दू०रा०; दादू० : पद ४३८

७४ बानी०; गरीबदास : गुरु० अं० ११, ७१

करती है – 'गुरु का ज्ञान सुनकर त्रिकुटी में ध्यान करो—भ्रमर एक थल भ्रमता है, आकाश में पैर उड़ता है। चंद्र के उदय से अलौकिक आनन्द होता है और मोती की धार बरसती है। बिजली के चमकने से पानी और प्रकाश व्याप्त हुआ है और उसके सौन्दर्य का प्रसार घना है। पाँच इन्द्रियाँ भक्ति हो गईं और पच्चीस का [illegible] कर दिया, [illegible] द्वार पर मणि माणिक्य मोती और हीरा झलकते रहे हैं। [illegible] दिशा के बिना मूल के फूल फूला है।... आकाश गुफा में प्रेम का पुष्प फूलने लगा, जहाँ सूर्य चंद्रमा का उदय नहीं होता, पूर्ण प्रकाश भी नहीं होती। हृदय उन्मत्त हो गया, मन मग्न होकर उसका रस आस्वादित हो गया। ..बिना मूल के फूल को खिला देखकर भ्रमर आतुर हो गया।"[75] इस प्रकार साधक प्रकृत-जगत् को अस्वीकार करके भी अपनी अलौकिक अनुभूति को व्यक्त करने में उसी का आधार लेता है।

§१६—हम कह आए हैं कि संतों ने अपनी अभिव्यक्ति में प्रतीकों का उल्लेख अवश्य किया है; पर उनका उद्देश्य इस माध्यम से अलौकिक अनुभूति को व्यक्त करना है। साथ ही प्रतीकात्मकता से अधिक संतों का ध्यान इनकी संयोग योजना की ओर है। फिर संत प्रेम साधक है उसकी साधना मूलतः ज्ञानात्मक न होकर भावात्मक है। उसके रूप चित्रों में भाव के साथ ज्ञान भी प्रत्यक्ष हो उठता है। परन्तु दादू जैसे प्रेमी साधकों ने अपनी अनुभूति के चरम क्षणों में भी प्रेम की भावात्मकता को नहीं छोड़ा है—

रहस्यवादी सं-योजन

"बरसहि राम अमृत धार,
झिलिमिलि झिलिमिलि सींचन हारा।
प्राण बेलि निज नीर न पावै,

---

७५ बानी०, धरनीदास: ककहरा २, ४, १०, १२, २२, २२

जलहर बिना कँवल कुम्हिलावै।
सूकै बेली सकल बनराई। रामदेव जल बरिसइ आई।
आतम बेली मरै पियासी। नीर न पावै दादू दास॥[७६]

इस चित्र में अनुभूति की भावात्मकता अधिक है। अनुभूति के क्षणों में प्रेम-भावों का सबसे अधिक माध्यम स्वीकार करनेवाले साधक दादू ही हैं। अलौकिक प्रतीकों में अनुभूति की भावुकता अधिक स्पष्ट और स्पष्ट हो उठती है। परन्तु दादू स्वानुभूति को चित्रमय करने से अधिक उसके क्षणों के आनन्दोल्लास को प्रकट करते हैं और इसका कारण भी यही है कि इन्होंने प्रेम का आश्रय अधिक लिया है। अत्यन्त स्वच्छ निर्मल जल का विस्तार है, ऐसे सरोवर पर हंस आनन्द क्रीड़ा करता है। जल में स्नात वह अपने शरीर को निर्मल करता है। वह चतुर हंस मनमाना मुक्ताहल चुनता है।' इसके आगे अनुभूति का रूप दूसरे चित्र का आश्रय ग्रहण कर लेता है—'उसी के मध्य में आनन्द पूर्वक विचरता हुआ भ्रमर रस पान कर रहा है—प्रेम में लीन भ्रमर कँवल का रस इच्छा पूर्वक पी रहा है; देखकर, रस कर वह आनन्द भोग करता है; पर उसका मन सदा ही सचेष्ट रहता है।' चित्र फिर बदलता है—'आनन्दोल्लसित सरोवर में मीन आनन्द मग्न हो रही है, सुख के सागर में क्रीड़ा करती है जिसका कोई आदि है न अंत है। जहाँ भय है हा नहीं, वहाँ वह निर्भय विलास करती है। सामने ही सुधा है, दर्शन क्यों न कर लो।'[७७] इन परिवर्तित होते चित्रों में केवल अलौकिक रूप नहीं है, वरन् आनन्द तथा उल्लास के रूप में प्रेमी-साधक की अपनी अनुभूति का योग भी है। पिछले चित्रों में यह भावना प्रस्तुत अवश्य थी, पर इतनी स्पष्ट और व्यक्त नहीं।

---

७६ बानी०; दादू : पद ३३३
७७ बानी०; दादू : पद २४७

दिव्य प्रकृति में

क—इसी प्रकृति-रूपों में भाव-व्यंजना के अन्तर्गत प्रकृति का दिव्य रूप आता है जिसमें अनन्त तथा चिर सौन्दर्य की भावना ब्रह्म विषयक आनन्दोल्लास का संकेत देती है। वस्तुतः इस प्रकार रूप भिन्न कृष्ण-काव्य और प्रेमाख्यान-काव्य में ही अधिक है। संतो ने तो उनके ही प्रभाव से बाद में ग्रहण किया है। चरणदास ऐसी दिव्य-प्रकृति की कल्पना करते हैं—

"दिव्य वृन्दावन दिव्य कालिन्दी। देखे स' जीते मन इन्द्री ॥
किनार निकट वृक्षन की छाहीं। आय परी यमुना जल माहीं ॥
झिलमिल शुभ की उटत तरंगा। बोलत दादुर अरु सुर भंगा ॥
बन घन कुंजलता छवि छाई। झुकि टहनी धरणी पर आई ॥
नित बसंत जहँ गंध सुरारी। चलत मन्द जहं पवन सुखारी ॥"[७८]

इस लौकिक प्रकृति में दिव्य भावना के द्वारा चिरंतन उल्लास को उसी प्रकार व्यक्त किया गया है जिस प्रकार ऊपर के चित्रों में अलौकिक रूपों के द्वारा। परन्तु इन समस्त भाव-व्यंजक प्रकृति-रूपों में प्रकृतवादी उल्लास तथा आह्लाद की भावना से स्पष्ट भेद है। जैसा कहा गया है यहाँ ब्रह्म की भावना व्यक्त है और प्रकृति माध्यम के रूप में ही उपस्थित हुई है।

साधना में उद्दीपक प्रकृति-रूप

§ ७—संतों ने प्रेम का साधन स्वीकार किया है और माध्यम भी ग्रहण किया है। प्रेम की अभिव्यक्ति विरह भावना में चरम पर पहुँचती है। प्रकृति हमारे भावों की उद्दीपक है। व्यापक रूप से इस विषय की विवेचना अन्य प्रकरण में हो सकेगी। परन्तु आध्यात्मिक भावना के गम्भीर और उल्लसित वातावरण में प्रकृति का उद्दीपन रूप साधना से अधिक सम्बन्धित हो जाता है। इस सीमा में प्रकृति का

---

७८ भक्तिसागर; चरण० : ब्रजचरित, पृ० १

उद्दीपन रूप लौकिक भावों को स्पर्श करता हुआ अलौकिक में खो जाता है और साधक अपनी साधारण भाव-स्थिति को भूल जाता है। दरिया साहब (विहार वाले) देखते हैं—'वसन्त की शोभा में हंसराज क्रीड़ा कर रहा है आकाश में सुर समाज कौतुक क्रीड़ा करता है। सुन्दर पत्तेवाले सुन्दर वृक्षों की सघन शाखाएँ आपस में आलिंगन कर रही हैं। मधुर राग-रंग होता है अनाहद नाद हो रहा है जिसमें ताल-भंग का प्रश्न नहीं उठता। वेला, चमेली आदि के नाना प्रकार के फूल फूल रहे हैं सुगन्धित गुलाब पुष्पित हो रहे हैं। भ्रमर कमल में संलग्न है और उससे अपना संयोग करता है।'[७९] इस चित्र में मधु क्रीड़ाओं आदि का आरोप संयोग रति का उद्दीपन है, पर व्यंजना व्यापक आध्यात्मिक संयोग की देता है। सुन्दरदास की प्रकृति-रूप की योजना, में उसके व्यापक प्रसार में आध्यात्मिक प्रेम उल्लसित और आन्दोलित होकर अपने परम साध्य संयोग को अनुभव करने के लिए उत्सुक होता है उसके सुख को प्राप्त भी करता है। इसमें सहज आकर्षण के साथ सहज भावोद्दीपन की प्रेरणा भी है।[८०] प्रकृति का समस्त रूप शृंगार आध्यात्मिक प्रेम के उद्दीपन की पृष्ठ-भूमि बन जाता है।

§१८—संतों की रहस्य-साधना में व्यावहारिक यथार्थ महत्व नहीं रखता। जो कुछ दृश्यामान् जगत् दिखाई देता है सत्य उसके

---

७९ शब्द०; दरिया०: बसंत ५

८० ग्रंथा०; सुन्द० : अथ पुरबी भाषा बरवै—

'गंगा जमुन दोउ दहिहय तीच्छन-धार; दुमति नवरिया बैसल उतरव पार।
सलमहि धावक प्रज्वलत पुंज-प्रकास; कमल प्रफुल्लित भइल अधिक सुवास।
अंब डार पर बैसल कोकिल कीर; मधुर मधुर धुनि बोलइ सुखकर भौर।
सब केइ मन भावन सरस बसंत; वरत सदा कौतूहल कामिनि कंत।
निशिदिन प्रेम हिडुलवा दिहल मचाइ; सेई नारि सभागिनि भूलइ जाइ।'

पर है। इन्होंने अन्तर्मुखी साधना की बात कही है, जिसमें समस्त बाह्य प्रवृत्तियों को दबाकर अन्तर्मुखी करने की भावना है। जीव की सांसारिक प्रवृत्ति को उलटना ही तो इसका अर्थ है। और प्रकृति या दृश्यमान जगत् भी इस मार्ग पर सृष्टा की ओर प्रवाहित होता है। लेकिन अन्तर्मुखी वृत्ति में भी इन्द्रिय प्रत्यक्षों का आधार तो उनके गुणों के माध्यम से लिया जा सकता है। यही कारण है कि संत साधक कहता है—'साधक, यह बेड़ा तो नीचे की ओर चल रहा है—सत्य ही तो साहब की सौगन्ध, इसके लिए नाविक की क्या आवश्यकता। पूर्व्व-मी अन्तर्मुखी निलय की ओर जा रही है और शिखर भी। ऊर्ध्व-गामिनी नदियाँ प्रवाहित हैं, जहाँ हीरे पन्नों का प्रकाश है और सेवक, नौका तो औंधी पानी के बीच अधर ही में है। इसी अन्तः में सूर्य्य-चन्द्र हैं और चौदह भुवन इसी में हैं। इसी अन्तः में उपवन और बेलें पुष्पित हैं और कुआँ तालाब भी। इसी अन्तर्मुखी भावना में आनन्दोल्लास में कूकता हुआ माली फूले हुए पुष्पों को देखता घूमता है।'[८१] गरीबदास जिस अधर की बात करते हैं, वह अन्तर्मुखी साधना का रूप है जिसमें प्रकृति का बाह्य सौन्दर्य्य अन्तर्मुखी होकर साधक की अनुभूति से मिल जाता है। इस चित्र में रूपात्मकता अधिक और उल्लास कम है; पर सुन्दरदास के रूप-चित्र में उल्लास ही अधिक है—'इसी अन्तः में फाग और बसंत का उल्लास छाया हुआ है; और उसी में कामिनी-कंत का मिलन भी हो रहा है। अन्तः में ही नृत्य गान होता है, उसी में बेन भी बज रही है। इसी शरीर के अन्दर स्वर्ग-पाताल की कल्पना और काल-नाश की स्थिति है। इसी अन्तः साधना में युग युग का जीवन और अमृत

---

८१ बानी०; गरीबदास, ः बेत १ पद ४

है।" ८२ इस कल्पना में उद्दीपन जैसा रूप है और प्रकृति-चित्रों का विस्तार नहीं है। इस अन्तर्मुखी-प्रकृति का प्रयोग जीव और ब्रह्म के संयोग में अधिक प्रत्यक्ष हो सका है। इस योजना में यह संयोग सहज हो जाता है। जब अन्तर्प्रत्यक्षों में प्रकृति के गुणों का संयोग उपस्थित होता है उस समय बाह्य आधार तो छूट ही जाता है। और ब्रह्म संयोग की अभिव्यक्ति सरल हो जाती है। दरिया साहब के अन्तर्मुखी प्रकृति-चित्रण में यह स्पष्ट है—

> "अपना ध्यान तुम आप करना नहीं,
> अपने आप में आप देखा।
> आप ही गगन में जगह है आप ही,
> आप ही त्रिकुटी भँवर पेखा॥
> आप ही तत्त्व निःतत्त्व है आप ही,
> आप ही सुन्न में शब्द देखा।
> आप ही घटा घनघोर आप ही;
> आप ही बुन्द सिन्धु लेखा॥"८३

इस प्रकार समस्त प्रकृति का सर्जन का, अपने अन्दर देखता हुआ साधक में ब्रह्म-रूप आत्मानुभूति प्राप्त करता है। यहाँ यह कहना आवश्यक है कि संतों में ब्रह्म और आराध्य की भावना इतनी प्रत्यक्ष है कि प्रकृति-रूपक दूर तक नहीं चल पाते और वे इसके भी पड़ जाते हैं।

§ १६ सिद्धों और योगियों का अपने सिद्धान्तों और रूपों के कथन की शैली उलटवाँसी है। संतों ने इनको ही ग्रहण किया है और यह उनके लिए आश्चर्य की बात नहीं।८४ पिछले अनुच्छेदों में हम

---

८२ वही०; पृ० [illegible] सोरठ २८ ४

८३ वही०; दरिया० : रेखता [illegible], २८ ८

८४ वही; [illegible]

देख चुके हैं कि संतों ने परम्परा प्राप्त प्रतीकों को सहज-भाव

उलटवाँसियों में प्रकृति-उपमान

अनुकूल रूप में अपनाया है। उलटवाँसियों के प्रतीक और उपमानों का भी प्रयोग संतों ने इसी प्रकार किया है। योगियों से प्रतिद्वंद्विता लेने की बात दूसरी है, यहाँ प्रवृत्ति की बात कही गई है। कुछ में सत्यों का उल्लेख किया गया है, इनमें अधिकांश संसार और माया को लेकर हैं। कबीर कहते हैं— 'कैसा आश्चर्य है' पानी में आग लग गई, और जलाने वाला जल गया। समस्त पंडित विचार कर थक गए।' इसमें अंतः समाधिसुख की बात कही गई है; और वह वैचित्र्य का आश्रय लेकर। कबीर दूसरा आश्चर्य प्रकट करते हैं—'समुद्र में आग लग गई, नदियाँ जल कर कोयला हो गईं; और जाग कर देखो तो सही, मछलियाँ वृक्ष पर चढ़ गई हैं।' माया के नष्ट होने से अन्तः समाधि की बात यहाँ प्रकृति की वैचित्र्य-भावना के आधार पर कही गई है। इन उलटवाँसियों में प्रकृति की विचित्र स्थितियों के माध्यम से सत्यों की व्यंजना की जाती है; और यह ढंग अधिक आकर्षक है। कबीर इसी प्रकार सत्य का संकेत देते हैं—'आश्चर्य की बात तो देखो—आकाश में कुँआ है वह भी उलटा हुआ और पाताल में पनि-हारी है; इसका पानी कौन हंस पीयेगा; यह कोई बिरला ही होगा।'[८५]

परन्तु जब इन उलटवाँसियों में प्रेम की व्यंजना को स्थान मिलता है, तो इनमें वैचित्र्य के स्थान पर अलौकिक भावना रहती है।

प्रेम-का संकेत

इस ओर पहले संकेत किया गया है। दादू के अनुसार—'यह वृक्ष भी अद्भुत है जिसमें न तो जड़ें और न शाखाएँ—और यह पृथ्वी पर है भी नहीं; उसी का अविचल अनंत फल दादू खाते हैं।'[८६] परन्तु जब प्रेम और अनुभूति

---

८५ संथा०; कबीर० ; स्था० तथा पर० के अंग से

८६ बानी०; दादू ; [illegible] ११, १२

के चरम क्षणों में उलटवाँसी का रूपक भरा जाता है, उस समय अनुभूति की विचित्रता और अलौकिकता का योग भी सत्यों की विभिन्नता के साथ किया जाता है। दरिया साहब (बिहार वाले) की कल्पना में इसी प्रकार की उलटवाँसियाँ छिपी हैं—'संतो' निर्मल ज्ञान का विचार करके ही होली खेलो। कमल को जल से उखाड़ प्रेमामृत में भिगोकर अग्नि में आरोपित करो। अनंत जल के विस्तार में अपने भ्रमों को जला डालो। फिर सरिता में कोकिल ध्यान करेगा; और जल में दीपक प्रकाशित होगा। सभी संशय छोड़कर मीन ने अपना घर शिखर पर स्थिर किया है। दिन में चंद्र की ज्योत्सना फैल गई और रात्रि में भानु की छवि छाई है। आँख खोलकर देखो तो सही। धरती बरस पड़ी, गगन में बाढ़ आती जा रही है, पर्वतों से पनाले गिरते हैं। अर्द्ध-सीपी की सम्पुट खुल गई, जिसमें मोतियों की झड़ी लगी हुई है। यह अगम की अनुभूति का भेद है, इसे सम्हाल कर ही समझा जा सकता है।[८७] इन उलटवाँसियों के प्रतीकों का सामञ्जस्य बैठाने से काम नहीं चल सकता; यह तो अलौकिक सत्यों की अनुभूति है, जो आत्मा को व्यापक रूप से घेर कर एक विचित्र जाल बिछा देती है। इस कल्पना में इस प्रकार के रूप भी हैं जिनमें प्रत्यक्ष-सत्ता को अस्वीकार करके ही कल्पना को स्थिर रखने का प्रयास किया जाता है। गरीबदास अन्तर्दृष्टि की दुरबीन से इसी अस्तित्वहीन सृष्टि की कल्पना में सत्य का प्रत्यक्ष करते हैं।[८८] वस्तुतः यह सब अलौकिक सत्य की अनुभूति तथा अभिव्यक्ति से संबन्धित है।

---

८७ शब्द०; दरिया (बि०) : होली पद ३

८८ ब०सं०; गरीबदास : बैत पद ४

बंदे देख ले दुरबीन वे।
धर निराह आह आसन, बरसता बिन बादर वे।
अधर बाग अनंत फल, कायम कला सरकार वे।

देख चुके हैं कि संतों ने परम्परा प्राप्त प्रतीकों को सहज भाव से अनुकूल रूप में अपनाया है। उलटवाँसियों के प्रतीक और उपमानों का भी प्रयोग संतों ने इसी प्रकार किया है। योगियों से प्रतिद्वंद्विता लेने की बात दूसरी है, यहाँ प्रवृत्ति की बात कही गई है। कुछ में मत्स्यों का उल्लेख किया गया है, इनमें अधिकांश संसार और माया को लेकर हैं। कबीर कहते हैं— 'कैसा आश्चर्य है' पानी में आग लग गई, और जलाने वाला जल गया। समस्त पंडित विचार कर थक गए।' इसमें अंतः समाधिसुख की बात कही गई है; और वह वैचित्र्य का आश्रय लेकर। कबीर दूसरा आश्चर्य प्रकट करते हैं—'समुद्र में आग लग गई, नदियाँ जल कर कोयला हो गईं; और जाग कर देखो तो सही, मछलियाँ वृक्ष पर चढ़ गई हैं।' माया के नष्ट होने से अन्तः समाधि की बात यहाँ प्रकृति की वैचित्र्य-भावना के आधार पर कही गई है। इन उलटवाँसियों में प्रकृति की विचित्र स्थितियों के माध्यम से सत्यों की व्यंजना की जाती है; और यह ढंग अधिक आकर्षक है। कबीर इसी प्रकार सत्य का संकेत देते हैं—'आश्चर्य की बात तो देखो—आकाश में कुँआ है वह भी उलटा हुआ और पाताल में पनिहारी है; इसका पानी कौन हंस पीयेगा; यह कोई विरला ही होगा।'[८५]

उलटवाँसियों में प्रकृति-उपमान

क—परन्तु जब इन उलटवाँसियों में प्रेम की व्यंजना को स्थान मिलता है, तो इनमें वैचित्र्य के स्थान पर अलौकिक भावना रहती है। इस ओर पहले संकेत किया गया है। दादू के अनुसार—'यह वृक्ष भी अद्भुत है जिसमें न तो जड़ें और न शाखाएँ—और यह पृथ्वी पर है भी नहीं; उसी का अविचल अनंत फल दादू खाते हैं।'[८६] परन्तु जब प्रेम और अनुभूति

प्रेम-रस संकेत

८५ संथा०; कबीर० ; क्या० तथा पर० के अंग से

८६ बानी०; दादू ; अगददंष ११, १२

के चरम क्षणों में उलटवाँसी का रूपक भरा जाता है, उस समय अनुभूति की विचित्रता और अलौकिकता का योग भी सत्यों की विभिन्नता के साथ किया जाता है। दरिया साहब (बिहार वाले) की कल्पना में इसी प्रकार की उलटवाँसियाँ छिपी हैं—'संतो' निर्मल ज्ञान का विचार करके ही होली खेलो। कमल को जल से उजाड़ प्रेमामृत में भिगोकर अग्नि में आरोपित करो। अनंत जल के विस्तार में अपने भ्रमों को जला डालो। फिर सरिता में कोकिल ध्यान करेगा; और जल में दीपक प्रकाशित होगा। सभी संशय छोड़कर मीन ने अपना घर शिखर पर स्थिर किया है। दिन में चंद्र की ज्योत्स्ना फैल गई और रात्रि में भानु की छवि छाई है। आँख खोलकर देखो तो सही। धरती बरस पड़ी, गगन में बाढ़ आती जा रही है, पर्वतों से पनाले गिरते हैं। अर्द्ध-सीपी की सम्पुट खुल गई, जिसमें मोतियों की लड़ी लगी हुई है। यह अगम की अनुभूति का भेद है, इसे सम्हाल कर ही समझा जा सकता है।'[८७] इन उलटवाँसियों के प्रतीकों का सामञ्जस्य बैठाने से काम नहीं चल सकता, यह तो अलौकिक क्षणों की अनुभूति है, जो आत्मा को व्यापक रूप से घेर कर एक विचित्र जाल बिछा देती है। इस कल्पना में इस प्रकार के रूप भी हैं जिनमें प्रत्यक्ष सत्ता को अस्वीकार करके ही कल्पना को स्थिर रखने का प्रयास किया जाता है। गरीबदास अन्तर्दृष्टि की दुरबीन से इसी अस्तित्वहीन सृष्टि की कल्पना में सत्य का प्रत्यक्ष करते हैं।[८८] वस्तुतः यह सब अलौकिक सत्य की अनुभूति तथा अभिव्यक्ति से संबन्धित है।

---

८७ शब्द०; दरिया (वि०) : होली ६८ ३

८८ बानी०; गरीबदास : बैत पद ४

बंदे देख ले दुरबीन से।

वर निगाह अगाह आसन, बरसता बिन बादर से।

अधर बाग अनंत फल, कायम कला करतार से।

§ २०—अभी तक विभिन्न रूपों को अलग-अलग विभाजित करके प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। परन्तु अनेक रूप आपस में मिल-जुलकर उपस्थित हुए हैं। अतिप्राकृतिक चित्रों के साथ उलटवाँसियों के संयोग द्वारा संतों ने व्यापक सत्यों और गम्भीर अनुभूतियों को एक साथ अभिव्यक्त किया है। इस स्थिति में असाधारण चमत्कृत स्थिति की कल्पना द्वारा अनुभूति की असाधारण स्थिति का ही संकेत मिलता है। ऐसे पदों में साधना का रूप और अनुभूति की भावना का रूप मिल-जुल गया है—

साधना में रूपों का विविध संयोग

"इहि विधि राम सूं ल्यौ लाइ।
चरन पारै बूंद न सीप साइर, बिना गुण गाइ।
जहाँ स्वाती बूंदन सीप साइर, सहज मोती होइ।
उन मोतियन में नीर पायौ, पवन अंबर धोइ।
जहाँ धरनि बरसै गगन भीजै, चंद सूरज मेल।
दोइ मिलि जहाँ जुड़न लागे, करत हंसा केलि।
एक बिरष भीतर नदी चाली, कनक कलस समाइ।
पंच सुवटा आइ बैठे, उदै भई बन राइ॥
जहाँ बिछुट्यौ-तहाँ लाग्यौ, गगन बैठो जाइ।
जन कबीर बटाउवा, जिनि लियो चाइ॥"[८१]

कबीर की इस सहज-लय चिन्ता में; सीप, बूंद और सागर के संयोग के मोती उत्पन्न हो जाता है; और उस मोती की आभा से अन्तरात्मा आर्द्र हो उठी है। जहाँ लौकिक और अलौकिक का मिलन होता है, उस सीमा पर इन्द्रियों का विषय आत्मानन्द का विषय हो जाता है। आत्मा की वृत्तियाँ अन्तर्मुखी होकर प्रवाहित हैं—और नदी वृक्ष के भीतर समाई जा रही है, कनक कलश में लीन हुआ जा रहा है।

---

८१ ग्रंथा०; कबीर : पद १५०

चतुर्थ प्रकरण

आध्यात्मिक साधना में प्रकृति-रूप (क्रमशः)

प्रेमियों की व्यंजना में प्रकृति-रूप

फ़ारस के सूफ़ी कवि

§१—पिछले प्रकरण की विवेचना में हम देख चुके हैं कि मध्ययुग की प्रत्येक धारा के पीछे एक परम्परा रही है जिससे उसने प्रभाव ग्रहण किया है। हिन्दी साहित्य के प्रेमी कवियों की, और विशेषतः सूफ़ी कवियों की आध्यात्मिक भाव-धारा में फ़ारस के सूफ़ी कवियों के आध्यात्मिक विचारों का प्रभाव रहा है। हिन्दी काव्य के सूफ़ी बाशरा हैं और इस कारण सामान्यतः वे क़ुरान और मुसलिम विचार-धारा को स्वीकार करके चले हैं। फ़ारसी सूफ़ी अपनी प्रेम साधना में नितांत एकेश्वरवादी तो नहीं रह सके हैं, परन्तु उन्होंने विचारों की प्रेरणा के रूप में एकेश्वर-वादों को छोड़ा नहीं है। उनके आध्यात्मिक प्रकृति-रूपों में इसका बहुत अधिक प्रभाव है। पृष्ठ भूमि में एकेश्वर की भावना प्रस्तुत रहने कारण फ़ारस के सूफ़ी कवियों के सामने प्रकृति की सप्राण योजना

उसका चेतन प्रवाह नहीं आ सका; वे उसको कर्त्ता और रचयिता के भाव से ही अधिक देख सके हैं। फिर भी फ़ारसी कवि उन्मुक्त होकर प्रकृति से प्रेरणा ले सका है और उसके सामने उसका विस्तृत सौन्दर्य रहा है। उनकी प्रकृति-भावना में एकेश्वर की अलग-थलग सत्ता का आभास मिलता है। उनकी प्रेम-व्यंजना में अवश्य एकात्म-भावना मिलती है।[१]

§२—इसी प्रकार की एकेश्वरवादी भावना हमको हिन्दी मध्ययुग के सूफ़ी प्रेम मार्गी कवियों में भी मिलती है। वरन् इनका क्षेत्र अधिक विचार प्रधान है। इस कारण इनका प्रकृतिवादी दृष्टिकोण तो है ही नहीं, साथ ही इनमें प्रकृति के प्रति विशेष आकर्षण भी नहीं है। प्रकृति को लेकर हिन्दी सूफ़ी कवि के मन में कोई प्रश्न नहीं उठता। वह कर्त्ता और रचयिता की निश्चित भावना को लेकर उपस्थित हो जाता है; और आरम्भ करता है—

एकेश्वरवादी भावना

"सुमिरौं आदि एक करतारू। जेहि जिउ दीन्ह दीन्ह संसारू।
कीन्हेसि प्रथम जोति परकासू। कीन्हेसि तेहि पिरित कैलासू॥
कीन्हेसि दिन दिनअर ससि राती। कीन्हेसि नखत तराइन पाँती।
कीन्हेसि धूप सीउ औ छाँहाँ। कीन्हेसि मेघ, बीजु तेहि माँही॥"[२]

इसी प्रकार जायसी सारे सर्जन को उसी रचयिता के माध्यम से गिना जाते हैं,—'उसी ने सातों समुद्र प्रसरित किए हैं, उसी ने मेरु तथा किष्किंधा आदि पर्वतों को बनाया है। इन समस्त सर, सरिता, नाले, झरने, मगर-मच्छ आदि को उसी ने तो बनाया है। सीपी का निर्माण करनेवाला [illegible] उसमें [illegible] रहा है। इस

१ लेखक के (फ़ारस के [illegible] सूफ़ी) नामक निबन्ध में विशेष [illegible]

समस्त सर्जना को करने में सृष्टा को एक क्षण भी नहीं लगता, और उसने आकाश को बिना आश्रय के ही खड़ा किया है।'[3] इस वर्णना को उपस्थित करने में सूफी प्रेमी कवियों में एकेश्वरवादी भावना सन्निहित है जिसमें सृष्टि से अलग सृष्टा की कल्पना की गई है। इसका यह अर्थ यह नहीं है कि जायसी आदि में एकात्म-भावना मिलती ही नहीं। भारतीय दर्शन के प्रभाव से, तथा प्रेम-व्यंजना के रूप में भी, सूफी प्रेमी अद्वैत की व्यापक भावना को अपना लेते हैं—

"परगट गुपुत सकल महँ पूरि रहा सो नांव।
जँह देखौं तहँ ओही, दूसर नहिं जहँ जाँव॥"[4]

परन्तु प्रमुख प्रवृत्ति में ये कवि एकेश्वरवाद के आधार पर ही चले हैं, जिससे इनकी प्रकृति-योजना में प्रकृतिवादी चेतना-प्रवाह नहीं आ सका है।

व्याप्त सृष्टा

क—यह तो इनकी प्रमुख प्रवृत्ति की बात है, जहाँ तक केवल प्रकृति के प्रति जिज्ञासा का प्रश्न है। परन्तु इस प्रवृत्ति में भी प्रकृति में व्यापक आत्म-भावना का रूप क्रमशः आने लगा है। हिन्दी-कवियों में इस भावना का होना स्वाभाविक है। दुखहरनदास अपनी 'प्रेम-कथा' में प्रकृति में व्याप्त ब्रह्म-भावना को ही प्रस्तुत करते हैं—'शशि सूर्य और दीपक के समान प्रकाशित होने वाले तारों में उसी की ज्योति प्रकाशमान् है। सांसारिक प्रकाश तो देखे और पहिचाने जाते हैं, वह तो ऐसा प्रकाश है जो विश्व में छिपा हुआ व्याप्त हो रहा है।'[1] परन्तु भारतीय साध-

---

३ वही, दो० ३ [illegible] के पंक्तियों में भी यही भावना मिलती है। इन्द्रावती; नूरमुहम्मद; स्तुति खंड में दो० १२ में [illegible] —
"[illegible] मग [illegible] । बिन बिन [illegible] ॥
[illegible] । [illegible] ॥" आदि
४ पद्मा०; जायसी; [illegible]; १४ [illegible], दो० ६

धारा में सृष्टा की कल्पना नवीन नहीं है। आगे कवि इसी प्रवाह में कहता है—'प्रभु, तुमने ही तो रात और दिन, सन्ध्या और प्रातः को रूप दिया है। यह सब शशि, सूर्य दीपक और तारा आदि का प्रकाश तुम्हीं को लेकर तो है। तुम्हारा ही विस्तार पृथ्वी, सागर सरिता के विस्तार में हो रहा है।'[५] परन्तु इन दोनों प्रकार के प्रेमियों के सृष्टा रूप में भेद प्रत्यक्ष है। सूफ़ियों का सृष्टा अपने से अलग सृजन करता है, जब कि स्वतंत्र प्रेमी कवियों का सृष्टा अपनी रचना में परिव्याप्त है। आगे चल कर सूफ़ी कवियों में व्याप्त ईश्वर की भावना का संकेत मिलता है। उसमान अपनी सर्जना का रूप उपस्थित करते हैं,—'उसने पुरुष और नारी का ऐसा चित्र बना दिया, जल पर ऐसा कौन सर्जन कर सकता है। उसने सूर्य, शशि और तारा गणों को प्रकाशमान् किया; कौन है जो ऐसा प्रकाशमान् नग बना सकता है। उसने दृश्यमान् जगत् को काले पीले श्याम तथा लाल आदि अनेक रंगों में प्रकट किया है। जो कुछ वर्णयुक्त रूपमान् है और विश्व में दिखाई देता है, उन सब को रचनेवाला वह स्वयं अदृश्य और अरूप है। अग्नि, पवन, पृथ्वी और पानी (आकाश तत्त्व मुसलमानी दर्शन में स्वीकृत नहीं था) के नाना संयोग उपस्थित हैं; वह सभी में व्याप्त हो रहा है और उसको अलग करने में कौन समर्थ हो सकता है। वह रचयिता प्रकट और गुप्त होकर सर्वत्र में व्याप्त है। उसको प्रकट कहूँ तो प्रकट नहीं है और यदि गुप्त कहूँ तो गुप्त भी नहीं है।'[६] इस चित्र में व्यापक रचयिता के साथ एकात्म की भावना भी मिलती है। इस पर संत-साधकों का प्रभाव प्रकट होता है।

ख—हिन्दी मध्ययुग के धार्मिक काव्य की विभिन्न धाराएँ आगे

---

५ पद्मावती : दुखहरनदास; स्तुति-खंड

६ चित्रावली; उसमान : स्तुति-खंड, दो० १-२

मान कर एक दूसरे से प्रभावित होती रही हैं; क्योंकि एक दूसरे

[illegible]

आदान प्रदान चलता रहा है। नल-दमन का में परम्परा के अनुसार—'कीन्हेसि परथम जो प्रकाशू' से आरम्भ किया गया है; परन्तु इसमें सृष्टि कल्पना विशेष देवी भावना से अधिक प्रभावित है,—

"ज्यों प्रकाश समान समाना वहे जान तिन्ही अनमाना ॥
पै यह चेतन यह जड़ सोना । यह मचोत यह जोत बहुना ॥
जैसे कँवल सुरज मिलि खिलै । पै या को गुन ताह न मिलै ॥
कँवल खिलै कछु सुरज न खिला । औ ताके सुख मिले न मिला ॥
ज्यों चेतन जड़ माह समाना । अनमिल जाइ मिला घर जाना ॥"

इस प्रकार विभिन्न भावनाओं से प्रभावित होकर इन प्रेमी कवि ने प्रकृति की सर्जना का रूप उपस्थित किया है। परन्तु जैसा संके किया गया है इस वर्णना में प्रकृति के प्रति जिज्ञासा अथवा आकर्ष का भाव नहीं है। यह तो ब्रह्म विषयक जिज्ञासा को लेकर ही उपस्थि हुई है।

वातावरण निर्माण में आध्यात्मिक व्यंजना

§ १ प्रेम-काव्यों का आधार कथानक है। इन प्रबन्ध-काव्यों में प्रेमी कवियों ने अपनी साधना के अनुरूप सौन्दर्य की व्यापक योजना से विभिन्न रूपों में प्रेम की अभिव्यक्ति की है। वस्तुतः इन्होंने अपने काव्य के प्रत्येक स्थल में इसी आध्यात्मिक वातावरण को ही उपस्थित किया है। घटना स्थलों के प्रकृति-चित्रण में अलौकिक अतिप्राकृतिक रूपों को प्रस्तुत करके, उसकी चिरंतन भावना और निरंतर क्रियाशीलता से, तथा उसके अनंत सौन्दर्य से आध्यात्मिक वातावरण का निर्माण किया गया है। वस्तुतः प्रकृति के रूप और उसकी क्रियाशीलता में अलौकिक भाव उत्पन्न कर देना स्वयं ही आध्या-

---

७ नल-दमन; ईश-वंदना, १ पृ० १-२

मिकता के निकट पहुँचना है। आधिभौतिक प्रकृति जिन रूप रंगों में उपस्थित होती है और जिन क्रिया-कलापों में गतिशील हो उठती है, वह धार्मिक परावर सत्य और पवित्र भावना के आधार पर ही है।[8] सूफ़ी प्रेमाख्यानों में प्रकृति के माध्यम से आध्यात्मिक सत्य और प्रेम व्यंजना दोनों को प्रस्तुत किया गया है। और इनका ऐसा मिला जुला रूप सामने आता है कि कोई विभाजन की सीमा निश्चित नहीं की जा सकती। जायसी ने सिंहल-द्वीप के वर्णन में अलौकिक भावना के आधार पर ही आध्यात्मिक वातावरण उपस्थित किया है—'जब उस द्वीप के निकट आये तो लगता है स्वर्ग निकट आ गया है। चारों ओर से आम की कुंजों ने आच्छादित कर लिया है। वह पृथ्वी से लेकर आकाश तक छाया हुआ है। सभी वृक्ष मलयागिरि से लाए गए हैं। इस आम की वाड़ी की सघन छाया से जगत् में अंधकार छा गया। समीर सुगंधित है और छाया सुहावनी है। जेठ मास में उसमें जाड़ा लगता है। उसी की छाया से रैन आती है और उसी से समस्त आकाश हरा दिखाई देता है। जो पथिक धूप और कठिनाइयों को सहन कर वहाँ पहुँचता है वह दुःख को भूलकर सुख और विश्राम प्राप्त करता है।'[9] इस वर्णना में अलौकिक वातावरण के द्वारा आध्यात्मिक शांति और आनन्द का संकेत किया गया है। प्रकृति की असीम व्यापकता, निरंतर सघनता, चिरतन स्थिति तथा स्वर्गीय कल्पना आध्यात्मिक वातावरण को प्रस्तुत करने के लिए प्रयुक्त हुए हैं। इसी प्रसंग में कवि ने फल तथा फूलों के नामों के उल्लेख के द्वारा पुष्पवारी का वर्णन किया है (दो० ४, १०)। परन्तु इस समस्त वर्णना में फूलने फलने की व्यंजना में एक चिरतन उल्लास तथा विश्राम की भावना सन्निहित है जिसे

८ नेचुरल ऐंड सुपरनेचुरल; [illegible] १०८

९ पद्मा०; [illegible] सिंहल-द्वीप वर्णन खंड, दो० ३

केलि कदम नव मल्लिका, फूल चंपा सुरतान।
छ ऋतु बारह मास तँह, ऋतु वसंत अस्थान ॥"[१२]

क—इन सूफी प्रेम-काव्यों के साथ ही स्वतंत्र प्रेम-काव्यों में भी प्रकृति के उल्लास और अलौकिक सौन्दर्य के द्वारा प्रेम की आध्यात्मिक व्यंजना की गई है। प्रेम की अनुभूति अपने चरम क्षणों की व्यापकता और गम्भीरता में आध्यात्मिक सीमा में प्रवेश करती है। इसके अतिरिक्त इस परम्परा के कवियों ने एक दूसरे का अनुसरण भी किया है। यहाँ इस बात का उल्लेख करना भी आवश्यक है कि प्रकृतिवादी रहस्यवाद तथा इन कवियों की भावना में समता है, पर इनकी विभिन्नता उससे अधिक लगती है। प्रकृतिवादी रहस्यवादी भी अपनी अभिव्यक्ति में प्रकृति के अलौकिक सौन्दर्य और उसमें प्रतिबिंबित उल्लास का आश्रय लेता है। पर प्रकृतिवादी इसी के माध्यम से अज्ञात सत्ता की ओर आकर्षित होता है, और प्रेमी का आराध्य प्रत्यक्ष होकर इस प्रकृति सौन्दर्य के माध्यम को स्वीकार करता है। दुखहरन इसी प्रकार की व्यंजना करते हैं—'विशाल वृक्ष सदा ही फलनेवाले हैं, सभी घने और हरे भरे हैं। इनकी जड़ें पाताल में और शाखाएँ आकाश में छाई हुई हैं।...... फिर इस बाग में एक फुलवारी है जो संसार को प्रकाशित कर रही है। पीले, श्वेत, श्याम, रक्ताभ आदि नाना भाँति के फूल जिसमें सुगन्धित हो रहे हैं..... सभी भाँति के फूल विभिन्न रंगों में छाए हुए हैं, जिनको देखकर हृदय में उमंग उठती है। इनकी गंध का वर्णन अकथनीय है, जो गंध लेता है वही मोहित हो जाता है। इस फुलवारी में उन्मुक्त भ्रमर सुगन्ध लेता है और गुंजारता है। इसकी गंध तो पवन के लिए आश्रय है। जो इसके निकट जाता है, वह गंध के लगने से सुगन्धित तेल हो जाता है। इस अलौकिक फुलवारी में सभी

सत्य और प्रेम

१२ वही; वही : दो० १५९

फूल सभी ऋतुओं में और सभी मासों में फूलते हैं और जिन फूलों की सुगन्ध से संसार के पुष्प सुगन्धित हो रहे हैं।'[13] इस चित्र में रंग-रूप-गंध आदि की अलौकिक योजना के साथ चिरंतन सौन्दर्य तथा अनंत मिलन की भावना भी सन्निहित है, जो आध्यात्मिक सत्य के साथ प्रेम साधना का योग है। सूफी साधना में प्रेम की व्यंजना आध्यात्मिक सत्य हो जाती है। इस कारण स्वतंत्र प्रेमियों तथा इनमें इस सीमा पर विशेष भेद नहीं है। कभी प्रेमी कवि प्रत्यक्ष रूप से सत्य तथा प्रेम के संकेत देने लगता है—

"नगर निकट फूली फुलवारी। धन माली जिन सींच संवारी।
जिन सब पुहुप प्रेम अनुरागी। वैरागी उपदेस विरागी।
कहै सिंगार सिंगार हार तन लागा। का सिंगार भर आकहि हारा।
लाला कहै लाल तन रांगा। पेम दाह हर दाग बिहूना॥"[14]

यहाँ प्रकृति-स्वयं आध्यात्मिक संदेश देती है। नूर मोहम्मद आध्यात्मिक सत्य की कल्पना फुलवारी के रूप में करते हैं, यहाँ फुलवारी अप्रस्तुत रूप में वर्णित है, प्रस्तुत अध्यात्म ही है। कवि का कहना है—'माली ने कृपाकर इस फुलवारी का साथ दिया है। ऐसे कठिन अवसर पर कोई भी साथ नहीं हुआ केवल फुलवारी ही हाथ रही। इसके अनंत सौन्दर्य में यह अपूर्व रूप छिपा नहीं रह सकता, अपने आप प्रकट होने का कारण उपस्थित कर देता है। जो इस फुलवारी के रूप और रस से प्रेम स्थापित करता है, वह प्रिय का दर्शन प्राप्त करता है। सृष्टि-कर्त्ता इस सौन्दर्य में छिपा नहीं रहता वह स्वयं ही प्रतिभात होना चाहता है। इस सर्जन के द्वारा ही तो वह पहिचाना जाता है। मनुष्य पुष्प है और उसका प्रेम ही रस है, उसी को धारण कर वह

१३ पुरान०; दुरा० : अनूप्रह (?) सं० ११।
१४ नूर०; फुलवारी-वर्णन से।

सर्वत्र प्रकट हुआ है।[15] आगे हम देखेंगे कि यह प्रकृति-रूप, परिव्याप्त सौन्दर्य के आधार पर तथा स्वर्गीय सौन्दर्य के प्रतिबिंब को ग्रहण कर किस प्रकार सूफी प्रेम-साधना की आध्यात्मिक-व्यंजना प्रस्तुत करता है। यहाँ वातावरण-रूप में प्रकृति किस प्रकार आध्यात्मिक संकेत करती है, इसी की विवेचना की गई है।

६४—प्रेमी साधकों ने सरोवर आदि के वर्णनों में अलौकिक वातावरण प्रस्तुत किया है। परन्तु इन आध्यात्मिक संकेतों में निर्मलता और सौन्दर्य का भाव अधिक है। जायसी 'मान-सरोवर' के व्यापक सौन्दर्य के विषय में कहते हैं—

अलौकिक सौन्दर्य (रूपात्मक)

"मानसरोदक बरनौं काहा। भरा समुद अस अति अवगाहा।
पानी मोति अस निरमल तासू। अमृत आनि कपूर सुवासू।
फूला कँवल रहा होइ राता। सहस सहस पंखुरिन कर छाता।
उलथहि सीप मोति उतिराहीं। चुनहिं हंस औ केलि कराहीं।
ऊपर पाल चहूँ दिसि अमृत-फल सब रूख।
देखि रूप सरवर कै गै पियास और भूख।।"[16]

प्रकृति की इस अलौकिक योजना में आध्यात्मिक सौन्दर्य का रूप व्यक्त होता है, और इस प्रकार प्रेमी-साधक अपने प्रेम के आलंबन के लिए चिरंतन सौन्दर्य की स्थापना करता है। उसमान भी सरोवर के सौन्दर्य वर्णन में अपने को असमर्थ पाते हैं। जिसके निकट चित्रावली रहती है वह सरोवर अपने विस्तार में स्वर्ग हो जाता है और यही सुख का समूह है। मानव क्या देवता भी उस पर मुग्ध हैं। इस सौन्दर्य-रूप के साथ चित्रावली के सम्पर्क का उल्लेख करके कवि उस सौन्दर्य की प्रतिछाया के निकट पहुँचा देता है जिसका उल्लेख हम

---

१५ सूर०; सूर० : १ स्तुति-खंड, दो १७-१८
१६ ग्रं'या०; जायसी : पद०, २ सिंहल-द्वीप वर्णन खंड, दो० २

आगे करेंगे।[१७] इसमें अलौकिक सौन्दर्य का रूप ही अधिक
दुखहरनदास ने सरोवर-वर्णन में केवल अलौकिकता प्रस्तुत की है,
के आधार पर प्रेम का संकेत लगाया जा सकता है—

"तेहि सरवर महँ अंबुज फूला। गुंजहि बहुतौ मधुकर भूला।
सहस पाखुरीक अंबुज होई। छुवै न पावै ताकहँ कोई।
फूलि रहे कोइ कवल बास उठै महकार।
निरमल जलदरपन सम माँडा उचपहार॥"[१८]

'नलदमन' का कवि अपनी प्रवृत्ति के अनुसार सरोवर-वर्णन में भी प्रेम का उल्लेख प्रकृति के माध्यम से प्रस्तुत करता है। उसके सामने आध्यात्मिक प्रेम का स्वरूप प्रकृति से अधिक प्रत्यक्ष है, और वह प्रकृति-वर्णन के माध्यम से उसी को उपस्थित करता है—'अल. पूर्ण सरोवर का वर्णन नहीं किया जाता, जो प्रेमी को प्रेम सिखाता है, और अपने आप में प्रेम की अवस्थाओं को प्रकट करके दिखाता है। सरोवर का निर्मल जल मोती के समान उज्ज्वल है, प्रेम ज्योति जिस प्रकार हृदय में समाई रहती है। सरोवर की गहराई का अनुमान लगाना कठिन है, मन का प्रेम रहस्य मन में ही छिपा रहता है। यद्यपि प्रेम की हिल्लोर उठती है, उल्लास के भाव से अश्रु रुकने नहीं पाता। कमल लाल है, प्रेम के कारण नेत्र लाल हो रहे हैं और पुतली के रूप में भ्रमर प्रिय मस्त गुंजारते हैं। दो ही नेत्र हैं, फिर अनन्त कमलों का वर्णन कौन करेगा। प्रिय दर्शन की लालसा

१७ चित्रा०; छन्द० १ ११ [illegible], छा० १५४
"[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]"
१८ दुख०; दुख० : सरवर-वर्णन से।

से सरोवर नेत्रमय हो उठा है। फिर उस सरोवर के किनारे जो खग रहते हैं, वे सभी ज्ञानवान् हैं—उनके पत्रों में जल प्रवेश नहीं करता, यद्यपि वे सदा जल में ही रहते हैं।'[१९] इस वर्णन में कहीं तो समासोक्ति पद्धति से और कहीं रूपात्मक मानवीकरण से प्रेम की व्यञ्जना की गई है।

क—यहाँ तक प्रकृति-चित्रण में अलौकिक रूप के माध्यम से आध्यात्मिक व्यञ्जना का उल्लेख हुआ है। परन्तु प्रकृति स्वयं अपनी क्रियाशीलता में, उल्लास की भावना में मानव के समानान्तर लगती है। प्रथम भाग के द्वितीय प्रकरण में इसकी व्याख्या की गई है। इस सीमा पर मानव के समानान्तर प्रकृति आध्यात्मिक भावना से व्याप्त जान पड़ती है। अभी तक सत्य की बात ही अधिक कही गई है। इस सीमा में प्रकृति की क्रियाशीलता अपने उल्लास के साथ आध्यात्मिक रहस्य का रूप बन जाती है। भौतिक प्रकृति अधिभौतिक की उल्लास-भावना के रूप में आध्यात्मिक हो उठती है।[२०] जायसी सरोवर का वर्णन नहीं कर पा रहे हैं—'उसकी सीमाओं का कुछ वार पार तो है नहीं। उसमें पुष्पित श्वेत कुमुद उज्ज्वल चमकते हैं, मानो तारों से खचित आकाश हो। उसमें चकई चकवा नाना प्रकार से क्रीड़ा करते हैं—रात्रि में उनका वियोग रहता है और दिन में वे मिल जाते हैं। उल्लास में सारस कुररना है, उनका युग्म जीवन-मरण में साथ रहता है। अन्य अनेक पक्षी बोलते हैं, केवल मीन ही मौन भाव से जल में व्याप्त हो रही है।'[२१] इस चित्र में पक्षी अपने क्रीड़ात्मक उल्लास में आध्यात्मिक प्रेम का व्यक्त करते हैं। 'चित्रावली' में भी कवि इसी प्रकार की भाव-व्यञ्जना सरोवर-

[illegible]

१९ पद्मा०; सरोवर-वर्णन खं०।

२० मेकुल्फ सिख रिलीजन; पृ० २२६

२१ पद्मा०; जायसी: मा० १ सिंहलद्वीप-वर्णन, दो० ९

वर्णन में करता है—'सरोवर में कमलिनियाँ पुष्पित हो रही हैं। जिनको देखकर दुःख दूर हो जाता है। श्वेत और लाल कमल फूले हुए हैं और भ्रमर रसमत्त होकर मकरन्द पीते हैं। दिन भर कमल और कुमुद फूला रहता है; रात भर चाँद और तारे विस्मृत होकर उस सौन्दर्य को देखते हैं। कमलों के तोड़ने से जो केसर गिर जाता है, उसकी गंध से पानी सुवासित है। हंस के झुण्ड चारों ओर क्रीड़ा करते हुए बोलते हैं; चकई और चकवाक के जोड़ा तैरते हैं। जिसको याद करते ही हृदय शीतल हो जाता है, उसी जल को चातक आकर पीता है। जितने प्रकार के जल-पक्षी होते हैं, वे सभी वहाँ क्रीड़ा करते हुए अत्यन्त सुशोभित हुए। आनन्द और उल्लास के साथ सभी क्रीड़ा करते हैं। भ्रमर कमलों पर गुंजारते हैं। वहाँ रात-दिन आनन्द होता है जिसे देख कर नेत्र शीतल होते हैं।'[२१] इस प्रकृति-रूप में जो पुष्पित, सुगन्धित, क्रीड़ात्मक तथा उल्लासमयी भावना है, वह आध्यात्मिक सत्य का प्रतीक है। अन्य वर्णनों में प्रेमी कवियों ने पक्षियों की विविध क्रीड़ाओं तथा उनके स्वरों की योजना से उल्लास की भावना में आध्यात्मिक प्रेम-साधना को व्यक्त किया है। इसमें भी जायसी ने अधिक व्यक्त रूप से प्रेम-भावना का संकेत दिया है, क्योंकि पक्षियों की बोली का अर्थ व्यक्त रूप से लगाया है—'वहाँ अनेक भाषा बोलनेवाले अनेक पक्षी रहते हैं, जो अपनी शाखाओं को देख कर उल्लासित हो रहे हैं। प्रातःकाल फुलसुँघनी चिड़िया बोलती है; पंडुक भी कहता है—'एक तू ही है'।...पपीहा 'पी कहाँ है' पुकार उठता है; गडुरी 'तू ही है' कहती है। कोयल कुहुक कर अपने भावों को व्यक्त करती है। भ्रमर अपनी विचित्र भाषा में गुंजारता है।' आगे कवि स्पष्ट कर देता है—'जितने पक्षी हैं, सभी इस बाग में आ बैठे हैं, और अपनी भाषा में ईश का नाम ले रहे

२१ चित्रा०, उत्त० : १२ परेवा-खंड, दो० १५५

है।[23] इस वर्णना में जायसी ने जहाँ तक सम्भव हुआ है पक्षी के स्वर से ही अभिव्यक्ति की है। उसमान पक्षियों के कोलाहल में सन्निहित उल्लास तथा आनन्द से यह संकेत देते हैं। इन्होंने किसी प्रकार का आरोप नहीं किया है, वरन् नाद-ध्वनियों में जो स्वाभाविक उल्लास है उसी का आश्रय लिया है—

"कोकिल निकर अमिरित बोलहि। कुंज कुंज गुंजरत बन डोलहि।
खंजन जहँ तहँ करहि देखावँ। दहिअल मधुर बचन अति भावँ।
मोर मोरनी निरतहिं बहुताई। ठौर ठौर छबि बहुत सोहाई।
चलहि तरहिं तहँ ठमुकि परेवा। पडुक बोलहि मृदु सुख देवा।"[24]

प्रेम संबन्धी व्यंजना

ग—जायसी की शैली में 'नलदमन' में आध्यात्मिक भावना उपस्थित की गई है। अभी तक प्रकृति में व्यक्त होती सत्ता के प्रति उल्लास की भावना ही व्यंजित हुई है। परन्तु 'नलदमन' में प्रेम-व्यंजना पर अधिक बल दिया गया है यद्यपि इसमें उपदेशात्मक प्रवृत्ति ही अधिक है—'शाखाओं पर पक्षी एकत्रित होकर बैठे हैं, सभी प्रेम से युक्त भाषा में बोलते हैं। पंडुक प्रेम व्यथा से रोता है और जग में 'एक तू ही है' ऐसी रटना लगाए है। चातक अपने प्रियतम में लौ लगाए है और रात-दिन 'पीउ पीउ' कूकता रहता है। महर पक्षी प्रेम-दाह से दग्ध हो रहा है और पीड़ा से नित्य 'दही' पुकारता है। मोर भी कठिन दुःख देनेवाले प्रेम के कारण दिन रात 'मेउँ मेउँ' पुकारता है। कोकिल विरह में जलकर काली हो गई है और सारे दिन 'कुहू कुहू' पुकारती रहती है।'[25] इसमें कवि ने आध्यात्मिक व्यंजना में प्रेम के उल्लास को ही व्यक्त किया है। लेकिन अपनी कवित्व प्रतिभा

२३ ग्रं०ग्रं०; जायसी : पद०, २ सिंहलद्वीप-वर्णन; दो० ५
२४ चित्रा०, उस० : ११ पोस्त-खंड, दो० १५७
२५ नल० : उपवन-वर्णन से

के साथ जायसी रहस्यवादी आध्यात्म को प्रस्तुत करने में भी सर्वश्रेष्ठ हैं। इनमें प्रेम का अलौकिक तथा रहस्यवादी रूप अधिक मिलता है। कहीं कहीं जायसी ने आध्यात्मिक प्रेम से वातावरण को उद्भासित कर दिया है—और ऐसे स्थलों पर जैसा कहा गया है प्रकृति का अतिप्राकृत रूप अलौकिक रंग-रूपों, नाद-ध्वनियों में उल्लास की भावना को व्यंजित करता हुआ उपस्थित होता है। जायसी के चित्र में केवल प्रेम की व्यंजना नहीं वरन् प्रेमानुभूति के चरम क्षणों की अभिव्यक्ति है। रतनसेन की सिंहल-यात्रा समाप्त होने को है; साधक के पथ की समस्त बाधाएँ समाप्त हो चुकी हैं। अंत में सिंहल-द्वीप के पास का मानसरोवर आ जाता है जो प्रेम साधना के चरम-स्थल के निकट की स्थिति है। प्रकृति के शांत तथा उल्लसित वातावरण से प्रेमानुभूति की अभिव्यक्ति होती है—

"देखि मानसर रूप सोहावा। हिय हुलास पुरइन होइ छावा।
गा अँधियार, रैनि-मसि छूटी। भा भिनसार किरिन-रवि फूटी।
कँवल बिगस तस बिहँसी देहीं। भौंर दसन होइ कै रस लेहीं।
भौंर जो मनसा मानसर, लीन्ह कँवल रस आइ।
घुन जो हियावन कै सका, भूर काठ तस खाइ॥"[२६]

इस चित्र में प्रकाश, रूप-रंग, विकास, गुंजार और क्रीड़ा आदि की योजना द्वारा जो अलौकिक रूप उपस्थित किया गया है, वह प्रेम-साधना की चरम-स्थिति का द्योतक है। इस सीमा पर साधक अपने प्रियतम की झलक पाता है। यही सिंहल का दृश्य है जो अपनी चित्रमयता में अलौकिक है। इसमें कवि प्रेमानुभूति को व्यक्त करता है—'आज यह कहाँ का दृश्य सामने दृश्यमान् हो उठा है। पवन सुगन्ध और शीतलता ला रहा है जो शरीर को चंदन के समान शीतल कर रहा है। ऐसा तो शरीर कभी शीतल नहीं हुआ, मानो अग्नि में जले

---

२६ ग्रं'थ'०; जायसी; पद०, १५ सात-समुद्र-खंड दो० १०

हुए को मलय समीर लग रहा हो।···और सामने तो अद्भुत दृश्य है—प्रकाशमान् सूर्य्य निकलता चला आ रहा है और अन्धकार के हट जाने से संसार निर्मल प्रत्यक्ष हो उठा है। आगे मेघ सा कुछ उठ रहा है और उसमें बिजली चमक कर आकाश में लगती है। उसी मेघ के ऊपर मानों चन्द्रमा प्रकाशित हो रहा है और यह चन्द्रमा ताराओं से युक्त है। और भी अनेक नक्षत्र चारों ओर प्रकाश कर रहे हैं—स्थान-स्थान पर दीपक ऐसे जल रहे हैं।···दक्षिण दिशा में स्वर्ण पर्वत दिखाई देता है···और वसंत ऋतु में जैसी सुगन्ध आती है, वैसी ही गन्ध संसार में छायी है।[२७] इस आलंकारिक वर्णना में कवि ने अलौकिक के सहारे आध्यात्मिक साधना का चरम प्रेम की रहस्यानुभूति को व्यक्त किया है।

ग—प्रथम भाग के पंचम प्रकरण में मानवीय जीवन और भावना का प्रतिबिंब ग्रहण करती हुई प्रकृति का उल्लेख किया गया है।

प्रतिबिंब भाव

इसकी व्यापक भावना में आध्यात्मिक संकेत समान्वित किए जा सकते हैं। इस प्रकार का सफल प्रयोग जायसी ही कर सके हैं। प्रकृति जब मानवीय भावों को प्रतिबिंबित करती उपस्थित होती है: उस समय आध्यात्मिक प्रेम की भावना उसके व्यापक विस्तार में प्रतिघटित हो जाती है। उस समय गिरगिट अपनी विरह-वेदना में रंगों को बदलता जान पड़ता है। मयूर विरह-वेदना के पाश में बन्दी लगता है और उसी बन्धन के कारण वह उड़ भी नहीं पाता। पंडुक, तोता आदि के गले में उसी प्रेम का चिह्न है। इस प्रकार प्रकृति मानवीय प्रेम-विरह के प्रतिबिंब रूप में आध्यात्मिक प्रेम की पृष्ठ-भूमि बन जाती है।[२८] प्रकृतिवादी रहस्यवादी

---

२७ वही० : वही०; १६ सिंहलद्वीप-खंड, दो० १

२८ वही० : वही०; ९ राजा-सुआ-संवाद-खंड, दो० ६

'पेम सुनत मन भूल न राजा। कठिन पेम सिर देइ तौ छाजा।'

प्रतीक नारी के सौन्दर्य से यह व्यापक सौन्दर्य प्रकृति में फैल कर आध्यात्मिक संकेत ग्रहण करता है। नारी इनकी साधना का प्रतीक है; उसका सौन्दर्य, आदर्श सौन्दर्य ही अपने चरम पर अलौकिक होकर व्यापक व्यञ्जनात्मक सौन्दर्य हो जाता है। यही कारण है कि इन कवियों ने नख-शिख के रूप में जो सौन्दर्य-वर्णन किया है, वह व्यापक होकर प्रकृति के विस्तार में खो जाता है। उससे न तो कोई रूप ही बनता है और न कोई क्रमिक स्वरूप ही उपस्थित होता है। प्रकृतिवादी साधक प्रकृति के विस्तार में अज्ञात के सौन्दर्य को फैला देखता है; वह उसी के सौन्दर्य से किसी सत्ता का आभास पाता है। और सूफ़ी साधक अपने प्रतीक के सौन्दर्य का उसी सौन्दर्य में प्रतिघटित देखता है। ईरान के सूफ़ी प्रेमियों ने प्रकृति के सौन्दर्य में इसी सौन्दर्य की अभिव्यक्ति पाई थी।[११] यही सौन्दर्य की व्यापक भावना, उसका प्रतिबिंबित भाव, तथा उसकी (साधक रूप) समस्त सृष्टि पर प्रभावशीलता, हमको हिन्दी के सूफ़ी प्रेमी कवियों के काव्य में विस्तार से मिलती है। यह सौन्दर्य इनकी प्रेम-भावना का आलम्बन है। प्रकृति का सौन्दर्य प्रियतम का रूप है या उसी के सम्पर्क से उद्भासित है। सौन्दर्य की स्थापना के साथ सूफ़ी साधक उसके प्रभावों का उल्लेख अधिक करता है, क्योंकि उसकी प्रेम वेदना में इसी का अधिक स्थान है।

क—सूफ़ी कवि जब सौन्दर्य की भावात्मक कल्पना करता है, उस समय प्रकृति की दृश्यात्मकता को सामने रख कर उसे व्यक्त करना चाहता है। वह कभी प्रकृति के सौन्दर्य को अपने आराध्य (नारी-रूप) के महान् सौन्दर्य का प्रतिबिंब बनाता है और कभी उसकी प्रभात्मक शक्ति का

भावात्मक सौन्दर्य का प्रभाव

११ लेखक के 'ईरानी सूफ़ियों की प्रेम-साधना में प्रकृति के रूप' नामक लेख में इस विषय की विस्तृत विवेचना की गई है। (विश्ववाणी; जून १९४०)

जाती है।[३१] इस चित्र में व्यापक प्रभावशीलता का रूप है। नूर मोहम्मद ने नख शिख वर्णन को अधिक विस्तार नहीं दिया है, परन्तु उसमें रूप सौन्दर्य का एक मौलिक अर्थ सन्निहित है और यह सौन्दर्य के प्रभाव के रूप में है। इन्द्रावती में स्वयं सौन्दर्य की चेतना जाग्रत होती है। दर्पण में अपने सौन्दर्य से उसे प्रेम की अनुभूति प्राप्त होने लगती है। आगे कवि कहता है 'यह सौन्दर्य की चेतना ही है जो प्रेम है और अपने ही सौन्दर्य द्वारा प्रिय-प्रेम की अनुभूति के बीच कोई नहीं है। यह प्रेम की व्याप्ति ही सौन्दर्य-भावना है जो प्रिय का ही रूप है, उसी की अज्ञात स्मृति है।[३२] इस प्रकार अव्यक्त भावना सौन्दर्य का संकेत प्राप्त करती है। इसी प्रभावशील सौन्दर्य का रूप जायसी मानसरोवर के प्रसंग में उपस्थित करते हैं। 'इस सौन्दर्य के स्पर्श मात्र से मानसर निर्मल हो गया और उसके दर्शन मात्र से रूपवान् हो उठा। उसकी मलय समीर को पाकर सरोवर का ताप शांत हो गया।' इसके आगे प्रकृति के समस्त सौन्दर्य को कवि इसी आध्यात्मिक सौन्दर्य के प्रतिबिंब रूप में देखता है—'उस चन्द्र लेखा को देखकर ही सरोवर के कुमुद विकसित हो उठे. उस सौन्दर्य के प्रकाश में तो जिसने जहाँ देखा वहीं विलीन हो गया। उस सौन्दर्य में प्रतिबिंबित होकर जो जैसा चाहता है सौन्दर्य प्राप्त करता है। सारा सरोवर उसी के सौन्दर्य से व्याप्त हो उठा है उसके नयनों

---

३१ जिय०; पद०: ११ जिसावलकोन-खंड, दो० १३१ और १२ चित्र-भेवन-खंड, दो० १३२

३२ इन्द्रा०; नूर०: ९ पाती-खंड, दो० ७-८,—

"रूप समुद्र भई यह प्यारी। ध्वज सो प्रेम पर निर मारी।
तसों सेन लहर कठिनारी। अकुल भै मन बीच सयना।
कोऊ नाही बीच मो, अपने रूप लें मान।
अपनो चित्र चितेरा, देखि अदर अकम न॥"

में, आध्यात्मिक चमत्कार की अलौकिक सीमाओं में, रूप भरकर भी रूप नहीं पाता; आकार धारण करके भी कोई प्रत्यक्ष आकार सामने नहीं उपस्थित कर पाता। यह बात हम संक्षिप्त रूप चित्रों और विस्तृत नख शिख वर्णनों में देखेंगे। इन समस्त रूप के संकेतों में प्रकृति उसका प्रतिबिंब ग्रहण करती है। प्रकृति-जगत् उसी असीम और चरम सौन्दर्य की छाया है; उसी के प्रभाव से समग्र विश्व आकर्षित हो उठता है। पद्मावती यौवन में प्रवेश कर रही है। जायसी उस सौन्दर्य की कल्पना करते हुए उसके प्रभाव और प्रकृति पर उसके प्रतिबिंब का उल्लेख करते हैं—'विधि ने उसको अत्यन्त कलात्मक ढंग से रचा है। उसके शरीर की गंध से संसार व्याप्त है। भ्रमर चारों ओर से उसे घेरे हुए हैं। वेनी नागिन मलयागिरि में प्रवेश कर रही है...उस पद्मनी के रूप को देख कर संसार ही मुग्ध हो उठा है। नेत्र आकाश के विस्तार में फैलकर खोजते हैं, पर संसार में कोई नहीं दिखाई देता।'[३५] यहाँ उत्प्रेक्षाओं को व्यक्त न करके कवि सौन्दर्य को प्रकृति के व्यापक माध्यम से व्यंजित करता हुआ, उसके प्रतिबिंब के साथ प्रभाव का संकेत भी करता चलता है। इस अलौकिक सौन्दर्य में व्यक्त रूप तथा आकार नहीं है सूफ़ी साधक आध्यात्मिक प्रियतमा के सौन्दर्य को सीमाओं में बाँध भी कैसे सकता। उसमान चित्रावली के रूप की बात कहते हैं, उसमें किंचित शरीर के साथ शृंगार का वर्णन मिल गया है। परन्तु न तो शरीर में आकार है और न शृंगार में रंग-रूप; इसमें केवल चमत्कार की अलौकिकता व्यापक प्रभाव लेकर उपस्थित हुई है। चित्रावली दर्शन के लिए झरोखे पर आती है—'उसके शरीर पर बहुमूल्य चीर है, मानों लहरें लेता हुआ सागर चंचल हो रहा हो। मुख के दिव्य प्रकाश को देखकर चकोर चकित रह गया, मानों चन्द्रमा ने प्रकाश किया। माँग सुन्दर मोतियों से युक्त है,

---

३५ ग्रंथा०; पदमावती : पद०, २ जन्म-खंड, दो० ६

नक्षत्रमालाओं ने मानो शशि को आकर प्रणाम किया है।...गरदन में मुक्त-माला है, मानो देव-सरि सुमेरु पर गिरी है।"[३९] इसमें व्यक्त उत्प्रेक्षाओं के द्वारा जो चमत्कृत सौन्दर्य की योजना हुई है, वह भी आध्यात्मिक प्रभावशील सौन्दर्य का रूप है। नूर मोहम्मद नख-शिख वर्णन का रूप संकेत में समाप्त कर देते हैं। वे रूप साधारण रेखाओं के सहारे दिव्य-भावना को प्रस्तुत करते हैं—

"भरना ता मुख मान को, मनमाँ रहा समाइ।
वृही लोचन पूतरी, आँसू हगमो जाइ॥
धन का वदन सुरुज की चाँदू। अलकावर नागिन की फाँदू।
नैना मृग कि है मतवारी। की चचल खंजन कजरारी।"[४०]

एक स्थान पर नूर मोहम्मद भावात्मक सौन्दर्य को प्रकृति में एक रूप करके व्यक्त करते हैं—'इन्द्रावती का मुख पुष्प है तो उसके कपोल कली हैं, उसकी छवि और शोभा निमग्न है। आश्चर्य है! इस शील भावना को लेकर कली के समान है। पुष्प है, पर विकसन-पूर्ण विकास की भावना विद्यमान है। कली है, परन्तु उसमें और उसका रूप फुलवारी की शोभा है।'[४१] यहाँ उसमान आध्या-त्मिक सौन्दर्य की व्यंजना करते हैं और दर्शित सौन्दर्य ही आध्या-त्मिक प्रकाश है। उसमान कुँअर की चित्रावली की याद फुलवारी के रूप में दिखाते हैं और उस समय फूल आदि में चित्रावली का ही प्रतिबिम्ब हो रहा है। पर यह रूप स्मृति ही दिखाता है—

"जूही फूल दिष्टि भरि हेरा। लागे भाव चित्रावली केरा।
कला मास फूलन पर हेरी। होइ सुरति अलकावलि केरी।

---

३९ चित्रा० ख० : १० दामन.६८, दो० १०१
४० इन्द्रा० नूर० : नखशिख, दो० १-४
४१ वही; मलिन-खंड, दो० २

जाहि होइ चित की लगन, मूरख सों सौं दूरि।
जान सुजान चहूँ दिसि, वोहि रहा भरि पूरि॥"[३१]

वस्तुतः सूफ़ी प्रेमी प्रकृतिवादी रहस्यवादियों की भाँति ज्ञात प्रकृति से अज्ञात की ओर नहीं बढ़ते; वे तो उस अज्ञात को प्रकृति में प्रतिबिंबित देखते हैं। इसी कारण उनमें प्रकृति रूपक अधिक दूर नहीं चल पाते, उनका आराध्य व्यक्त हो उठता है।

ग—ऊपर के रूप-चित्रों के समान वे चित्र भी हैं जिनकी सौन्दर्य्यात्मक व्याप्ति में प्रकृति केवल प्रभावित ही नहीं वरन् मुग्ध तथा विमोहित लगती है। यहाँ रूप सौन्दर्य्य के समस्त प्रसंग में उपमानों की योजना में रूप के ही प्रकृति-चित्रों का उल्लेख किया गया है। वस्तुतः यह समस्त-योजना साधारण आलंकारिक अर्थ में नहीं मानी जा सकती, इसी कारण आध्यात्मिक व्यंजना में इसको प्रकृति-रूपों में स्वीकार किया गया है। प्रकृति की अप्रस्तुत-योजना को इन काव्यों में क्यों प्रमुखता मिली इसकी ओर कई बार संकेत किया गया है। जायसी पद्मावती के सौन्दर्य्य के साथ प्रकृति का विमुग्ध रूप प्रस्तुत करते हैं—'सरोवर के निकट पद्मावती आई, उसने अपना जूड़ा खोलकर केशमुक्त कर दिए। मुख चंद्रमा है—शरीर में मलयागिरि की सुगन्ध आती है और उसको चारों ओर से नागनियों ने छा लिया है।' कवि उत्प्रेक्षाओं के सहारे सौन्दर्य्य के प्रभाव की व्यंजना भी करता है—'बादल घुमड़ कर छा गए—और संसार पर उसकी छाया पड़ गई। आश्चर्य! इस के समक्ष चन्द्र की शरण राहु ले रहा है। प्रकाशमान् सौन्दर्य्य के सामने सूर्य की कला छिप गई। नक्षत्रमालिका को लेकर चन्द्रमा उदित हुआ है। उसको देखकर चकोर अपने को भूल उठा और एकाग्र हो गया।' उपमानों की रूप कल्पना के बाद कवि प्रकृति को प्रत्यक्ष

सौन्दर्य से मुग्ध और विमोहित प्रकृति

३१ चित्रा०; पद्म० : २५ इस्ती-खंड, दो० ३१५

आनन्दोल्लास में मग्न देखना है—

"सरवर रूप विमोहा हिए हिलोरहि लेइ ।
पाँव छुवै मकु पावौं, एहि मिसि लहरहि देइ ॥"

प्रकृति के उल्लास को कवि और भी व्यक्त करता है। अनन्त सौन्दर्य के सामने जैसे प्रकृति सौन्दर्य चचल और विमुग्ध हो उठा है। यहाँ चकई के रूप में प्रकृति ही मुग्ध और चकित है।[४०] इस प्रकार का चित्र उसमान ने 'सरोवर-खंड' में उपस्थित किया है। उस में सकेतात्मक रेखाओं से प्रकृति-सौन्दर्य में प्रभाव के साथ मुग्ध भाव भी सन्निहित है। चित्रावली अपनी सखियों के साथ सरोवर में प्रवेश करती है—'सभी कुमारियाँ स्वर्ण वल्लरियों के रूप में फैल गईं, मानो कमलिनीयाँ तोड़कर जल में डाल दी गई हैं। वे मानो चंद्रमा के साथ स्वर्ग की तारिकाएँ हैं और वे नभ में क्रीड़ा करती हुई सुशोभित हैं। हंस उनकी शोभा को देख सरोवर छोड़कर चले गए। कच रूपी विषधर ने सरोवर को डस लिया है; उस विष को उतारने की जड़ी तो मंत्र जाननेवाले के पास है। उस चित्रावली के तन शिख से उठने वाली सौन्दर्य की लहर सरोवर के समस्त विस्तार में फैल गई है।'[४१] यहाँ प्रकृति आध्यात्मिक सौन्दर्य से मुग्ध ही नहीं वरन् विमोहित हो उठी है। नूर मोहम्मद ने 'नहान खंड' में इसी प्रकार की व्यंजना की है, परन्तु उनकी प्रवृत्ति उपदेशात्मक अधिक है। इस सौन्दर्य की कल्पना के साथ प्रकृति में मुग्ध होने का भाव तो है, पर

४० पद्मा०; ग्रं० ; पद० , ४ मानसरोदक-खंड, दो० ४-५,
"सरवर नहिं समाइ संसारा । चाँद नहाइ पैठ लेइ तारा ।
धनि सो नीर ससि तरई ऊईं । अब कित दीठ कमल औ कुईं ।
चकई बिछुरि पुकारै, कहाँ मिलौं हो नाह ।
एक चाँद निसि सरग महँ, दिन दूसर जल माँह ॥"
४१ चित्रा०; कला० १० सरोवर-खंड, दो० १०८

उल्लास की भावना अधिक व्यक्त नहीं है—'इन्द्रावती ने अपनी केश राशि मुक्त कर दी, उस समय मेघ की घटा में चद्रमा जैसे प्रकाशित हो उठा। जब रानी ने जल में प्रवेश किया, जल चद्रमा के प्रकाश से उद्भासित हो गया। उसको धारण कर सरोवर आकाश के समान था जिसमें कुमारी चद्रमा के समान सुशोभित हुई। इस प्रकार आकाश में सूर्य्य और जल में चंद्रमा उदित है और कमल तथा कुमुद दोनों पुष्पित हैं, क्योंकि दोनों के प्रिय उनके पास हैं।'[४२]

§६—सूफी साधकों ने इन सांकेतिक रूप चित्रों के अतिरिक्त नख-शिख के विस्तृत वर्णन भी किए हैं। इन शरीर के अंग प्रत्यगों के

नख-शिख योजना वैभव और सम्मोहन

वर्णनों में प्रेमी कवियों ने किसी प्रकार का आकार या व्यक्तिगत रूप उपस्थित करने का प्रयास नहीं किया है। वरन् पिछले जिन सौन्दर्य्य चित्रों का उल्लेख किया गया है, उनमें सौन्दर्य्य की व्यापक व्यजना रहती है। लेकिन नख-शिख के रूप में सौन्दर्य्य की कोई भी कल्पना प्रत्यक्ष नहीं हो पाती। इनमें एक ओर प्रकृति-उपमानों की योजना से आध्यात्मिक वैभव प्रकट होता है, और दूसरी ओर उसका आकर्षण तथा सम्मोहन व्यक्त होता है। वस्तुतः नख शिख वर्णन ऐसी स्थिति में किए गए हैं, जब किसी पर रूप का आकर्षण डालना है। इन समस्त प्रेमाख्यानों में नख-शिख वर्णनों की दो परम्पराएँ हैं। सूफी भाव-धारा से प्रभावित काव्यों में नख शिख वर्णन आध्यात्मिक रूप के आकर्षण और उसकी सम्मोहक शक्ति की व्यंजना को लेकर चलता है इनमें जायसी का अनुसरण अधिक है। यह बात 'चित्रावली', 'इन्द्रावती' तथा 'पुहुप लुलेखा' के वर्णनों से प्रत्यक्ष है। दूसरी परम्परा में स्वतंत्र प्रेमी कवि हैं जिन्होंने प्रेम के आलंबन रूप में नख शिख का वर्णन किया, इनमें दल-दमन काव्य' 'पुहुपावती', 'माधवानल कामकंदला' तथा 'विरहवारीश'

---

४२ इन्द्रा०; नूर० : १२ नहान-खंद, दो० १

आदि का नाम लिया जा सकता है। रूप-सौन्दर्य के लिए इन दोनों परम्पराओं ने प्रकृति उपमानों का प्रयोग एक ही प्रवृत्ति के अनुग पर किया है, इसलिए इनमें विशेष भेद नहीं जान पड़ता। परन्तु सू कवियों में व्यापक प्रभावों को व्यंजित करने की भावना बहुत कम है, सा की रीति काव्य के प्रभाव में चमत्कार उनकी प्रवृत्ति भी है। सूफी कवि में आध्यात्मिक व्यंजना को प्रस्तुत करनेवाले प्रमुख कवि जायसी हैं। अन्य कवियों में अनुसरण अधिक है। 'युसुफ जुलेखा' के कवि निसार में यह अनुकरण सबसे अधिक है।

क—जायसी ने नख शिख के रूप में सौन्दर्य की जो कल्पना की है उसमें प्रकृति-उपमानों की योजना के माध्यम से उस अलौकिक रूप के ऐश्वर्य तथा सम्मोहन के साथ उसके आकर्षण का उल्लेख भी है।—'वेणी के खुलने से स्वर्ग और पाताल दोनों में अंधेरा छा जाता है और अष्टकुल नागों का समूह इन्हीं केशों में उलझा हुआ है। ये केश मानो मलयागिरि पर सर्प लगे हैं।' उसमान ने भी केशों की समानान्तर कल्पना की है—

जायसी की न.-शिख कल्पना

"प्रथमहिं कहौं केस की सोभा। पन्नग जनों मलयागिरि लोभा।
दीरघ विमल पीठि पर परे। लहर लेहिं विषधर विषभरे।"[४३]

रूप-सौन्दर्य का वर्णन करते हुए दुखहरनदास भी केशों का वर्णन इसी प्रकार करते हैं। सौन्दर्य की व्यंजना इनका प्रमुख उद्देश्य है, परन्तु व्यापक प्रभाव का उल्लेख भी मिलता है—

"कारे सघन रही जौ राटा। रैन अमावसी पावस घटा।
परही छुटी जो कबहुँ केसा। रवी छपाइ होई घनी पुपेसा।"[४४]

इसी प्रकार जायसी माँग को 'दीपक मानते हैं जिससे रात्रि में

४३ चित्रा०; उस० : ११ केश-खंड, दो० १७७
४४ पुह०; दुख० : शिखर-खंड ही

भी मार्ग प्रकाशित हो जाता है। मानों कसौटी पर खरे सोने की लकीर बनी हो या घने बादलों में विद्युत की रेखा खिंची हुई हो।......और मस्तक द्वितीया के चन्द्रमा के समान है उसका प्रकाश तो संसार में व्याप्त है—सहस्र किरण भी उसके सामने छिप जाता है।...भौंह तो मानों काल का धनुष है, यह तो वही धनुष है जिससे संहार होता है।...आकाश का इन्द्र-धनुष तो उसी की लज्जा से छिप जाता है।......और नेत्र, वे तो मानो दो मानसरोवर लहरा रहे हैं। वे उछल कर आकाश में लगना चाहते हैं। पवन झकोरा देकर हिलोर देता है और उसे कभी पृथ्वी और कभी स्वर्ग ले आता है। नेत्रों के फिरते ही संसार चलायमान हो जाता है। जब वे फिर जाते हैं तो गगन भी निलय होने लगता है। .....बरुनी, वे तो बाण हैं जिनसे आकाश का नक्षत्र मंडल बेधा हुआ है।......और नासिका उसकी शोभा को कोई भी नहीं पाता; ये पुष्प इसीलिए तो सुगन्धित हैं कि वह उनको अपने पास करले। हे राजा, वे अधर तो ऐसे अमृतमय हैं कि सभी उनकी लालसा करते हैं, सुरंग बिंबा तो लज्जावश बनों में जाकर फलता है। उसके हँसते ही संसार प्रकाशित हो उठता है—ये कमल किसके लिए विकसित हैं और इसका रस कौन भ्रमर लेगा।......दाँतों की प्रकाश किरणों से रवि, शशि प्रकाशमान हैं और रत्न माणिक्य और मोती भी उसी की आभा से उज्ज्वल हैं। स्वभावतः जहाँ वह हँस देती है, वहाँ ज्योति छिटककर फैल जाती है।......जिह्वा से अमृत-वाणी निकलती है जो कोकिल और चातक के स्वर को भी छीन लेती है। वह उस बसंत के बिना नहीं मिलता जिसमें लज्जावश चातक और कोकिल मौन होकर छिप जाते हैं। इस शब्द को जो सुनता है वह माता होकर घूम उठता है।......कपोल पर तिल देखकर लगता है आकाश में ध्रुव स्थित है, आकाश रूपी सौन्दर्य उस पर मुग्ध होकर डूबता उतराता है पर तिल को दृष्टि-पथ से ओझल नहीं होने देता।......कानों में कुंडलों

वर्णना में प्रकृति का प्रयोग जैसा पहले ही संकेत किया गया है, दो प्रकार से हुआ है। पहले तो सौन्दर्य के ऐश्वर्य तथा प्रभाव को दिखाने के लिए उपमाओं तथा उत्प्रेक्षाओं आदि में प्रकृति के उपमानों का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार की प्रकृति-योजना में व्यापक सौन्दर्य और उसके व्यापक प्रभाव की अभिव्यक्ति हो सकी है। इन आलंकारिक प्रयोगों को प्रकृति रूपों में इसलिए माना गया है कि यहाँ अलंकारों का प्रयोग व्यंग्यार्थ में हुआ है। कवि का मुख्य अर्थ इन चित्रों के माध्यम से व्यंजना करना ही है। दूसरे इस सौन्दर्य का प्रकृति पर प्रभाव अत्युक्ति, अतिशयोक्ति आदि के माध्यम से प्रकट किया गया है। कभी कभी सौन्दर्य-योजना प्रकृति के माध्यम से की गई है; पर उसका प्रभाव मानव हृदय पर प्रतिफलित किया गया है। इस प्रकार नख शिख वर्णन के प्रसंग चाहे प्रकृति के माध्यम से रूप और सौन्दर्य की योजना की दृष्टि से हों, अथवा प्रकृति उपमानों के माध्यम से उस सौन्दर्य की प्रभावशीलता के विचार से हों, आध्यात्मिक सौन्दर्य और प्रेम की व्यंजना को लेकर ही चलते हैं।

अन्य कवि और नख-शिख

ख—अन्य कवियों में यही भावना मिलती है, केवल अपनी प्रतिभा के अनुसार उनको सफलता मिल सकी है। परन्तु उनपर जायसी का प्रभाव प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। माँग का उल्लेख करते हुए उसमान कहते हैं—

"सूर किरन करि चालहि धारा। स्याम रैनि कीन्ही दुई धारा।
पंथ अकास विकट जग जाना। को न जाइ तोहि पथ भुलाना।"

इस 'माँग' के सौन्दर्य को प्राप्त करना कठिन है; और फिर—

"बेनी सीस मलयगिरि सीसा। माँग मोति मनि माथें दीसा।
सूर समान कीन्ह विधि दीया। देखि तिमिर कर फाट्यो हीया।
स्याम रैनि महँ दीप सम, जेहि अँजोर जब होइ।
अछत भुअँगम माँहि वसि, दिया मलीन न होइ॥"

"दोउ समुद्र जनु उठहिँ हिलोरा। पल मह चहत जगत सब बोरा।"
कुतुबनदास ने यहाँ आध्यात्मिक व्यंजना का आश्रय नहीं लिया है, परन्तु वे प्रेम की महिमा के साथ सौन्दर्य की व्यापकता का उल्लेख करते हैं—'इन नेत्रों का सौन्दर्य तो ऐसा है, लगता है दोनों नेत्र दो समुद्र हैं जो हिलोर ले रहे हैं, जिसके प्रसार में पृथ्वी, आकाश और सारा विश्व डूबता जा रहा है।' कवि इस सौन्दर्य की कल्पना इस प्रकार पूरी करता है—

"कैदहु चंद सुरुज दोउ, साजि धरो करतार।
मूँदे जग अँधियार होइ, खोलत सब उजियार ॥"[४७]

आगे उसमान परम्परा के अनुसार वर्णन करते हैं—'कपोल पर तिल इस प्रकार शोभा देता है, मानो मधुकर पुष्प पर मोहित हो रहा है।...यदि यह तिल न होता तो प्रकाशहीन स्थिति में कोई किसी को पहिचानता भी नहीं, उसी एक तिल की परछाईं से सबके नेत्रों में प्रकाश है।...कवि नासिका को फूल के समान कहते हैं, पर पुष्प तो इसी लज्जा से पृथ्वी पर च्युत हो जाता है।...और अधर! उनके सामने विद्रुम तो कठोर और फीके हैं, वे तो सजीव, कोमल, रसमय तथा हृदय को कष्ट देनेवाले हैं...बिंबा उसकी तुलना क्या करेगा, वह तो लज्जा से वन में जा छिपा है।...उसके मुख-चन्द्र से संसार प्रकाशमान् है, और अमृत तुल्य अधर प्राणदान करता है।' आधि-भौतिक प्रकृति चित्रों की योजना से उसमान ने दाँतों की कल्पना में आध्यात्मिक संकेत दिए हैं—'देवताओं ने चंद्रमा में क्यारियाँ बनाई हैं, और अमृत सानकर बारी को ठीक किया है। उसमें दाड़िम के बीज लगा गए हैं जिनकी रखवाली काले नाग करते हैं। वे रात-दिन उसके पास रहते हैं, ताकि शुक, पिक या खंजन उनको चुन लें।' कवि सौन्दर्य की इस अतिप्राकृत कल्पना के साथ व्यापक प्रभाव का

---

४७ मृग०; कुत० : सिंगारखंड

उल्लेख भी करता है—

"इक दिन बिहँसी रहसि कै, जोति गई सब छाइ।
अब हूँ सौरत वह चमक, चौंधि चौंधि जिय जाइ॥"

'नल दमन काव्य' में 'दसन' को लेकर सौन्दर्य और प्र सम्बन्धी उत्प्रेक्षाएँ की गई हैं। सौन्दर्य को लेकर, प्रकृति के मा से उसके व्यापक प्रभाव की बात कहना इन कवियों का उद्देश्य है 'दाँत जैसे हीरा छील कर गढ़े गए हों...बोलने ही संसार में प्रक हो जाता है, लगता है जैसे शशि में कौंधा चमक गया हो; और वह हँस कर बोलती है वही चंचल होकर चपला के रूप में च उठता है।' इसी के आगे कवि उत्प्रेक्षा द्वारा प्रकृति पर प्रतिबिं सौन्दर्य की व्यञ्जना करता है,—

"देखि दसन दुति रतन दर, पाहन रहै समाइ।
तिनहिं लाज चपला मनौं, निकसत औ छिपि जाइ॥"[४४]

रसना को लेकर सभी कवियों ने वाणी का उल्लेख किया है, ' उसमें प्रभाव की बात विशेष है। उसमान ने उसे सौन्दर्य रूप दे का प्रयास भी किया है,—

"जेहि भीतर रसना रस भरी। कौंल पाँखुरी अमिरित भरी।
दसन पाँति महँ रही छिपानी। बोलत सो जनु अमिरित बानी।
उकतिन बोलत रतन अमोली। अाँब चढ़ी जनु कोइल बोली।"

परन्तु इसमें अमृत्व तथा जिलाने की बात ही अधिक महत्त्वपूर्ण है उठी है,—

"त्यों-त्यों रसन जियावई, ज्यों ज्यों मारहिं नैन।"

वाणी के प्रसंग में 'नल दमन काव्य' में प्रकृति को लेकर अधिक व्यञ्जक उक्तियाँ हैं—'वाणी की मधुर रसवता को प्राप्त करने के लिए मृग नेत्र के रूप में आये हैं। पिकी लज्जित होकर काली हो गई,

---

[४४] नल०; सिंगार-वर्णन

और उसने नगर को छोड़ कर वन में विश्राम लिया है और—

"स्वाँग बुंद पिय बैन सुन, चातक मिटो पियास।
सुमन भौर होइ उतरी, दुहों फूल तिन्ह बास॥"[४९]

इसी प्रकार उसमान चिबुक को 'अमृत कुण्ड' मानते हैं और उसे कूप के समान कहते हैं, जिसमें पड़ कर मन डूबता उतराता है।' कान और उसमें पद्मिनी हुई तरकी का वर्णन भी इन्हीं सौन्दर्य उपमानों के आधार पर व्यापक आकर्षण को लेकर हुआ है,—

"निसि दिन मुकुता दुई सुनाहीं। खंजन भाँति भाँति जिमि जाहीं।
कंचन खुटिला जान बखाना। गुरु सिर देइ लाग सखिकाना।"

आगे इसी भाव-धारा में कवि वर्णन करता जाता है—'नाचते हुए मोर ने ग्रीवा की समता की, और इसी कारण वह सिर धुन कर रो उठा। शंख भी उसकी समता नहीं कर सका और वह प्रातः संध्या चिल्ला उठता है।...गले में सुन्दर हसुली है, उसकी समानता चन्द्रमा और सूर्य भी नहीं कर पाते, इसीलिए वे राहु की शंका से छिप जाते हैं। और भुजाएँ कमल-नाल हैं जिनके हृदय में छिद्र हैं।' कुच का वर्णन जायसी के समान उसमान ने भी सौन्दर्य में प्रभाव उत्पन्न करके उपस्थित किया है—'बारीक वस्त्र में इस प्रकार झलकते हैं, मानों अन्दर दो कमल की कलियाँ हों, मुकताहलों के बीच में उनकी शोभा इस प्रकार की है, मानों चकवाक के जोड़ बिछुड़ गए हों।' और उनका प्रभाव तो ऐसा है—

"होइ भिखारी सब चहहिं, आइ पसारन हाथ।"

और 'नाभि तो सिंधु में भ्रमर के समान है, जिसमें गिर कर फिर निकलना नहीं होता, खिलती हुई कली सुशोभित हो, और जिसकी गंध आज भी भ्रमर ने प्राप्त न की हो। क्षीर सिन्धु से जब मथनी निकाली गई, तो वह जहाँ पहले खड़ी थी, वही भँवर यह नाभि है—

[४९] वही०; वही०

वातावरण प्रस्तुत किया है। इन वर्णनों में पात्रों के नाम के स्थान पर कवि प्रकृति-रूपों का प्रयोग करता है। इस प्रकार के उपमानों के प्रयोग से स्थितियों और भावों पर आध्यात्मिक प्रकाश आ जाता है। ऐसे प्रयोग सभी कवियों के काव्य में फैले हुए हैं। 'मानसरोवर-खंड' में जायसी पद्मावती के साथ सखियों की कल्पना एक बार 'जनु फूलवारि सबै चलि आई' के रूप में कर लेते हैं; और आगे चित्र को प्रकृति उपमानों के रूप में पूरा करके आध्यात्मिक वातावरण प्रस्तुत करते हैं—

"कोई चंपा कोई कुंद सहेली। कोइ सुकेत करना रस बेली।
कोई कूजा सद बर्ग चमेली। कोई कदम सुरस रस-बेली।
चलीं सबै मालति संग, फूलीं कँवल कुमोद।
बेधि रहे गन गधरब, बास परमदामोद ॥"[५१]

इसी प्रकार की व्यंजना अन्यत्र सखियाँ पद्मावती को संबोधित करने में सन्निहित करती हैं—'हे पद्मनी तू कँवल की कली है; अब तो रात्रि व्यतीत हो गई प्रातः हुआ, तू अब भी अपनी पंखड़ियों को नहीं खोलती जब सूर्य उदित हो गया है।' इस पर 'भानु का नाम सुनते ही कमल विकसित हो गया, भ्रमर ने फिर से मधुर गंध ग्रहण की।'[५२] आगे अन्योक्ति या समासोक्ति के द्वारा कवि प्रेम और आध्यात्मिक व्यंजना को एक साथ उपस्थित करता है—'भ्रमर यदि कमल को प्राप्त करे, तो यह उसकी बड़ी मानता और आशा है। भ्रमर अपने को उत्सर्ग करता है, और कमल हँसकर सुगंध दान देता है।'[५३] इसमें भ्रमर और कमल के आश्रय से एक ओर पद्मावती और रतनसेन का और दूसरी ओर साधक तथा उसकी प्रेमिका का उल्लेख है।

---

५१ मं० आ०; अ० पद्मा० मानसरोवर-खंड, दो० ६

५२ वही; १२

दो १६

इसी प्रकार के प्रयोग उसमान भी स्थान स्थान करते हैं—'ससि समीर कुमुदिन मुँह खोला' या इसी खंड के आगे सखियों का फुलवारी के रूप में कवि वर्णन करता है—

"खेलत सब निसरीं जेहि ओरी। होत बसंत आव तेहि ओरी।
मधुकर फिरहिं पुहुप जनु फूले। देखना देखि रूप सब भूले।"[५४]

इसी प्रकार एक भाव-स्थिति का रूप प्रकृति उपमानों के आश्रय से उपस्थित किया गया है—

"सुनि कै कौंल बिकस होइ गई। मानहुँ साँझ उदय ससि भई।
मधुकर भँवै कंज न रागा। कंजक मन सूरज सौं लागा।"[५५]

इसमें प्रेम की व्यंजना के माध्यम से आध्यात्मिक सीमा का संकेत है।

प्रकृति उपमानों से व्यंजना

१८—प्रेमी कवियों की व्यापक प्रवृत्ति है कि वे अपने आलंकारिक प्रयोगों में प्रकृति उपमानों की योजना से प्रेम, सत्य आदि के आध्यात्मिक संकेत देते हैं। इनकी विस्तार में विवेचना करना न संभव है और न आवश्यक ही। इन उपमानों के माध्यम से रूपक, रूपकातिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा समासोक्ति तथा अन्योक्ति आदि में प्रेम यौवन आदि की व्यंजना की गई है। जायसी प्रेम की तीव्रता का उल्लेख करते हैं—

"सरग सीस धर धरती, हिया सो पेम समुंद।
नैन कौड़िया होइ रहे, लेइ लेइ उठहिं सो बुंद॥"[५६]

फिर अन्यत्र इसी प्रेम को सरोवर, कमल, सूर्य, आदि की कल्पना में व्यंजित करते हैं। इसमें लुप्तोपमा के द्वारा जो रूपकातिशयोक्ति

५४ चित्रा०; उस० ; चित्रावली-अ.गरत-खंड, दो० ११०
५५ वही; वही; २७ सोहिल-खंड, दो० १८६
५६ मं०स०; प०, पद० ; प्रे०, १३ राजा-गजपति-संवाद, दो० ४

उपस्थित की गई है, उससे व्यंजना का सौन्दर्य बढ़ गया है।[५७] प्रेम की आध्यात्मिक स्थिति, यौवन की विकलता को कवि ने समुद्र की गम्भीरता के माध्यम से व्यक्त किया है।[५८] इस प्रकार की प्रेम और विरह आदि संबन्धी व्यंजनाएँ लगभग सभी कवियों ने प्रकृति उपमानों के माध्यम से की हैं। उसमान प्रेम की व्याकुलता को सूर्य्य कमल और भ्रमर के माध्यम से व्यक्त करते हैं—

"सोई सविता बाहरें, रहेउ कौंल कुम्हिलाइ।
भोर भौंर तन प्रान भा, निकसै कहँ अकुलाइ॥"

और विरह की व्यापकता को इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

"विरह समुद्र अथाह देखावा। औधि तीर कहुँ दिष्टि न आवा।
सुरति समिरन लहर लेई। बूड़त कोऊ न धीरज देई।"[५९]

नूर मोहम्मद ने कमल के प्रतीकार्थ से स्वप्न में आध्यात्मिक प्रेम की व्यंजना की है—

'कमल एक लागा जल माहीं। आधा बिकुसा आधा नाहीं।
मधुकर एक आइ रस लीन्हा। लै रसवास गवन पुनि कीन्हा।'[६०]

इन कवियों के आलंकारिक प्रयोग कमल, सूर्य्य, भ्रमर, चातक चकोर, चंद्रमा, सागर, सरोवर तथा आकाश आदि को लेकर व्यंजक हो उठते हैं। समासोक्ति के द्वारा 'नल दमन काव्य' में मिलन को व्यक्त

---

५७ वही; वही; १६ सिंहलदीप-वर्णन-खंड, दो० २—
'गगन सरोवर ससि-कँवल, कुमुद-तराइन्ह पास।
तू रवि ऊआ, भौंर होइ, पौन मिला लेइ बास॥"

५८ वही; वही; १८ पद्मावती-वियोग-खंड, दो० ६—
'परउँ अथाह, धाय हौं जोबन-उदधि गंभीर।
तेहि चितवौं चारिहु दिसि, जो गहै लावै तीर॥"

५९ चित्रा०; उस०: ४० हंस-खंड, दो० ५४६

६० इन्द्रा०; नूर० : ५ फाग-खंड, दो० २१

किया गया है,—

"मिला कँवल मधुकर कर जोरा। सेज सरोवर लीन्ह हिलोरा
भँवर समाइ कँवल मह रहै। कँवल सो सिमिट भँवर कह गहै।"[११]

जीवन और जगत् के सत्य

§ ६—साधना संबन्धी सत्यों के अतिरिक्त प्रेमी साधकों ने जी[वन] और जगत के सत्यों का उल्लेख भी इसी प्रकार प्रकृति उपमानों [की] योजना से किया है। इन्होंने साधना के मा[र्ग] की कठिनाइयों का जो वर्णन किया है; उसक[ा] उल्लेख अन्य प्रकरण में किया जायगा। यहाँ जीवन और सर्जन में दिखाई देनेवाली क्षणिकता, परिवर्तनशीलता आदि को व्यक्त करनेवाले प्रयोगों को देखना है। प्रकृति संबन्धी इन दृष्टान्तों, रूपकों और समासोक्तियों में भी व्यञ्जना आध्यात्मिक जीवन के प्रति ही की गई है। जीवन और उसके संबन्धों के विषय में उसमान कहते हैं—'कहाँ के लग और कहाँ के संबन्ध—जिस प्रकार दिन बीतने पर अँधेरा छा जाता है; पक्षी वृक्षों पर आकर बसेरा लेते हैं। फिर दिन होने पर सूर्य प्रकाशित होता है, नेत्र कमल फिर विकसित हो जाते हैं। रवि के प्रसाद से मार्ग सूझ जाता है, रात्रि का अंधकार मिट जाता है।—पक्षी वृक्ष की डाल छोड़कर जहाँ से आए थे चले जाते हैं।'[१२] इसमें प्रकृति के दृष्टान्त से परिवर्तन और क्षणिकता तथा [संग]म-समय का संकेत किया गया है। सांसारिक प्रेम की क्षणिकता की [ओ]र संकेत करता हुआ कवि लिखता है,—

"ना सो फूल न सो फुलवारी। दिष्टि परी सब बारी।
[ना] वह भौंर आदि रैन राती। बिहरे लाग कोंल की पाती।"[१३]

[...] कहा गया गया है कि नूर मोहम्मद में उपदेशात्मक प्रवृ[त्ति]

---

११ मधु०; पृ० २०१
१२ चित्रा०; छप्पन० १४ सदोष-खंड, दो० ११८
१३ वही; वहीं ११ पुहुपावती-खंड, दो० १४

अधिक है; इसी लिए साधना विषयक उपदेशों में प्रकृति का आश्रय भी उन्होंने अधिक लिया है। प्रकृति के व्यापक विस्तार से कवि क्षणिकता और परिवर्तन का स्वरूप उपस्थित करता है—'तुम मरमी हो, चिन्ता कुछ नहीं है। यह तो नियम है...अंत में रंगमय पुष्प कुम्हला ही जाते हैं। फूल पहले दिन सुन्दर लगता है, दूसरे दिन उसका रंग फीका हो जाता है। पूर्णचन्द्रमा जो इतना सुन्दर है—दिन दिन घटता है। हे सखी! और सब वृक्षों की ओर देखो—पत्ते लगते हैं और झरते भी हैं, जो वृक्ष की शाखा हरी भरी है, उसमें पतझर होने वाला ही है।'[१४] प्रकृति के माध्यम से कवि ने सांसारिक यौवन की क्षणिकता का उल्लेख किया है। 'फुलवारी-खण्ड' में प्रकृति-व्यापारों के द्वारा कवि पात्र के मुख से व्यंजना कराता है—'धन्य है मधुकर और धन्य है पुष्प, जिस पर उसका मन भूला रहता है। संसार में भ्रमर और पुष्प का प्रेम सराहनीय है। भ्रमर को पुष्प की चिन्ता है; और पुष्प अपनी गंध तथा अपने रस का समर्पण उसे करता है।'[१५] यहाँ प्रेम की आध्यात्मिक स्थिरता का उल्लेख किया गया है। एक स्थल पर क्षणिक और नश्वर सृष्टि के माध्यम से सृष्टा का संकेत भी दिया गया है।

"यह जग है फुलवारी, माली सिरजन हार।
एक एक सों सुन्दर, लावन ताहि मझार॥
जीरन यह जगती हम पाई। निंतु एक आवै निंतु एक जाई।
केतिक बरन के फूलन फूले। केतिक की लालस मन भूले।'[१६]

इस प्रकार प्रकृति उपमानों का यह आलंकारिक प्रयोग साधना के मार्ग को परिष्कृत और स्पष्ट करने के लिए हुआ है।

---

१४ इन्द्रा०; नूर०: ५ फाग-खंड दो० १४
१५ वही; वही: ७ फुलवारी-खंड, दो० ५
१६ वही; वही: ७ फुलवारी-खंड, दो० २५

पंचम प्रकरण

आध्यात्मिक साधना में प्रकृति-रूप

भक्ति भावना में प्रकृति-रूप

§ १—सगुणात्मक भक्ति में ईश्वर की कल्पना पूर्ण गुणों में की
गई है और साथ ही अवतार के रूप में ईश्वर का मानवीय व्यक्तीकरण
[illegible] हुआ है। रामानुज के विशिष्टाद्वैत के अनुसार ब्रह्म,
जीव और प्रकृति तीनों सत्य हैं और अपनी सत्ता
अलग होकर भी ब्रह्म में जगत् सन्निविष्ट है। ब्रह्म (विशेष्य) का
और जगत् (विशेषणों) से अलग करके वर्णन नहीं किया जा
ता। ब्रह्म में समस्त सर्जन का अन्तर्भाव हो रहा है। ब्रह्म ही एक
तत्त्व है, पर यह ब्रह्म निर्गुण और निर्विशेष नहीं है। यह तो
र अर्थात् विशिष्ट है।[१] उनके अनुसार ब्रह्म पूर्ण व्यक्ति है

हिस्ट्री (भाग १) पृ० ११४ [illegible]
[illegible] पृ० १८१-२

और अन्य जीव अपूर्ण रूप से व्यक्ति है। व्यक्तित्व प्राप्त होने से उसमें पूर्ण गुणों की कल्पना भी सन्निहित है; जब कि जीव उन्हीं गुणों की पूर्णता प्राप्त करने में प्रयत्नशील है। वस्तुतः जैसा तीसरे प्रकरण के प्रारम्भ में कहा गया है यह ब्रह्म के व्यक्तित्व के विकास का सामाजिक क्षेत्र है। इस व्यक्तित्व के सामाजिक गुणों शक्ति, ज्ञान और प्रेम के अतिरिक्त भगवान् के व्यक्तित्व में अवतारवाद के साथ ही रूपात्मक गुणों की कल्पना भी सन्निहित है। जब ब्रह्म भगवान् के रूप में साधना का आश्रय होता है, उस समय सामाजिक भावों के रूप में उस व्यक्तित्व से संबन्ध स्थापित किया जाता है। परन्तु इन भावों के लिए आलंबन का रूप भी आवश्यक है। और इस रूप की कल्पना प्रकृति के सौन्दर्य के माध्यम से कवि करता है। प्रकृति के नाना रूपों से ही मानवीय सौन्दर्य-रूपों की स्थिति है, और रूप की सौन्दर्य योजना में भक्त कवि फिर इन्हीं रूपों का आश्रय लेता है।[२] दार्शनिक दृष्टि से प्रकृति ईश्वर का निवास स्थान या शरीर मानी गई है। सगुण भक्ति के दास्य-भाव और माधुर्य भाव का आश्रय भगवान् का जो व्यक्तित्व है, उसमें अपनी अपनी सीमाओं के अनुसार चरित्र और रूप का आश्रय लिया गया है। हिन्दी सगुण-भक्त कवियों ने प्रेम-भक्ति का आश्रय लिया है और यही कारण है कि उनके काव्य में भगवान् के रूप-सौन्दर्य की स्थापना प्रमुखतः मिलती है।

§२—रूप सौन्दर्य में प्रकृति-रूपों की योजना पर विचार करने के पूर्व, प्रकृतिवादी सौन्दर्योपासना और सुगुणवादी रूपोपासना के संबन्ध को समझ लेना आवश्यक है। हम कह आए हैं, भारतीय भक्ति-युग के साहित्य में भगवान् की प्रत्यक्ष भावना के कारण प्रकृति-वाद को स्थान नहीं मिल सका। वैदिक प्रकृतिवाद के बाद साहित्य

---

२ प्रथम भाग के चतुर्थ प्रकरण में सौन्दर्यानुभूति और प्रकृति पर विचार किया गया है।

में उसकी स्थापना नहीं हो सकी। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है प्रकृति का सौन्दर्य-भाव आध्यात्मिक साधना विषय नहीं बन सका। आगे की विवेचना में देखेंगे, प्रकृति का राशि राशि विकीर्ण सौन्दर्य भ की भावना का आलंबन हुआ है। पर यह सम सौन्दर्य उनके आराध्य के रूप निर्माण को लेकर

प्रकृतिवादी सौन्दर्योपासना और सगुणवादी रूपोपासना

है। पीछे के प्रकरणों में प्रकृति की रूप-योजना का आध्यात्मिक देखा गया है। पर उन साधकों में अपने उपास्य के आकार आग्रह नहीं था। इस कारण उनकी सौन्दर्य-योजना में प्रकृति रूप अरूप तथा अतिप्राकृत की ओर अधिक झुका हुआ है। लेकि सगुण भक्तों की रूप साधना में प्रकृति के सौन्दर्य का मूर्त रूप प्रत्यक्ष होकर सामने आया है। फिर भी प्रकृतिवादी तथा वैष्ण सौन्दर्योपासना में एक प्रकार की अनुरूपता मिलती है, जो समानान्त होकर भी प्रतिकूल दिशा में चलती है। प्रकृतिवादी कवि प्रकृति के फैले हुए सौन्दर्य के प्रति सचेष्ट और आकर्षित होकर उसकं क्रियाशीलता पर मुग्ध होता है। उसके माध्यम से किसी अज्ञात सत्ता की ओर वह अग्रसर होकर उसकी अनुभूति प्राप्त करता है। वैष्णव भक्त के लिए यही अज्ञात ज्ञात है, परिचित है। उसका साक्षात् उसी है। वह अपने आराध्य के व्यक्तित्व-आकार में जिस सौन्दर्य का अनन्त दर्शन पाता है उसमें प्रकृति का सारा सौन्दर्य अपने आप प्रत्यक्ष हो उठता है। रूप-सौन्दर्य की विवेचना में हम देखेंगे कि उसके विभिन्न रूप प्रकृतिवादी भावना के समान स्थिर, सचेतन और सप्राण, अनन्त और अलौकिक रूपों से संबन्धित हैं। प्रकृतिवादी दृष्टि की तुलना रूप-सौन्दर्य तक ही नहीं सीमित है, वरन् प्रकृति-चित्रण में प्रतिबिंबित आह्लाद और उल्लास की भावना में भी देखी जा सकती है। प्रकृतिवादी रहस्यवादी प्रकृति के सचेतन-सप्राण, सौन्दर्य में एक ऐसा क्रम प्राप्त करता है जो तर्क से परे होकर

आन्तरिक आनन्द का कारण बन जाता है।[3] इसी के विपरीत वैष्णव भक्त कवि अपने आराध्य की प्रत्यक्ष सौन्दर्य भावना से ऐसा रस स्थापित करता है कि उस क्षण प्रकृति भी आनन्द भावना से उल्लसित हो उठती है।

§ ३—सगुणात्मक भक्ति रूप की साधना है, उसमें भगवान् के व्यक्तित्व की स्थापना है। और व्यक्तित्व अपने मानवीय स्तर पर रूप को लेकर ही स्थिर है। वैष्णव कवि अपने आराध्य के व्यक्तित्व को स्थापित करके चलता है और इस व्यक्तित्व का आलंबन रूप है, जो भावात्मक साधना में सौन्दर्य का ही अर्थ रखता है।

रूप में शील और शक्ति

इनमें दो प्रकार के भक्त व्यापक रूप से कहे जा सकते हैं। रूप-सौन्दर्य की भावना और स्थापना सभी कवियों में पाई जाती है। परन्तु अपनी भक्ति के अनुरूप दास्य भाव की साधना करने वाले कवियों ने रूप के साथ भगवान की शक्ति और उनके शील का समन्वय किया है। तुलसी और सूर के विनय के पदों से यह प्रत्यक्ष है। अपने आराध्य के रूप के साथ, तुलसी के सामने उनका शील, उनकी शक्ति भी है—'संसार के भयानक भय को दूर करने वाले कृपालु भगवान् रामचन्द्र को हे मन भजन कर। वे कितने सुन्दर हैं, कमल के समान लोचन हैं, कमल के समान मुख है, हाथ भी कमल के समान हैं और उनके पैर भी लाल कमल

३ हिन्दू मिस्टिसिज़्म; महेन्द्रनाथ सरकार: प्रक० २—फेज़ आव इमो-टिव इवल्यूशन; पृ० ७—

"वैष्णव प्रकृति का सामान्य आध्यात्म-दर्शन (vision) रहस्यात्मक चेतना को स्पर्श करता है—जो लौकिक चेतना से भिन्न है। यह प्रकृति की रहस्यात्मक व्याख्या कर सकता है और भावात्मक सौन्दर्य एवं माधुर्य के समान है। इच्छा सचेतन स्वरूप प्रकृति को सत्य के दर्पण के समान अनुभव करता है। प्रकृति चेतन-शक्ति से स्थानान्तरित न होकर उसी से आपूरित हो जाती है।"

के समान है। उस नील नीरद के समान शरीर वाले की शोभा तो अनेक कामदेवों से भी अधिक है। जानकीनाथ के शरीर पर पीताम्बर मानो बिजली छाया जाता है। ऐसे सौन्दर्य मूर्ति, सूर्यवंश मंड, दानव रूप दैत्यों के वंश को नष्ट करने वाले शक्तिमान को हे मन भज।'[४] इस पद में तुलसी ने सौन्दर्य की कल्पना के साथ शक्ति का समन्वय भी किया है। 'विनय पत्रिका' में राम के शील, उनकी करुणा आदि का अधिक उल्लेख है रूप तो कहीं कहीं झलक भर जाता है। इसी प्रकार सूर के विनय संबंधी पदों में भी रूप से अधिक भगवान की करुणा, उदारता, शक्ति और शील की बात कही गई है। सूर विनय के प्रसंग में भगवान् के चरित्र का ही उल्लेख करते हैं—

"प्रभु को देखो एक सुभाई।
अति गंभीर उदार उदधि हरि जान शिरोमणि राई।
तिनको सो अपने जनको गुण मानत मेरु समान।
सकुचि समुद्र गनत अपराधहिं बूंद समान भगवान।
बदन प्रसन्न कमल ज्यों सन्मुख देखत हौं हो जैसे।"[५]

इस पद में सूर अपने आराध्य के मुख-कमल के सौन्दर्य को प्रत्यक्ष सम्मुख देखते हुए भी उनके शील पर अधिक मुग्ध हैं। इस प्रसंग में यदि रूप की कल्पना होती भी है तो वह शक्ति और शील का स्मरण दिलाती है—'चरण-कमलों की वन्दना करता हूँ। कमलदल के आकार वाले नेत्र हैं जिसके ऐसे सुन्दर श्याम की त्रिभंगी सुन्दर छवि प्राणों को प्यारी है। जिन कमल-चरणों ने इतनों को तारा है, वे क्या सूरदास के त्रिविध ताप नहीं हरेंगे।'[६] परन्तु दास्य-भक्ति के

---

४ विनय० : तुलसी : पद ४५
५ सूरसागर : प्र०, पद ८
६ सूरसागर : प्र० स्कं, पद ३६

अतिरिक्त भक्ति साधना के अन्य रूपों में भगवान् के व्यक्तित्व में सौन्दर्य की योजना प्रमुख है।

§४—माधुर्य भाव के आलंबन रूप में भगवान् की कल्पना सौन्दर्यमयी होना स्वाभाविक है। यह सौन्दर्य कल्पना प्रकृति में अपना रूप भरती है। प्रकृति के अनन्त रंग-रूप, उसकी सहस्र सहस्र स्थितियाँ उपमानों की आलंकारिक योजना में रूप को सौन्दर्य दान करती हैं। सौन्दर्य चित्रण में प्रयुक्त उपमानों की विवेचना अलंकारों के अन्तर्गत की जा सकती है। परन्तु आध्यात्मिक सौन्दर्य की इस कल्पना में भगवान् का रूप केवल अलंकार का विषय न होकर साधना का आलंबन है। भक्त कवि अपने आराध्य के रूप को अनेक अवस्था, स्थिति तथा परिस्थितियों में रखकर देखता है और उस चिर नवीन रूप की अभिव्यक्ति प्रकृति के माध्यम से करता है। वह उस सौन्दर्य को व्यक्त करके भी व्यक्त नहीं कर पाता और स्वयं मुग्ध-मौन हो उठता है। मध्ययुग के उत्तर रीति-काल में सौन्दर्य कल्पना का आलंबन तो यही रहा, पर साधक का मुग्ध भाव नहीं मिलता। भक्त कवियों ने कृष्ण के रूप का वर्णन विभिन्न अवस्थाओं और स्थितियों में किया है। साथ ही उनके रूप-सौन्दर्य को विभिन्न छायातपों में भी उपस्थित किया गया है। सूर रूप-सौन्दर्य के वर्णन में अद्वितीय हैं। एक ही स्थिति को अनेक प्रकारों से उद्भासित करने की प्रतिभा सूर में ही है। तुलसीदास ने 'गीतावली' में इसी शैली को एक सीमा तक अपनाया है।

रूप-सौन्दर्य

क—संतों और प्रेमी-साधकों के विषय में कहा गया है कि उनके सामने जो रूप था उसमें आकार की सीमाएँ नहीं हैं। परन्तु भक्त कवियों के रूप में आकार सन्निहित है। उनके सामने सौन्दर्य की प्रत्यक्ष कल्पना है जिसमें रूप के साथ आकार की सीमाएँ भी हैं। साथ ही यह भी समझ लेना आवश्यक है कि इस रूप में व्यक्तित्व का आरोप नहीं

रूप में आकार और व्यक्तित्व

है और उसके आकार में सीमाओं का बन्धन भी नहीं है। सौन्दर्य की अनन्त और अलौकिक भावना में रूप खोकर अरूप हो जाता है और उसके सप्राण-सचेतन आकार में सीमा से असीम की ओर प्रसरित होकर मिट जाने की संभावना बनी रहती है। सूरदास के लिए आराध्य के स्थिर-सौन्दर्य पर रुकना कठिन है, यही कारण है कि उनके चित्रों में चेतन, अनन्त और अलौकिक सौन्दर्य की ओर क्रमशः बढ़ने की प्रवृत्ति है। सीमा के अनुसार भक्त कवियों की रूपोपासना के विषय में यही कहा जा सकता है। रीति काल के कवियों में वस्तु रूप स्थिर-सौन्दर्य को अलौकिक या चमत्कृत भावना में परिणत करने की प्रवृत्ति पाई जाती है। साथ ही इस काल की अलौकिक भावना चमत्कार से संबन्धित है। तुलसी अवश्य अपने आराध्य के स्थिर-सौन्दर्य पर रुकते हैं, क्योंकि उन्हें रूपाकार के साथ शील तथा शौर्य का समन्वय भी करना था। लेकिन इनके सौन्दर्य में भी अनन्त की भावना साथ चलती है। तुलसी ने 'राम-चरित-मानस' में राम के रूप और आकार के साथ व्यक्तित्व जोड़ने का प्रयास किया है। 'राम चरित मानस' प्रबन्ध काव्य है और नायक के रूप में राम के रूपाकार में व्यक्तित्व का संकेत देना कवि के लिए आवश्यक हो उठा है। फिर भी कवि ने इन वर्णनों में अनन्त सौन्दर्य के संकेत सन्निहित कर दिए हैं। राम के नख शिख का समस्त रूपाकार अपने अर्थविस्तार के साथ भी सौन्दर्य की सीमाएँ नहीं दे सका...यह उसे पाने के प्रयास में अलौकिक और अनन्त होकर अरूप ही रहा। तुलसी प्रसिद्ध उपमानों में राम के रूप की कल्पना करते हैं—

"काम कोटि छबि स्याम सरीरा। नील कंज बारिद गंभीरा।
अरुन चरन पंकज नख जोती। कमल दलन्हि बैठे जनु मोती॥"

किन्तु इस सौन्दर्य के वर्णन में रंग-रूपों के आधार पर कुछ उपस्थित करने से अधिक कवि का ध्यान कभी 'नूपुर धुनि सुनि मन मोहा' कभी 'बिम चरन देखत मन लोभा' और कभी 'छबि

प्रिय मधुर तोतरे बोला' पर जाता है। कवि का मन आराध्य के रूप से ऐसा उद्भासित हो रहा है कि उसको मौन होना पड़ता है—

"रूप सकहिं नहिं कहि श्रुति सेषा। सो जानइ सपनेहुँ जेहि देखा।"[७]

§५—वैष्णव भक्त कवि अपने आराध्य के आकर्षक रूप-सौन्दर्य्य की स्थापना करता है, लेकिन उसके साथ ठहर नहीं पाता। प्रकृति-वादी साधक भी प्रकृति के रूपात्मक सौन्दर्य्य से आकर्षित होता है, परन्तु आगे अपनी चेतना के सम पर उसके सौन्दर्य्य को सचेतनामय कर देता है। फिर भी व्यापक सौन्दर्य्य योजना में वस्तु-रूप के स्थिर खंड-चित्र आ जाते हैं और ये प्रकृति उपमानों की आलंकारिक योजना पर ही निर्भर है। वस्तुतः सौन्दर्य्य के प्रकृति संबन्धी स्थिर उपमानों को ये वैष्णव कवि अपनी साधना में इस प्रकार मिला चुके हैं कि उनके बिना एक पग आगे चलते ही नहीं। इन कवियों में ये उपमा और रूपक बिना प्रयास के आते जाते हैं और इनके प्रयोगों को हम रूढ़ि-रूप या फ़ार्मल कह सकते हैं। लेकिन इन भक्तों के साथ ये सजीव हैं। इनकी रूप साधना के साथ एकाकार होकर ये सजीव ही नहीं वरन अमृत प्राण हो चुके हैं। वैष्णव भक्त कवि कमल-मुख, कमल-नयन, कमल पद सहज भाव से कहता जाता है। परन्तु इन रूपक और उपमाओं के अतिरिक्त कवि कभी कभी स्थिति आदि को लेकर वस्तु सेवा आदि के द्वारा स्थिर सौन्दर्य्य की कल्पना कर लेता है। ये रूप की स्थितियाँ सारे भक्ति काव्य में व्यापक रूप से फैली हैं और

वस्तु-रूप स्थिर सौन्दर्य्य

---

७ रामचरितमानस; तुलसी: बाल०, दो० २१९। तुलसी के इन रूप-वर्णनों में वर्णन-दृष्टि का दृष्टिबिन्दु विशेष महत्त्व रखता है। उन्होंने जिस दृष्टि से प्रथम राम वस्तु-स्थिति के अनुसार राम के रूप का वर्णन किया है, वहीं से उसके प्रभाव को लिया है (तुलनात्मक, बा० दो० २१९, उत्तर-कांड, दो० ३३।

इनमें अधिकांश अनन्त-सौन्दर्य की भावना में डूब में जाती है। सूर
चित्र में बालकृष्ण की लट केन्द्र में है—

"लट लटकनि मोहन मसि बिंदुक तिलक भाल सुखकारी।
मनहुँ कमल अलिशावक पंगति उठति मधुर छवि भारी।

फिर केन्द्र में छोटे दाँतों की चमक आ जाती है—

"अल्प दसन कलबल करि बोलनि बिधि नहिं परत बिचारी।
निकसत ज्योति अधरनि के बिच ह्वै बिधु में बाजु उज्यारी॥"[८]

इसी प्रकार यमुना तट पर खड़े होकर ब्रजनारियों के विहार को
देख रहे कृष्ण के सौन्दर्य के विषय में सूर कल्पना करते हैं—'मोर
मुकुट को धारण किए हुए हैं; कानों में मणि-कुंडल और वक्ष
कमलों की माला सुशोभित है, ऐसे सुन्दर सलोने श्याम के शरीर
नवीन बादलों के बीच में बगलों की पंक्ति सुशोभित है। वक्षस्थल पर
अनेक लाल पीले श्वेत रंग की वनमाला शोभित है, लगता है मानो
देवतरि के किनारे नाना रंग के तोते डर छोड़कर बैठे हैं। पीताम्बर
युक्त कटि पर इस प्रकार क्षुद्रघंटिका बज रही है, मानो स्वर्ण-सरि के
निकट सुन्दर मराल बोलते हैं।'[९] तुलसीदास गीतावली में राम के
सौन्दर्य की कल्पना इस प्रकार अधिक करते हैं, क्योंकि उनके राम
में कृष्ण जैसी क्रीड़ात्मकता नहीं है। इस स्थिति में कृष्ण के सचेतन
गतिशील सौन्दर्य के समक्ष तुलसी राम का ऐश्वर्यशील सौन्दर्य
उपस्थित कर सके हैं। इसका कारण है। तुलसी की दास्य भक्ति
ऐश्वर्य की रूप साधना है, जबकि कृष्ण-भक्त कवियों की साधना में
लीलामय सौन्दर्य का माहात्म्य है। तुलसी राम के रंग के विषय में
प्रकृति-उपमानों की योजना करते हैं—'कामदेव, मोर की चन्द्रिकाओं
श्यामा के सौन्दर्य का भी राम के शरीर की ज्योति निरादर करती

८ सूरसागर; दश० ६६०, पद १४०
९ वही; दश० ६६०, पद १२२१

है—'और नीलकमल, मणि, जलद इनकी उपमाएँ भी कुछ नहीं हैं। रंग के बाद कवि मुख पर आता है—'नील कमल से नेत्रों के भ्रू पर काजल का टीका सुशोभित है, मानों रसराज ने स्वयं चन्द्र-मुख के अमृत की रक्षा के लिए रक्षक रखा है, ऐसी शोभा के समुद्र राम लला हैं।' इसके आगे के चित्र में अलकावली के सौन्दर्य को प्रस्तुत करने के लिए गम्योत्प्रेक्षा के द्वारा गतिशीलता का भाव व्यक्त किया गया है—गभुआरी अलकों में सुन्दर लटकन मस्तक पर शोभित है, मानों तारागण चन्द्रमा से मिलने को अंधकार विदीर्ण करते हुए मार्ग बनाकर चले हैं।'[१०] कभी तुलसी रूप की एक स्थिति को उत्प्रेक्षा के माध्यम से चित्रित करते हैं—

> "चारु चिबुक नासिका कपोल, भाल तिलक, भ्रुकुटि।
> स्रवन अधर सुन्दर, द्विज-छवि अनूप न्यारी।
> मनहुँ अरुन कञ्ज-कोस मंजुल जुगपाँति प्रसव।
> कुंदकली जुगल जुगल परम सुभ्रवारी।"[११]

कहीं कहीं ऐश्वर्य के वर्णन के अन्तर्गत रूप के स्थिर खण्ड-चित्र बहुत दूर तक आते गए हैं। और सब मिलाकर चित्र एक व्यापक शील और सौन्दर्य का समन्वित भाव प्रदान करता है—'माई री जानकी के वर का रूप तो सुन्दर है। देखो! इन्द्रनील मणि के समान सुन्दर शरीर की शोभा मनोज से भी अधिक है। चरण अरुण हैं, अँगुलियाँ मनोहर हैं। द्युतिमय नखों में कुछ अधिक ही लालिमा है, मानों कमल पत्रों पर सुन्दर घेरा बनाकर मंगल नक्षत्र बैठे हैं। पीत जानु और सुन्दर वक्ष मणियों से युक्त हैं, पैरों में नूपुरों की मुखरता सोहती है, मानों दो कमलों को देखकर पीले पराग से भरे हुए अलिगण ललचा रहे हैं। स्वर्ण-कमलों की कोमल किंकनी मरकत शैल के

---

१० गीता; तुलसी : बा०, पद १९

११ वही; वही : बा०, पद २२

मध्य तक जाकर भयभीत हो मुड़ गई है और उससे लावण्य च[illegible]
और विकसित हो रहा है।...विचित्र हेममय यज्ञोपवीत और मुक्ता
की वक्ष-माल तो मुझे बहुत भाती है, मानो बिजली के मध्य में इन्द्र
धनुष और बलाकों की पंक्ति आ गई है। शंख के समान कंठ है,
चिबुक और अधर सुन्दर हैं और दाँतों की सुन्दरता को क्या कहा
जाय, मानों वज्र अपने साथ विद्युत और सूर्य की आभा को लेकर
पद्मकोष में बसा है। नासिका सुन्दर है और केशों ने तो अनुपम शोभा
धारण की है, मानो दोनों ओर भ्रमरों से घिरकर कमल कुछ हृदय में
भयभीत हो उठा है।'[12] इस वस्तु-रूप की स्थिर कल्पना में, कवि ने
प्रौढ़ोक्ति के द्वारा जो प्रकृति-उपमानों की योजना की गई है वह राम
सौन्दर्य को अलौकिक की ओर ले जाती है। और यह राम के ऐश्व
सौन्दर्य के अनुरूप भी है। तुलसी के सौन्दर्य चित्र अधिकतर ऐसे
ही हैं।[13] कृष्ण गीतावली में कृष्ण का रूप-वर्णन कम है, पर जो
चित्र हैं उनमें ऐश्वर्य के स्थान पर गतिशील चेतना अधिक है। तुलसी
कृष्ण की उनींदी आँखों का चित्र उपस्थित करते हैं—

"आजु उनीदे आए मुरारि।
आलसवंत सुभग लोचन सखि छिन मूँदत छिन देत उघारि॥
मनहुँ इंदु पर खञ्जरीट दोउ कछुक अरुन विधि रचे सँवारी।

यहाँ तक वस्तूत्प्रेक्षा में स्थिर रूप की कल्पना है; पर आगे—

---

१२ वही; वही : बा० पद १०६

१३ तुलसी के इस प्रकार के रूप चित्र बालकाण्ड के अतिरिक्त [illegible] [illegible] 'वरतुत है। उत्तर-काण्ड में भी इस प्रकार के पद हैं। पद १ (और [illegible] [illegible] [illegible]) से आरम्भ कर पद १४ (देखें स्याम-[illegible] [illegible]) [illegible] प्रकार सौन्दर्य के वस्तु-रूप [illegible] है [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ऐश्वर्य और [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] भावना भी है।

"कुटिल अलक जनु मार फंद कर गहे सजग ह्वै रह्यो सँभारी।
मनहुँ उड़न चाहत अति चंचल पलक पंख छिन देत पसारी ॥"[१४]

इस चित्र में स्फुरणशील गति का भाव सन्निहित है। राम भक्ति परम्परा में तुलसी के आगे कोई महत्त्वपूर्ण कवि नहीं हुआ है और कृष्ण भक्त कवियों में सूर को छोड़कर अन्य किसी में सौन्दर्य का अधिक व्यक्त आधार नहीं है। बाद के भक्त कवियों का सौन्दर्य मानवी रूप और उसके शृंगार में ही अधिक व्यस्त रहा है। इनमें प्रकृति के माध्यम से सौन्दर्य की स्थापना वैसी व्यापक नहीं मिलती। आगे हम देखेंगे कि रीति परम्परा के कवियों ने बाद के भक्त कवियों की रूप और शृंगार की भावना को चमत्कृत रूप में ग्रहण किया है।

§६—भक्त की सौन्दर्य भावना रूप, आकार और रंग आदि तक ही सीमित नहीं है। यह सौन्दर्य रूपमय होकर भी गतिमय तथा स्फुरणशील है। वस्तुरूप की स्थिरता में सौन्दर्य सीमित हो जाता है और कम लगने लगता है। इसी कारण भक्तों के सौन्दर्य का आदर्श स्थिरता से गति की ओर है। यह गति चेतना का भाव है जिसे अधिकतर कवियों ने सम्भावना के माध्यम से व्यक्त किया है। सूर के लीलामय कृष्ण के रूप में यह अधिक व्यक्त हो सका है और सूर प्रकृति-उपमानों की उत्प्रेक्षाओं से इसको प्रस्तुत करने में प्रमुख हैं। प्रकृति के क्रिया व्यापार और उसकी गतिशील चेतना इस सौन्दर्य योजना का आधार है। हम प्रथम भाग में कह चुके हैं कि प्रकृति मानव जीवन के समानान्तर है। और इसी आधार पर प्रकृतिवादी कवि प्रकृति को रूपात्मक सौन्दर्य के साथ सप्राण और सचेतन देखता है। तुलसी के राम लीलामय नहीं हैं, इसके परिणाम स्वरूप उनको अपने आराध्य के सौन्दर्य को सचेतन चित्रित करने का आग्रह नहीं है। परन्तु उनमें इन चित्रों का नितान्त अभाव

सचेतन गतिशील सौन्दर्य

१४ कृ० गीता०; तुलसी : पद २१

नहीं है—'शिशु स्वभाव से राम जब अपने हाथों से पैर को पकड़कर मुँह के निकट ले आते हैं, तो लगता है मानों दो सुन्दर सर्प शशि से कमलों में सुधा ग्रहण करते हुए सुशोभित हैं। वे ऊपर खेलौना देख किलकी भरते हैं और बार बार हाथ फैलाते हैं मानों दोनों कमल चंद्रमा के भय से अत्यंत दीन होकर सूर्य से प्रार्थना करते हैं।'[१५] इन रूप चित्रों में स्थिति के साथ गति की व्यंजना भी है। सूर इस प्रकार की व्यंजना करने में अद्वितीय हैं। इन्होंने अपने लीलामय आराध्य के सौन्दर्य्य को इस प्रकार अधिक चित्रित किया है, यद्यपि उसमें अनन्त और अलौकिक होने की प्रवृत्ति है। कृष्ण की लीला में गतिमय चेतना का भाव छिपा हुआ है, उनका चित्र इसीसे स्फुरणशील हो जाता है। सूर की उर्वर कल्पना में कृष्ण का रूप-सौन्दर्य, चाहे बाल-क्रीड़ा के समय का हो, या गोपी-लीला के समय का हो, या गोचारण के बाद का हो अथवा रास के समय का हो, प्रत्येक स्थिति में एक गति और क्रिया की भावना से युक्त हो जाता है। इस रूप की उद्भावना के लिए सूर प्रकृति-उपमानों की योजना को स्वतःसम्भावी अथवा प्रौढ़ोक्ति संभव आधार ग्रहण करते हैं और चित्र को गति तथा प्राण भावना से सजीव कर देते हैं। अन्य कृष्ण-भक्त कवियों में यह कौशल कम है। बाद के कवियों में यत्र-तत्र सूर का अनुकरण मिल जाता है। गदाधर कल्पना करते हैं—

"मोहन वदन की शोभा।
जाहि निरखत उठत मन आनंद की गोभा।
भौंह सोहन कहा कहूँ छबि भाल कुंकुम बिंदु।
स्याम बादर रेखपथ मानों अबही उदयौ इंदु।
ललित लोल कपोल कुंडल मानों मकराकार।
जुगल शशि सौदामिनी मानों नाचत नट सटसार।"[१६]

१५ गीता०; तुलसी: बा०, पद २०। तुलनार्थ सूर के पद १४१ दर्श० दश
१६ कीर्तनसंग्रह (भाग २ उत्त०); पृ० १९।

इसमें बादर की रेखा पर उदित चन्द्रमा स्थिर-सौन्दर्य का रूप है और सौदामिनी की चटसार में शशि का नृत्य गतिशीलता का भाव देता है। परन्तु सूर में ऐसे चित्रों का व्यापक विस्तार है। बाललीला के क्रीड़ाशील रूप चित्रण में अनेक सौन्दर्य चित्र हैं—'नीलवर्ण कृष्ण को जब जननी पीले वस्त्र से अच्छादित करती है तो एक अद्भुत चित्र की कल्पना उठती है, मानों तड़ित अपने चंचल स्वभाव को छोड़कर नील बादलों पर नक्षत्र माला की शोभा देखती है।'[१७] इस प्रकृति की प्रौढ़ोक्ति सम्भव कल्पना में गतिमय सौन्दर्य का अद्भुत भाव है। कामदेवों के समूह की छाई हुई छवि के माध्यम से कवि अलौकिक भावना का संकेत देता है। —'माई री' सुन्दरता के सागर को तो देखो! बुद्धि विवेक तो उसका पार ही नहीं पाता और चतुर मन आकाश के समान प्रशस्त आश्चर्य चकित फैल जाता है। यह शरीर अत्यन्त गम्भीर नील सागर है और कटिपट, पीली उठती हुई तरंगें हैं। ये जब इधर-उधर देखते हुए चलते हैं तो सौन्दर्य अधिक बढ़ जाता है...समस्त अंग में भँवर पड़ जाते हैं और उसमें नेत्र ही मीन हैं, कुंडल ही मकर हैं और सुन्दर भुजाएँ ही भुजंग हैं।'[१८] इस रूपक में वस्तु-स्थितियों के द्वारा प्रकृति-रूप सौन्दर्य की गतिशील व्यंजना कवि करता है. सागर अपने सौन्दर्य-भाव के साथ तरंगित हो उठता है। सौन्दर्य के इस रूप को जैसे कवि बार बार सराहित कर उठता है—'देखो, यह शोभा तो देखो। यह कुंडल कैसा झलक रहा है, देखो तो सही। यह सौन्दर्य कोई नेत्रों से देखेगा कैसे पलक तो लगती नहीं। सुन्दर सुन्दर कपोल और उसमें नेत्र हैं इस प्रकार चार कमल हैं। मानो मुख रूपी सुधा सरोवर में मकर के

---

१७ सूर० ; दद० पृ० २४६—'कीचन चलत पुडुरवन च व.'
१८ वही; वही, पद ७२१

कान सात क्रीड़ा करता है। कुण्डल मकर स्वभावतः हरि के मुख पर आ रहे हैं, मानो कामदेव ने अपने फंदा से मीनों को भरमीत किया है।१९ पर फिर दूसरे कान के कुंडल की शोभा की ओर मेरा ध्यान उठा है—'देख! श्याम कुण्डलों का तो देखो। सुन्दर श्याम म तन रखा है और कानों पर उनकी झलक पड़ती है। सुन्दर बदन रूपी सुधा-सरोवर को देखकर मन डूब गया—और यह मकर मन को झकझोरता हुआ छिपा प्रकट होता है। यह मुख कमल का विकासमान् सौन्दर्य है जिसपर युवतियों के नेत्र भ्रमर हैं और वे इसके प्रेम-लहर की तरंगें हैं।२० यह स्पष्ट होता है कि अपनी चंचलता में अधिक आकर्षक हो उठता है और देखनेवाले की पकड़ में भी नहीं आता।—'चतुर नारियाँ उस सौन्दर्य को देखती हैं मुख की शोभा में मन अटककर लटका हुआ है और हार नहीं मानता। श्याम शरीर की मेचक आभा पर चन्द्रिका झलकती है। जिसको बार-बार देखकर नयन थकित हो रहे हैं और स्थिर नहीं होते। श्याम मरकत-मणि के बड़े नग हैं और सदा नाचते हुए मोर हैं—इसे देखकर अत्यधिक आनन्द होता है। कोई कहता है सुरचाप गगन में प्रकाशित हुआ है—इस सौन्दर्य को देखकर गोपियाँ कहीं हर्षित और कहीं उदास हैं।२१ इसमें 'झलकते' 'नाचते' और 'प्रकाशित' आदि में गति का सौन्दर्य है। रास के प्रसंग में यह सौन्दर्य-चित्रण और भी स्पष्ट हो उठता है—

"देखो माई रूप सरोवर साज्यो।
ब्रज वनिता वार वारि वृन्द में श्री ब्रजराज विराज्यो॥

---

१९ कीर्त० (भा० ३ उत्त०): पृ० १७—'देखिरी देख कुंडल झलक।'
२० कीर्त० (भा० ३ उत्त०): पृ० १८—'देखिरी कुंडल लोल।'
२१ वही: पृ० १७—'निरखत ह्व नागरि नार।'

लोचन जलज मधुप अलकावली कुंडल मीन सलोल।
कुच चकवाल बिलोकि बदन बिधु बिहरि रहे अनमोल॥
मुक्तामाल बाल बग पंगति करत कुलाहल कूल।
सारस हंस मध्य शुक सैना बैजयंति समतूल॥
पुरइन कपिश निचोल विविध रंग बिहँसत सचु उपजावे।
सूरश्याम आनदकंद की शोभा कहत न आवे॥[२२]

इस रास-लीला में कृष्ण का रूप-सौन्दर्य प्रकृति के उपमानों से जैसे नृत्य कर उठा है। विभिन्न रंगों के छाया-प्रकाश के साथ पक्षियों के कोलाहल का आरोप सौन्दर्य की चेतना से सम उपस्थित करना है। यह स्फुरणशील चिरनवीन सौन्दर्य भक्त की पकड़ के बाहर का है; और इसीलिए सूर के शब्दों में 'कहत न आवै'। उस आनन्दकंद के विविध विलास को कोई कहेगा भी कैसे।

§ ७—जब सौन्दर्य ठहरता नहीं, वह परिवर्तित होकर नवीन हो हो जाता है, उस समय उसमें सीमा से असीम की ओर और रूप से अरूप की ओर जाने की प्रवृत्ति होती है। सूर के पिछले चित्रों में यह भावना हम देख चुके हैं। चित्रों में गति का भाव असीम और अरूप की ओर ले जाता है। सूर के सामने आराध्य का रूप अत्यधिक प्रत्यक्ष है और उसको देखकर मति मुग्ध हो जाती है, बुद्धि स्तब्ध रह जाती है। इस प्रकार सूर के चेतनशील चित्रों में भी अनन्त की व्यंजना है। तुलसी में लीलामय की भावना के साथ गति का रूप भी नहीं है। इन्होंने राम के ऐश्वर्य रूप को ही असीम और अनन्त चित्रित किया है। इस अनन्त सौन्दर्य की कल्पना में प्रकृति-उपमानों की साधारण सौन्दर्य-बोध की भावना कुंठित हो जाती है, उनकी योजनाओं में सन्निहित गतिशीलता परिवर्तन के साथ जड़ित तथा स्थिर हो जाती

(अनन्त और असीम सौन्दर्य)

२२ सूरसा०; दश०, पृ० ४३८

कर कमलों में बाण और कटि पर निषंग कसे हैं; इस शोभा को देख कर समस्त विश्व की शोभा लघु लगती है।[२४] इस सौन्दर्य के चित्र में प्रकृति के उपमानों के स्थान पर स्वयं सौन्दर्य और लावण्य उल्लसित हो उठा है जिसके समक्ष विश्व का प्रत्यक्ष सौन्दर्य फीका है। ऐसी स्थिति में प्रकृति रूप का प्रयोजन ही नहीं रह जाता। तुलसी ने स्वर्गीय प्रतीकों के माध्यम से असीम की भावना प्रस्तुत की है—हे सखी, राम लक्ष्मण जब दृष्टि पथ पर आ जाते हैं उस समय उस सौन्दर्य के समक्ष लगता है जनकपुर में अनेक आत्म विस्मृत जनक हो गए हैं। पृथ्वीतल पर यह धनुष यज्ञ तो आश्चर्य देनेवाला है, मानों सुन्दर शोभित देव-सभा में कामदेव का कामतरु ही फलित हो उठा है।[२५] यह भावात्मक रूप अनन्त की ओर प्रसरित है। इसके आगे एक चित्र में एक सखी दूसरी सखी को जिस सौन्दर्य की ओर आकर्षित करती है वह नितान्त भाव रूप है—

"नेकु, सुमुखि चित लाइ चितौ, री।
राजकुँवर मूरति रचिबे को रुचि सुबरंचि स्रम कियो है कितै, री॥
नख सिख सुन्दरता अवलोकत कह्यो न परत सुख होत जितौ, री।
साँवर रूप सुधा भरिबे कहँ नयन-कमल कल कलस रितौ, री॥[२६]

इसमें रूप की रेखाएँ नहीं हैं, केवल 'रूप सुधा' और नयन-कमल-कलस' का परमपतितरूपात्मकता सौन्दर्य-भाव की व्यंजना करती है। सूर में रूप से अनन्त की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति उतनी नहीं है जितनी गतिशीलता को अनन्त की भावना में परिसमाप्त करने की। साथ ही आगे हम देखेंगे कि सूर में अलौकिक सौन्दर्य की कल्पना अधिक है। जहाँ सूर ने अनन्त सौन्दर्य को व्यक्त किया है, वहाँ भी

---

२४ वही; वही : बा०, पद ७५
२५ वही; वही : बा० पद ७४
२६ वही; वही : बा० पद ७४

प्रकृति उपमानों के रूपात्मक चित्रों का आधार लिया है। सूर कहते हैं—'शोभा कहने से कही नहीं जाती; लोचनपुट अत्यन्त आदर से आचमन करते हैं पर मन रूप को पाता कहाँ है।' आगे रूपात्मक चित्र आते हैं—'जलयुक्त घनश्याम के समान सुन्दर शरीर पर विद्युत के समान वस्त्र और वक्ष पर माला है। शरीर रूपी धातु शिखर पर शिखी पक्ष लगता है पुष्प और प्रवाल लगे हैं...कपोल पर कमल की किरण और नेत्र का सौन्दर्य लगता है कमलदल पर मीन हो।' फिर यही शोभा अनन्त सौन्दर्य में इस प्रकार लीन हो जाती है—

"प्रति प्रति अंग अंग कोटिक छवि सुनि सखि परम प्रवीन।
अधर मधुर मुसकानि मनोहर कोटि मदन मनहीन।
सूरदास जहाँ दृष्टि परत है होत तहीं लवलीन॥"[२७]

वस्तुतः इस अनन्त सौन्दर्य में दृष्टि टिकती नहीं, वह जहाँ की तहाँ लीन होकर आत्म-विस्मृत हो जाती है। यही इस सौन्दर्य का प्रभाव है और चरम भी।

अलौकिक सौन्दर्य कल्पना

६८—रूप से अरूप और सीमा से असीम के साथ भक्त कवि सौन्दर्य की अलौकिक कल्पना करता है। इस विषय में संतों के प्रसंग में पर्याप्त उल्लेख किया गया है। यहाँ इतना ही कहा जा सकता है कि रूप-सौन्दर्य की व्यंजना जब आधार छोड़ना भी नहीं चाहती और साधारण स्पष्ट के स्तर से अलग रहना चाहती है, तब वह अलौकिक कल्पना ा आश्रय लेती है। तुलसी को रूप का उतना मोह नहीं है; इसी कारण नकी सौन्दर्य भावना अनन्त में व्यंजित होती है, उसे अलौकिक ा अधिक आश्रय नहीं लेना पड़ता। सूर ने अपने रूप चित्रों को लौकिक उद्भावना में अधिक प्रस्तुत किया है। इसमें रूप-व्यंजना माध्यम स्वीकार करने के साथ परम्परा का अनुसरण भी सम्भ

२७ सूरसा०; दश०, पद ४२५

जा सकता है। इन अलौकिक चित्रों में भी दो प्रवृत्तियाँ प्रत्यक्ष हैं। एक में सौन्दर्य की रूप भावना है और प्रकृति उपमानों द्वारा उल्लेख किया गया है। इसमें अधिकतर रूपकातिशयोक्ति का प्रयोग किया जाता है जिसमें उपमेय अदृश्य रहता है। केवल उपमानों से चित्र अलौकिक हो उठता है। पर अलौकिक सौन्दर्य की ओर संकेत करते हैं—'उस सौन्दर्य को देखो, कैसा अद्भुत है—एक कमल के मध्य में बीस चन्द्रमा का समूह दिखाई देता है एक शुक है, मीन है और दो सुन्दर सूर्य भी हैं।'[२८] इसी प्रकार दूसरे स्थल पर—

"नंद नंदन मुख देखो माई।

अंग अंग छवि मनहु उये रवि शशि अरु समर लजाई।

खंजन मनि कुरंग भृंग वारिज पर अति रुचि पाई।"[२९]

आदि में उपमानों की विचित्र योजना अलौकिक सौन्दर्य की व्यंजना करती है। दूसरे प्रकार के चित्रों में रहस्य की भावना अलौकिकता के साथ पाई जाती है। इसमें अलौकिकता के आधार पर सौन्दर्य के विचित्र सामञ्जस्यों का रूप आता है। एक सीमा तक इनमें उलटबाँसियों का भाव मिलता है और यह सूर के समस्त दृष्टकूटों के रूप-चित्रों के बारे में कहा जा सकता है। यह भाव विद्यापति के पदों में भी है, इससे यह प्राचीन परम्परा का अनुसरण लगता है। विचित्रता का आकर्षण इसका प्रमुख आधार है। जब सूर कहते हैं—'यह सौन्दर्य तो अनोखा बाग है। दो कमलों पर गज क्रीड़ा करता है और उस पर प्रेम पूर्वक सिंह विचरण करता है सिंह पर सरोवर है, सरोवर के किनारे गिरिवर है जिस पर कमल पुष्पित है। उसपर सुन्दर कपोत बसे हैं और उनपर अमृत फल लगे हैं। फल पर पुष्प लगा है, पुष्प पर पत्ते लगे हैं और उसपर शुक, पिक, हिरन और

---

२८ वही; वही, पृ० १३६—'देखो सखी अद्भुत रूप अनूप।'

२९ वही; वही, पद ७१२

है।[३१] इसमें शोभा और शृंगार में सौन्दर्य अरूप और अनन्त हो गया है। आगे के चित्र में सौन्दर्य की अमूर्त भावना अधिक प्रत्यक्ष है—

"दूलह राम, सीय दुलही री।
घन-दामिनि वर बरन-हरन मन सुन्दरता नखसिख निबही, री।
सुखमा-सुरभि सिंगार-छीर दुह मयन अमिय-मय कियो है दही, री।
मथि माखन सिय राम सँवारे, सकल-भुवन-छवि मनहुँ मही, री।
तुलसीदास जोरी देखत सुख सोभा अतुल न जाति कही, री।
रूप-रासि बिरची बिरंचि मनो सिला लवनि रति-काम लही, री॥"[३२]

परन्तु सूर के युगल-चित्रों में गतिशीलता तथा अलौकिकता अधिक है और अरूप तथा अमूर्त की भावना उससे व्यंजित है। साथ ही इनमें संयोग मिलन का रूप अधिक है। क्रीड़ा में, विहार में, लीला में, रास और विलास में राधा और कृष्ण की संयुक्त भावना भक्त के सामने आ जाती है। जिन प्रकृति रूपों की उद्भावना से इन चित्रों को प्रस्तुत किया गया है, उनमें चेतन भावशीलता के साथ गतिमय उल्लास सन्निहित है। प्रकृतिवादी तादात्म्य की मनःस्थिति में प्रकृति सौन्दर्य की यही स्थिति रहती है। भेद यह है कि प्रकृतिवादी साधक दृश्यात्मक सौन्दर्य से अनन्तर सौन्दर्य की ओर बढ़ कर उससे तादात्म्य स्थापित करता है, उसके लिए प्रकृति आलंबन है, प्रत्यक्ष है। भक्त कवि के लिए आराध्य का रूप प्रत्यक्ष है, प्रकृति-रूपों का प्रयोग उसको व्यक्त करने के लिए उपकरण के समान है। यही कारण है कि भक्त की अपने आराध्य से तादात्म्य स्थापित करने की भावना युगल-रूप के संयोग में अभिव्यक्ति ग्रहण करती है। यमुना में क्रीड़ा करते राधा-कृष्ण का चित्र सूर के सामने है—'उन्मुक्त रूप

३१ गीता०; तुल्सी : बा०, पद १०३
३२ वही; वही : बा०, पद १०४

देने में प्रकृति रूपों का महत्वपूर्ण योग है।

§ १०—वैष्णव भक्तों के बाद अन्य वैष्णव कवियों की सौन्दर्य योजना के विषय में उल्लेख कर देना आवश्यक है। वस्तुतः भक्तों ने भारतीय रूप सौन्दर्य वर्णन की परम्परा को अपनी साधना में अपनाया है, जो आगे चल कर रीति कालीन वैष्णव कवियों में रूढ़िगत हो गई है।

अन्य वैष्णव कवियों में

इन कवियों में भक्तों के सौन्दर्य का अरूप और असीम भाव आराध्य के मानवी शरीर की सीमाओं में अधिक संकुचित होता गया है। सूर के बाद भक्त कवियों में क्रमशः सौन्दर्य की व्यञ्जना के स्थान पर उसका रूपाकार अधिक प्रत्यक्ष होता गया है और शरीर के साथ अलंकारों का वर्णन भी अधिक किया जाने लगा। आगे चलकर रीतिकाल में यह प्रवृत्ति अधिक बढ़ती गई है। इस काल का स्वतन्त्र भक्त कवि कृष्ण के श्याम शरीर, मोर मुकुट और मकराकृत कुण्डलों पर अधिक आसक्त है; पर रीतिकालीन कवि आकार और शृङ्गार को प्रस्तुत करने में चमत्कृत उक्तियों का आश्रय लेता है। मीरा कृष्ण के सौन्दर्य की व्यजना नहीं करतीं। उनकी प्रेम साधना अतिमानवी कृष्ण को स्वीकार करके चलती है, जिसमें मोर-मुकुटधारी श्याम के रंग में वे तल्लीन और भाव मग्न हैं। इसी प्रकार आगे के उन्मुक्त प्रेमी कवि रसखान के सामने प्रेमी का रूप है, पर उसके सौन्दर्य को अभिव्यक्त करने के लिए उनको उपकरणों को जुटाने की आवश्यकता नहीं हुई—

"कल कानन कुंडल मोर पखा उर पै बनमाल बिराजति है।
मुरली कर मैं अधरा मुसकानि तरंग महाछवि छाजति है॥
रसखान लखैं तन पीत पटा दामिनि की द्युति लाजति है।
वह बाँसुरी की धुनि कान परैं कलकानि हियो तजि भाजति है॥"[३१]

---

३१ सुन्दरीतिलक; भा० हरिश्चंद : छंद ४०१

रीतिकाल के कवियों में यह भावना शारीरिक रूप वर्णन तक सीमित हो गई और इस काल भाव भंगिमाओं तथा विविध कल्पनाओं में से सौन्दर्य केवल संबन्धित रह गया। रीतिकाल के वैष्णव कवियों के सामने आराध्य का रूप तो रहा है, पर उनकी सौन्दर्य व्यंजना कृत्रिम तथा अलंकृत हो गई है। उसमें प्रकृति उपमानों का आश्रय कम लिया गया है, साथ ही उक्ति-वैचित्र्य के निर्वाह का आग्रह बढ़ता गया है। रीतिकालीन सौन्दर्य चित्रण की परम्परा का भक्तिकाल से अलग नहीं माना जा सकता। परम्परा एक है, केवल व्यंजना में भेद है। केशव जैसे आचार्य के सामने भी कृष्ण का रूप है, चाहे वह परम्परा से ही अधिक सम्बन्धित हो—'चपला ही पट है, मोरपंख का किरीट शोभित है, ऐसे कृष्ण इन्द्रधनुष की शोभा प्राप्त करते हैं। (इस वर्षाकालीन गगन चित्र के रूप में) कृष्ण वेणु बजाते, पद गाते, अपने सखा रूपी मयूरों को नचाते हुए आते हैं। अरी, चातक के हृदय के ताप को बुझानेवाले इस रूप को देख तो सही—घनश्याम घने बादलों के रूप में वेणु धारण किए हुए बन से आ रहे हैं।'[३९] इस में स्पष्ट ही एक ओर भाव भंगिमा की ओर अधिक ध्यान दिया गया है और दूसरी ओर उक्ति निर्वाह पर कवि का विशेष ध्यान है। कभी कभी कवि आलंकारिक प्रतिभा से सौन्दर्य की कल्पना करता है—'पीत वस्त्र ओढ़े हुए श्याम ऐसे लगते हैं मानो नीलमणि पर्वत पर प्रभात का आतप पड़ गया हो' और कभी अलंकार योजना के प्रयास में सौन्दर्य अलौकिक भी जान पड़ता है—

> "लिखन बैठि जाकी सबिहि, गहि गहि गरब गरूर।
> भये न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर॥"[४०]

३९. रसिक-प्रिया; केशव ७१

४०. बिहारी-रत्नाकर; दो० २१, २६५

§११—वैष्णव भक्तों ने भगवान् को रूप और गुण की रेखाओं में बाँधकर भी उसे अद्वैत माना है और विराट रूप में उसे व्यापक असीम भी स्वीकार किया है। रामानुजाचार्य ने विश्व को ब्रह्म विवर्त मानकर सत्य माना है; जब ब्रह्म सत्य है तो उसी का रूप विश्व सर्जन भी सत्य है।

विराट-रूप की योजना

इसी सत्य को लेकर भक्तों ने भगवान् की व्यापक भावना के साथ विराट प्रकृति योजना उपस्थित की है। वल्लभाचार्य के अनुसार लीला में प्रकृति का सत् भगवान् के सत् का ही रूप है। इस प्रकार राम और कृष्ण दोनों ही भक्तों के सामने भगवान् का विराट रूप प्रत्यक्ष है जिसमें प्रकृति का समस्त विस्तार समा जाता है। प्रकृतिवादी प्रकृति में एक विराट योजना पाकर किसी व्यापक अज्ञात सत्ता का आभास पाता है। परन्तु भक्त का भगवान् अपनी विराट भावना में प्रत्यक्ष है और प्रकृति उसी के प्रसार में लीन होती जान पड़ती है। तुलसी ने राम के विराट स्वरूप का संकेत कई स्थानों पर किया है। काकभुशुंडि गरुड़ से कहते हैं—'हे पक्षिराज, उस उदर में मैंने सहस्र सहस्र ब्रह्मांडों के समूह देखे। वहाँ अनेक लोकों की सर्जना चल रही थी जिनकी रचना एक से एक विचित्र जान पड़ती थी। करोड़ों शंकर और गणेश वहाँ विद्यमान थे; वहाँ असंख्य तारागण, रवि और चन्द्रमा थे और असंख्य लोकपाल यम तथा काल थे। असंख्यों विशाल भू-मंडल और पर्वत थे और अपार वन, सर, सरि आदि थे। इस प्रकार वहाँ नाना प्रकार से सृष्टि का विस्तार हो रहा था।'[४१] इसी प्रकार भगवान् के विराट रूप की व्याप्ति कौशल्या के सामने भी है—

> "देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखंड।
> रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड॥

---

४१ रामचरितमानस; तुलसी : उत्त० दो० ८०

अगनित रवि ससि सिव चतुरानन। बहु गिरि सरित सिंधु महि कानन।
कालकर्म गुन ग्यान सुभाऊ। सोउ देखा जो सुना न काऊ॥"[४४]

समान रूप से सूर में भी भगवान् कृष्ण के विराट रूप की योजना प्रकृति में प्रतिघटित की गई है। इस विराट रूप में लगता है प्रकृति का निलय ब्रह्म भावना के साथ हो जाता है। कथानक के प्रसंग में यह चित्रण आध्यात्मिक छायान्तर का कार्य्य करता है। 'माटी को प्रसंग' में बड़ी ही स्वाभाविक स्थिति में विराट की यह भावना—

"वदन उघारि देखायो त्रिभुवन वन घन नदी सुमेर।
नभ शशि रवि मुख भीतर है सब सागर धरनी फेर॥"[४५]

आकर जननी को आश्चर्य्यचकित कर देती है और उससे 'मीठी खाटी' कुछ भी कहते नहीं बनती। सूर इस प्रसंग में कई पदों में विभिन्न भाव स्थितियों के साथ इस भावना को उपस्थित करते हैं और अंत में स्वयं कह उठते हैं—

"देखा रे यशुमति वौरानी।
जानत नाहिं जगतगुरु माधो यहि आये आपदा निशानी।
अखिल ब्रह्मांड उदर गति जाकी ज्य ति जल थलहिं समानी।"[४६]

इस प्रकार भगवान् के विराट स्वरूप में प्रकृति सर्जना समिट जाती है और यह प्रकृति में व्यापक ब्रह्म भावना का अभ्यन्तरित रूप है।

§ १२—भक्त कवियों ने अपने आराध्य के सम्पर्क में प्रकृति को आदर्श रूप में उपस्थित किया है। जब प्रकृति भगवान् के सम्पर्क में

४४ वही; वही : बा०, दो० २०१—२

४५ सूरसा०; दश०, पृ० १६५—'खेलत स्याम पौरि के बाहर—।'

४६ वही; वही, पृ० १६६—'तो देखत यशुमति तेरे ढोटा अबहीं माटी खाई।' में भी यही भावना है।

आती है या उनके सामने होती है, उस समय उसमें परिवर्तन और क्षणिकता के लिये स्थान नहीं रह जाता। इस सीमा में प्रकृति चाहे राम के निवास स्थल के रूप में हो अथवा राम राज्य में स्थित हो; उसमें चिरन्तन सौन्दर्य और सजीवता पाई जाती है। कृष्ण की लीला स्थली गोकुल हो या वृन्दावन, सर्वत्र प्रकृति में चिर वसन्त की भावना रहती है। यह प्रकृति का आदर्श रूप सभी भक्त कवियों में मिलता है। परन्तु तुलसी के राम आदर्श हैं और इनके अनुसार प्रकृति लीलामय की क्रीड़ास्थली नहीं है। इस कारण इनके प्रकृति रूपों में अधिकतर आदर्श भावना मिलती है। इनमें उल्लास भावमयी प्रकृति के स्थल कम हैं। तुलसी में आदर्श प्रकृति के स्थल वन प्रसंग में तथा राम-राज्य के प्रसंग में मिलते हैं। वाल्मीकि ने वन प्रसंग में अनेक प्रकृति-स्थलों को सुन्दर रूप से चित्रित किया है; परन्तु तुलसी के सामने राम का लेकर ही सब कुछ है। यदि प्रकृति है तो वह भी राम को लेकर ही। उसमें यथातथ्य चित्रण नहीं, भगवान् के साथ, वह चिर नवीन और चिरन्तन है—'वह वन पथ और पर्वत मार्ग धन्य है जहाँ प्रभु ने चरण रखे हैं। वन में विचरण करनेवाले विहग और मृग धन्य हैं जिन्होंने प्रभु के सौन्दर्य को देखा है।' आगे यह वर्णन इस प्रकार है—'जब से राम इस वन में आकर रहे हैं, तभी से वन प्रकृति आनन्दमयी हो गई है। नाना प्रकार के वृक्ष फलने फूलने लगे; सुन्दर बेलियों के वितान आच्छादित हो गए; सभी वृक्ष कामतरु हो गए; मानों देववन छोड़कर चले आए हैं। सुन्दर भ्रमरावलियाँ गुंजार करती हैं और सुखद त्रिविध समीर चलता है। नीलकंठ तथा अन्य मधुर स्वर वाले शुक, चातक, चकोर आदि भाँति भाँति के पक्षी कानों को सुख देते हैं।'[४७] इसी प्रकार राम के मार्ग में प्रकृति चिरंतन आदर्श

प्रकृति का आदर्श रूप

[४७] रामच०; तुलसी : अयो०, दो० १३६-७

भावना के साथ विसरी है—

"राम सैल वन देखन जाहीं। जँह सुख सकल सकल दुख नाहीं।
भरना भरहिं सुधासम वारी। त्रिविध तापहर त्रिविध बयारी।
विटप वेलि तृन अगनित जाती। फूल प्रसून पल्लव बहु भाँती।
सुन्दर सिला सुखद तरु छाहीं। जाइ बरनि वन छबि केहि पाहीं।
सरनि सरोरुह जल विहग, कूजत गुंजत भृंग।
बैर बिगत बिहरत बिपिन, मृग बिहंग बहुरंग॥"[४८]

इस चित्र में आदर्श-भावना के साथ भगवान् के सामीप्य का सुख भी मिला हुआ है। गीतावली में चित्रकूट-वर्णन के प्रसंग में एक चित्र इस आदर्श से भी युक्त है।[४९] परन्तु प्रकृति की यह निरन्तरता, चिरनवीनता और आदर्श कल्पना राम के व्यक्तित्व से ही संबन्धित है। राम के अयोध्या लौट आने पर, राम-राज्य के अन्तर्गत प्रकृति में यही आदर्श-कल्पना सन्निहित है—'वन में सदा ही वृक्ष फूलते फलते हैं; एक साथ हाथी और सिंह रहते हैं। खग-मृगों ने स्वाभाविक अपना द्वेष-भाव भुला दिया है, सबमें परस्पर प्रीति बढ़ गई है। नाना भाँति के पक्षी कूजते हैं और अनेक प्रकार के पशु आनन्द-पूर्वक वन में विचरण करते हैं। शीतल सुगन्धित पवन मन्दगति से प्रवाहित होता है।

---

४८ वही; वही : वही, दो० २४९

४९ गीता०; तुलसी : अयो०, पद ४४—
'चित्रकूट अति विचित्र, सुंदर बन महि पवित्र।
पावनि पय सरित सकल, मल निकंदिनी॥
मधुकर पिक बरहि मुखर, सुंदर गिरि निर्झर झर।
जलकन घन छाँह, छन प्रभा न भान की॥
सब ऋतु ऋतुपति प्रभाउ, संतत बहै त्रिविध बाउ।
जनु बिहार-बाटिका नृप पंच बान की॥"

भ्रमर गुञ्जारता हुआ मकरंद लेकर उड़ता है।"[५०] इस आदर्श रूप में राम-राज्य की व्यवस्था का भाव भी छिपा है। प्रकृति भगवान् के सामने अपनी चिरंतना में मग्न है, साथ ही राम राज्य के आदर्श के समानान्तर भी दिखाई देती है। 'गीतावली' के उत्तरकांड में इस प्रकार का प्रकृति-रूप आया है। तुलसी भक्ति को राम से अधिक महत्त्व देते हैं। इसी के अनुसार काकभुशुंडि के आश्रम का प्रकृति-वातावरण भक्ति के प्रभाव से द्वंद्वों और माया की नश्वरता से मुक्त है—

"सीतल अमल मधुर जल जलज विपुल बहुरंग।
कूजत कलरव हंस गन गुञ्जत मंजुल भृंग॥"[५१]

यह आश्रम अपनी स्थिरता में चिरंतन और अपने सौन्दर्य में चिरनवीन है।

क—कृष्ण-भक्त कवियों ने भी भगवान् के संसर्ग में प्रकृति को आदर्श रूप में उपस्थित किया है। परन्तु इनमें लीला की भावना प्रमुख है और इसलिए इनके काव्य में प्रकृति लीला की पृष्ठ-भूमि के रूप में प्रभावित, मुग्ध या उल्लासित हो उठती है। इन सभी कवियों ने वृन्दावन, यमुना, गोकुल आदि की आदर्श कल्पना की है। ये स्थल कृष्ण की नित्य लीला से संबन्धित होने के कारण चिरंतन प्रकृति के रूप हैं। सूर आदर्श वृन्दावन की कल्पना करते हैं—

कृष्ण-काव्य में

"वृन्दावन निजधाम कृपा करि तहाँ दिखायो।
सब दिन जहाँ बसत बसन्त वृन्दन सों छायो॥
कुंज अद्भुत रमणीय तहाँ बेलि सुभग रहीं छाइ।
गिरि गोवर्धन धातुमय झरना झरत सुभाइ॥

---

५० रामच०; तुलसी: उत्त०, दो० २३

५१ वही; वही: वही, दो० ५६

कालिंदी जल अमृत प्रफुल्लित कमल सुहाई।
नगन जटित दोउ कूल हंस सारस तहँ छाई॥
क्रीड़त श्याम किशोर तहाँ लिए गोपिका साथ।
निरखि सो छवि श्रुति थकित भई तब बोले यदुनाथ॥'[५२]

यही वृन्दावन है जिसमें कृष्ण की नित्य-लीला होती है और जहाँ भक्त भगवान् की लीला में आनन्द लेते हैं। परमानन्द भी इसी वृन्दावन में चिर सौन्दर्यमयी प्रकृति की आदर्श कल्पना करते हैं—'जिसका मंजुल प्रवाह है और अवगाहन सुखद है, ऐसी यमुना सुशोभित है। इसमें श्याम लहर चंचल होकर झलकती है और मंदवायु से प्रवाहित होती है। जिसमें कुमुद और कमलों का विकास हो रहा है; दसों दिशाएँ सुवासित हो रही हैं। भ्रमर गुञ्जार करते हैं और हंस तथा कोक का शब्द छन्दायमान हो रहा है।...ऐसे यमुना के तट पर रहने की कामना कौन नहीं करता।'[५३] यह यमुना का तट साधारण नहीं है; यह अपनी कल्पना में आध्यात्मिक लीला भूमि है। आगे परमानन्द वृन्दावन की आदर्श उद्भावना करते हैं—'वन प्रफुल्लित है—यमुना की तरंगों में अनेक रंग झलकते हैं। सघन सुगन्धित हृदय अत्यंत प्रसन्न करनेवाला सुहावना है। चिंतामणि और सुवर्ण से जटित भूमि है जिसकी छवि अद्भुत है। झूमती हुई लता से शीतलमंद सुगन्धित पवन आती है। सारस, हंस, शुक और चकोर चित्रमय नृत्य करते हैं और मोर, कपोत, कोकिल सुन्दर मधुर गान करते हैं। युगल रसिक के श्रेष्ठ विहार की स्थली अपार छविवाली वृन्दा-भूमि मन-भावनी है, उसकी जय हो।'[५४] गोविन्ददास युगल-आराध्य की लीला भूमि को चिर-वर्णन की भावना से युक्त करके चित्रित करते हैं—

---

५२ सूरसा०; दशं०, पृ० ४९२
५३ कीर्तं० (भाग १ उत्स०) : पृ० ८—'अति मंजुल जलप्रवाह'
५४ वही (वही) : पृ० ८—'प्रफुल्लित बन विविध रंग'.

"ललित गति विलास हास दपति अति मन हुलास।
विगलित कच सुमन-वास स्फुरित-कुसुम निकर हैसोहि शरदरैन भुनाई।
नव निकुंज भ्रमरगुञ्ज कोकिला-कल कूजित पुञ्ज सीतलसुगंध मंद बहत पवन सुखदाई।"[५५]

यह प्रकृति का आदर्श चित्र लीला की पृष्ठ-भूमि है और आध्यात्मिक वातावरण से युक्त है। इसी प्रकार रास के अवसर पर यमुना पुलिन का चित्र कृष्णदास के सामने है—'यमुना-पुलिन के मध्य में रास रचा हुआ है; जल की शीतलता के साथ मन्द मलय पवन प्रवाहित हो रहा है;पुष्पों के समूह फूल रहे हैं। शरद की चाँदनी फैली है, भ्रमरावली जैसे चरणों की वन्दना कर रही है...कृष्ण की गयंदगति मानो शरद-चन्द्र के लिए फंदा है।'[५६] यहाँ अनुकूल वातावरण उत्पन्न करने के साथ प्रकृति में आदर्श कल्पना है। यह समस्त प्रकृति का रूप यथार्थ से भिन्न होकर अलौकिक नहीं है। इनमें यथार्थ की चिरनवीन और अनश्वर स्थिति को आदर्श के रूप में स्वीकार किया गया है। कृष्ण-भक्तों ने इस रूप की रूप रंग आदि की गम्भीर प्रभावशीलता के साथ व्यक्त किया है; जब कि तुलसी के आदर्श में नियमन की भावना सन्निहित है।

§ १३—हम कह चुके हैं कि सगुण भक्तों के लिए प्रकृति की सार्थकता और उसका अस्तित्व भगवान की कल्पना को लेकर है।

प्रभावात्मक क्रीड़ाशील प्रकृति

भगवान् धराधाम पर लीला या चरित्र करने अवतरित हुए हैं—और प्रकृति उनसे प्रभाव ग्रहण करती रहती है। भगवान् के सामने प्रकृति किस प्रकार गतिमान् और क्रियाशील है, इसी ओर भक्तों का ध्यान जाता है। प्रकृतिवादी कवि अपने समक्ष प्रकृति में सहानुभूति और सचेतना का प्रसार पाकर उल्लसित या मुग्ध-मौन हो जाता है। वस्तुतः यह

५५ वही (वही) : पृ० ३०२
५६ वही (वही) : पृ ३०१

उसी की अन्तः चेतना का बाह्य प्रतिबिंब मात्र है जो प्रकृति से तादात्म्य करता जान पड़ता है। इसी प्रकार की भावना दूसरे प्रकार से सगुण भक्तों के प्रकृति रूपों में मिलती है। प्रकृतिवादी के लिए आलंबन प्रकृति है और तादात्म्य की भाव स्थिति कवि की आत्म चेतना है। परन्तु यहाँ भगवान् के आलंबन रूप के साथ प्रकृति सहचरी मात्र है। इस कारण प्रकृति का रूप भगवान् की भावना से प्रभावित होता है और उसी से तादात्म्य स्थापित करता है। इस स्थिति में प्रकृति की सारी प्रभावशीलता, मुग्धता और उल्लास भगवान् के सामीप्य को लेकर है। प्रकृति का स्थान गौण होने के कारण, उसका चित्र प्रमुख भी नहीं होने पाया है। इस प्रसंग में यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि तुलसी की भक्ति-भावना में लीला के स्थान पर चरित्र का महत्त्व है। इस प्रकार तुलसी के प्रकृति-रूपों में उल्लास की भावना या मुग्धता का भाव नहीं मिलता जो कृष्ण के लीलामय रूप से संबन्धित है। तुलसी में भगवान् के ऐश्वर्य्य से प्रभावित और क्रियाशील प्रकृति का रूप अवश्य मिलता है और यह उनकी चरित्र साधना के अनुरूप भी है।

क—राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति दोनों ही परम्पराओं में प्रकृति प्रभाव ग्रहण करती हुई उपस्थित हुई है। बार-बार आकाश से पुष्प-वर्षा होती है; आकाश में देव विमानों पर आ जाते हैं; गन्धर्व गान करने लगते हैं। ये सब अति प्राकृतिक रूप हैं जिनसे भगवान् का ऐश्वर्य्य प्रदर्शित होता है। तुलसी ने चित्रकूट में प्रकृति को राम के संकेत पर क्रियाशील उपस्थित किया है, जिसमें ऐश्वर्य्य की भावना व्यंजित होती है।—'विपुल और विचित्र पशु-पक्षियों का समाज राम की प्रजा है।...अनेक पशु आपस में वैर छोड़कर चरते हैं, मानों राम की चतुरंगनी सेना ही हो। झरना झरते हैं और मत्त हाथी गरजते हैं, ऐसा लगता है विविध निशान बजते हैं। चक्रवाक, चकोर, चातक, शुक, पिक के समूह कूजन

ऐश्वर्य्य का प्रभाव

करते हैं मराल भी प्रसन्न मन है। भ्रमर समूह गान कर रहे हैं और मोर नाचते हैं। और मानों सुराज का मंगल चारों ओर फैला हुआ है।"[५७] यह वर्णना आदर्श रूप के समान है, पर इसमें व्यंजना राम के ऐश्वर्य के प्रभाव की ध्वनित होती है। इसी प्रकार एक प्रकृति का चित्र गीतावली में भी है; उसमें भगवान् के असीम ऐश्वर्य का प्रभाव प्रकृति पर प्रतिबिम्बित हो रहा है—

"आइ रहे जब तें दोउ भाई।

उकठेउ हरित भए जल-थलरुह नित नूतन राजीव सुहाई।

फूलत फलत पल्लवत पलुहत बिटप बेलि अभिमत सुखदाई।

सरित सरनि सरसीरुह संकुल सदन सँवारि रमा जनु छाई।

कूजत बिहंग मंजु गुंजत अलि जात पथिक जनु लेत बुलाई।"[५८]

जहाँ तक प्रकृति का भगवान् के प्रभाव से आन्दोलित हो उठने का प्रश्न है, तुलसी में ऐसे स्थल कम हैं। धनुष भंग होने के समय अवश्य एक बार विश्व सर्जन जैसे अस्थिर हो उठता है और इसी प्रकार जब राम सिन्धु पर क्रुद्ध होकर बाण सधानते हैं, उस समय समुद्र का अस्तित्व स्थिर हो जाता है। भगवान् राम का ऐश्वर्य रूप में जभी कुछ आक्रोश होता है तुलसी की प्रकृति भयभीत और आन्दोलित हो उठती है—

"जब रघुबीर पयानो कीन्हो।

छुभित सिंधु डगमगत महीधर सजि सारँग कर लीन्हो।

सुनि कठोर टंकोर घोर अति चौंके बिधि त्रिपुरारि।

पवन पंगु पावक पतंग ससि दुरि गए थके बिमान।"[५९]

इसी प्रकार प्रकृति भगवान् के इंगित पर चलती है और वह भक्त

---

५७ रामच०; तुलसी : अयो० दो० २३६

५८ गीता०; वही : अयो० पद ४६

५९ वही; वही; सुन्दर०, पद २५

की अपनी दृष्टि है।

ग—सूर तथा अन्य कृष्ण भक्तों ने भी भगवान् के प्रभाव में प्रकृति को क्रियाशील दिखाया है। ऐसे स्थलों पर वह कृष्ण की शक्ति से संचालित लगती है या उसमें प्रेरित जान पड़ती है। अगले प्रकृति के मुग्ध या उल्लसित रूपों पर लीला की प्रेरणा भी भगवान् का किसी न किसी प्रकार का प्रभाव है। परन्तु यहाँ प्रभाव से हमारा अर्थ है, प्रकृति का भगवान् की शक्ति से प्रेरित तथा क्रियाशील होना। बाल रूप कृष्ण अँगूठा मुँह में डालते हैं और—'सिंधु उछलने लगा, कमठ अकुलाकर काँपने लगा। हरि के पद पीते ही, शेष अपने सहस्रों फनों से डोलने लगा। वट वृक्ष बढ़ने लगा; देवता आकुल हो उठे आकाश में घोर उत्पात होने लगा—महाप्रलय के मेघ जहाँ तहाँ आघात करके गरज उठे।'[६०] इसी प्रकार की एक स्थिति परमानंददास ने उपस्थित की है। वसुदेव कृष्ण को लेकर भादों की अँधेरी रात में गोकुल जा रहे हैं और प्रकृति भगवान् की प्रेरणा से संचलित होती है—

"आठें भादों की अँधियारी।
गरजत गगन दामिनी कौंधति गोकल चले मुरारी।
शेष सहस्र फन बूँद निवारत सेत छत्र सिर तान्यो।
वसुदेव अंक मध्य जगजीवन कहा करेगो पान्यो।
यमुना थाह भई तिहि औसर आवत जात न जान्यो।"[६१]

इन प्रकृति-रूपों के अतिरिक्त कृष्ण कंस के भेजे हुए जिन दैत्यों से ब्रज की रक्षा करते हैं वे प्रकृति संबन्धी प्रकोपों में प्रकट होते हैं और उनको विध्वस्त करने में भगवान् की शक्ति का परिचय मिलता है। यह तो पहले ही संकेत किया गया है कि भगवान् की लीला

---

६० सूरसा०; दश०; पृ० १३६—'चरण गहे अँगुठा मुख मेलत।'
६१ कीर्तं० (भाग १ उत्त०) : पृ० ९१

पर आकाश के देवता तथा अन्य प्रकृति से संबन्धित पात्र जय जयकार करने लगते हैं।

§ १४—हम जिस प्रकृति-रूप का उल्लेख करने जा रहे हैं, उसके आधार में आचार्य वल्लभ की लीला-भावना है। वल्लभ के अनुसार चित् और आनन्द से अलग प्रकृति सत् मात्र है। परन्तु जिस प्रकार जीव भगवान् की लीला में भाग लेकर आनन्द प्राप्त करता है; उसी प्रकार प्रकृति इस लीला की स्थली होकर आनन्द को अपने में प्रतिबिम्बित कर लेती है। यही कारण है, जब प्रकृति कृष्ण की रास-लीला या वंशी-ध्वनि के सम्पर्क में आती है, उस समय वह मौन-मुग्ध हो उठती है। यह मुग्धता केवल मौन ही नहीं हो जाती, वरन् स्वयं में आनन्दप्रद आकर्षण बन जाती है। आगे चलकर यह आनन्द की भावना उल्लास के रूप में प्रकृति में प्रतिफलित होती है। पहले प्रकृति के उसी रूप पर विचार करना है जो मुग्ध होकर मौन हो उठता है। तुलसी में यह रूप लीला से संबन्धित न होकर रूप-सौन्दर्य से सम्बन्धित है—वन में मृगया खेलते हुए राम सुशोभित हैं, वह छवि वर्णन करते नहीं बनती। मृग और मृगी इस अलौकिक रूप को देखकर, न तो हिलते हैं और न भागते हैं। उनको वह रूप पंचशायक धारण किए हुए कामदेव लगता है।[१२] भगवान् की लीला के सम पर प्रकृति का रूप कृष्ण भक्त कवियों में ही आ सका है। यहाँ फिर प्रकृतिवादी दृष्टि से एक बार सामञ्जस्य स्थापित किया जा सकता है। प्रकृतिवादी अपनी साधना में प्रकृति के माध्यम से एक ऐसा सम प्राप्त करता है कि उस भाव-स्थिति में प्रकृति तादात्म्य स्थापित करती हुई मुग्ध लगती है और आगे चल कर साधक के आनन्द का प्रतिबिम्ब ग्रहण कर उल्लसित भी होती है। परन्तु भक्त

लीला के समक्ष प्रकृति

---

[१२] कवितावली; तुलसी : अयो०, छंद २०

के सामने आराध्य का लीलामय रूप है, उसमें वह अपने मन का रूप ढूँढ़ता चलता है। लीला के इसी क्रम पर उसको प्रकृति मुग्ध-मौन है और आनन्द भावना में उल्लसित भी। प्रकृति के इस रूप को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है, यद्यपि इन रूपों में एक दूसरे का अन्तर्भाव है। कुछ स्थलों पर प्रकृति कृष्ण की वंशी के प्रभाव से मुग्ध है और कहीं रास के समक्ष मौन चकित है। इसके अतिरिक्त प्रकृति कभी वंशी के प्रभाव से और कभी रास की क्रीड़ा से उल्लसित जान पड़ती है। इस प्रकृति-रूप पर आनन्द का प्रतिबिंब माना जा सकता है।

स्तब्ध और मौन-मुग्ध

क—कृष्ण-भक्त कवियों के लिए वंशी भगवान् की आकर्षण-शक्ति का प्रतीक रही है, उसी से समस्त सर्जन भगवान् की लीला की ओर आकर्षित होता है। यही कारण है कि वंशी की ध्वनि के प्रभाव से प्रकृति स्तब्ध है। सूर कहते हैं—'मेरे श्याम ने जब मुरली अधरों पर रख ली, उसकी ध्वनि सुन कर सिद्धों की समाधि टूट गई। सुन कर देव विमान चकित हो गए, देव नारियाँ स्तब्ध चित्र-लिखित रह गईं। ग्रह-नक्षत्र [illegible] हो उठे...इसी ध्वनि से बँधे हुए हैं। आनन्द उमंग से पृथ्वी के समुद्र के पवन चलायमान हो गए। गिरि की गति [illegible] गई, वेणु की गति-कल्पना से झरना झरने लगे, गंधर्व [illegible] गान में मुग्ध हो गए। सुन कर पक्षी और मृग मौन हो गए, और तृण खाना भूल गए।......द्रुम और [illegible] चंचल [illegible] और उनमें किसलय प्रकट हो गए। [illegible] निकट आने को अकुलाते हैं।......सुन कर पवन [illegible] चकित [illegible] और नदी का प्रवाह [illegible] कर स्थिर हो गया।'[११] [illegible] प्रकृति-रूप में मुग्ध तथा स्तब्ध रह जाने का भाव अधिक स्पष्ट है।

---

११ सूरसा० ; दश०, पृ० ११५—मेरे साँवरे जब मुरली अधर धरी

है, फिर भी इसमें उल्लास का भाव निहित है। रास के अवसर पर मुरली का प्रभाव अधिक व्यापक और मुग्धकारी है; साथ ही आह्लाद की भावना भी मिली हुई है—

> 'मुरली सुनत अचल चले।
> थके चर जल भरत पाहन विफल वृन्तन फले।
> पय स्रवत गोधननि थनते प्रेम पुलकित गात।
> झुरे द्रुम अंकुरित पल्लव विटप चंचल पात।
> सुनत खग मृग मौन साध्यो चित्त की अनुहारि।'[९४]

वस्तुत: प्रकृति की यह स्तब्ध-मौन स्थिति भी उल्लास की अतिशय भावना को लेकर है; केवल उल्लासमय प्रकृति रूपों में प्रकृति की सप्राणता और गतिशीलता अधिक प्रत्यक्ष हो उठती है। यही कारण है कि प्रकृति के इन मुग्ध चित्रों में उल्लास का भाव मिल गया है। कृष्णदास रास के अवसर पर वंशी-ध्वनि के प्रभाव का उल्लेख करते हैं— आज नदनंदन गोवर्धन धारण करने वाले कृष्ण ने यमुना के पुलिन पर अधरों पर वंशी रखी—जिसको सुन कर देवांगनाएँ अपना घर छोड़ कर आकाश से फूल बरसाने लगीं; इस ध्वनि को सुन कर बछड़े, पक्षी और मृग सभी ध्यान मग्न हो गए, सभी द्रुम-बेलियाँ प्रफुल्लित हो गई......कमल-वदन को देख कर सहस्रों कामदेव मोहित हो गए।'[९५] इस चित्र में मुग्ध-भाव के अन्तर्गत ही प्रकृति की तीन स्थितियों का समन्वय है—प्रकृति स्तब्ध है उल्लासित है और भ्रमित भी है। हितहरिवंश भी इसी प्रकार के प्रकृति रूप की ओर संकेत करते हैं—

> 'मोहनी मदन गोपाल लाल की बाँसुरी।

---

९४ वही; वही पृ० ४४१

९५ कीर्त० (भाग २ सप्त०); पृ० ३०२—'आज नदनंदन गोविंद गिरिवर धरन'

"देखु राम पथिक नाचत मुदित मोर ।
मानत मनहुँ सतड़ित ललित घन धनु सुरधनु गरजनि टंकोर ।
कँपे कलाप वर बरहि फिरावत गावत कल कोकिल किसोर ॥
जहँ जहँ प्रभु विचरत तहँ तहँ सुख दंडक वन कौतुक न थोर ।
सघन छाँह तम-रुचिर रजनी भ्रम बदन-चंद चितवत चकोर ।
तुलसी मुनि खग मृगनि सराहत भए हैं सुकृत सब इन्ह की ओर ॥"[६८]

इस प्रकृति में उल्लास की भावना भगवान के रूप और सामीप्य से संबन्धित है। परन्तु कृष्ण-काव्य में प्रकृति का रूप भगवान् की लीला से तादात्म्य स्थापित करता है। वंशी वादन और रास लीला के प्रसंग में प्रकृति के अधिकांश चित्रों में मुग्ध भाव के साथ उल्लास भी सन्निहित है। हितहरिवंश रास के प्रसंग में प्रकृति का उल्लेख करते हैं—'यमुना के तट पर आज गोपाल रसमय रास क्रीड़ा करते हैं। शरद-चन्द्र आकाश में सुशोभित हो गया है, चंपक, बकुल, मालती के पुष्प मुकुलित हो रहे हैं और उन पर प्रसन्न भ्रमरों की भीड़ है। इन्द्र प्रसन्न होकर निशान बजाते हैं जिसको सुनकर मुनियों का भी धैर्य छूटता है। मग्नमना श्यामा मन की पीड़ा को हरती है।'[६९] यहाँ प्रकृति की क्रियाशीलता में उल्लास की व्यञ्जना हुई है। गदाधर भी इसी प्रकार के प्रकृति रूप का संकेत देते हैं—'आज मोहन ने रास-मंडली रची है। पूर्ण चन्द्र उदित है, निर्मल निशा है और यमुना का सुन्दर किनारा है। पवन के संचरण से द्रुम पंखे के समान जान पड़ते हैं ......कुंद, मंदार और कमल के मकरन्द से आच्छादित कुंज-पुंजों में भ्रमर सुन्दर गुंजार करते हैं।'[७०] इन प्रसंगों के अतिरिक्त वसंत, फाग और हिंडोला आदि लीलाओं में भी प्रकृति

---

६८ गीता०; तुलसी : अर० पद १

६९ कीर्त० (भाग १) : पृ० २०७

७० वही; पृ० २२४—'आज मोहन रची रासमंडली।'

भावमग्न चित्रित की गई है। परन्तु ऊपर के दोनों प्रसंग आध्यात्मिक भावना से अधिक संबन्धित हैं और उनमें लीलामय भगवान के सम्पर्क में प्रकृति के सत् को 'चिदानन्द' की ओर आवर्तित होते दिखाया गया है। वसंत आदि के प्रसंगों में प्रकृति का उल्लास उद्दीपन भावना से प्रभावित है और इन पर प्रचलित परम्पराओं का अधिक प्रभाव है। इनमें प्रकृति का प्रयोग भक्तों की मनःस्थिति में भगवान की शृंगार-लीला के लिए प्रकृति उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत प्रयुक्त हुई है। नंददास वसंत के उल्लास का रूप उपस्थित करते हैं—

"चल बन देख सयानी यमुना तट ठाढ़ो छैल गुमानी।
फूले कदम्ब गहर पलास द्रुम त्रिविध पवन-सुखकारी॥
बहुरंग कुसुम पराग बहक रह्यो अलि लंपट गुंजत मृदुबानी।
करि कपोत कोकिला ध्वनि सुनि ऋतु वसन्त लहकानी॥"[७१]

यहाँ प्रकृति की भावात्मकता अन्य भाव स्थिति को लेकर है, इसलिए इन रूपों की विवेचना 'उद्दीपन विभाव में प्रकृति' नामक प्रकरण में की जायगी। फिर भी भगवान की शृङ्गार लीला में यह प्रकृति-रूप आध्यात्मिक भावना को उद्दीप्त करने के लिए ही प्रयुक्त हुआ है।

× × ×

इस समस्त विवेचना के पश्चात् हम देखते हैं कि मध्ययुग में आध्यात्मिक साधना में प्रकृति रूपों का प्रयोग अनेक प्रकार से किया गया है। इन रूपों में प्रकृति प्रमुख नहीं है अर्थात् यह आलंबन प्रमुखतः नहीं है। फिर भी रूपों में अनेकता और विविधता है और व्यापक दृष्टि से भगवान के माध्यम से प्रकृति को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। साथ ही इन कवियों तथा प्रकृतिवादियों के प्रकृति-रूपों में एक प्रकार की समानान्तरता भी देखी जा सकती है।

---

७१ वही; पृ० १२२

षष्ठम् प्रकरण

विभिन्न काव्य-रूपों में प्रकृति

१—हिन्दी साहित्य के मध्ययुग की प्रमुख प्रवृत्तियों के विषय में र करते समय उस युग की स्वच्छंदवादी भाव धारा की ओर भी संकेत किया गया है। साथ ही उसकी विरोधी शक्तियों का उल्लेख किया गया है। इस पिछली

की परम्पराएँ

ना के आधार पर मध्ययुग के विभिन्न काव्य रूपों और उनमें प्रकृति-रूपों पर विचार करना है। मध्ययुग के धार्मिक काल को साहित्यिक अनुकरण की प्रवृत्ति मिलती है, जो आगे चलकर ाल में प्रमुख हो उठी है। इस कारण धार्मिक साहित्य में भी के रूपों का प्रयोग साहित्यिक रूढ़ियों के अन्तर्गत हुआ है। कहा गया है कि मध्ययुग के काव्य में प्रकृति के अनेक स्वच्छंद उन्मुक्त रूप मिलते हैं। मध्ययुग के पूर्वार्द्ध धार्मिक काल में ंद भावना का योग विभिन्न काव्य-रूपों में विभिन्न प्रकार से हुआ

षष्ठम् प्रकरण

विभिन्न काव्य-रूपों में प्रकृति

§ १—हिन्दी साहित्य के मध्ययुग की प्रमुख प्रवृत्तियों के विषय मे
विचार करते समय उस युग की स्वच्छंदवादी भाव धारा की ओर भी
संकेत किया गया है। साथ ही उसकी विरोधी
काव्य की परम्पराएं
शक्तियों का उल्लेख किया गया है। इस पिछली
विवेचना के आधार पर मध्ययुग के विभिन्न काव्य रूपों और उनमे
प्रयुक्त प्रकृति-रूपों पर विचार करना है। मध्ययुग के धार्मिक काल
में हमको साहित्यिक अनुकरण की प्रवृत्ति मिलती है, जो आगे चलकर
रीतिकाल मे प्रमुख हो उठी है। इस कारण धार्मिक साहित्य में भी
प्रकृति के रूपों का प्रयोग साहित्यिक रूढ़ियों के अन्तर्गत हुआ है
यद्यपि कहा गया है कि मध्ययुग के काव्य में प्रकृति के अनेक स्वच्छंद
और उन्मुक्त रूप मिलते हैं। मध्ययुग के पूर्वार्द्ध धार्मिक काल मे
स्वच्छंद भावना का योग विभिन्न काव्य-रूपों में विभिन्न प्रकार से हुआ

चल रही थी और उनका रूप अधिक अलंकृत होता जा रहा था, उसी समय अपभ्रंश साहित्य में रामायण और महाभारत के समान चरित काव्यों (प्रबन्ध काव्यों) का प्रचार हो गया था। इन चरित काव्यों के प्रचार का कारण, जैनों का इस माध्यम से अपने धर्म को जनता तक पहुँचाने का विचार था। इन काव्यों में दोहा चौपाई छंद का प्रयोग भी मिलता है। इनके विषय में एक प्रमुख बात यह है कि इनमें कलात्मकता तथा आलंकारिता से अधिक ध्यान कथा और धार्मिक सिद्धान्तों की ओर दिया गया है। फिर भी अपभ्रंश के कवियों के सामने साहित्यिक परम्परा अवश्य थी। वर्णनों को लेकर यह बात स्पष्ट है, इनमें ऋतुओं, वन पर्वतों तथा प्रातः सन्ध्या आदि का वर्णन संस्कृत काव्यों के समान मिलता है। लेकिन ऐसा होने पर भी इन गाथा-काव्यों में कथात्मकता को लेकर जन रुचि का ध्यान है साथ ही प्रकृति रूपों में स्थान स्थान पर स्वच्छंद भावना है और वर्णना में स्थानगत विशेषताओं का संयोग हुआ है। कथा के प्रति आकर्षण जनता की स्वाभाविक रुचि है। जनगीतों में भी लोक प्रचलित कथाओं का आधार रहता है। जनगीतों की कथाओं में भावों का प्रगुम्फन और प्रकृति का वातावरण भी उन्मुक्त और स्वच्छंद रहता है। अपभ्रंश के प्रबन्ध काव्यों में धार्मिक वातावरण है और सामन्ती कवियों में शृंगार की भावना अधिक है। इसी अपभ्रंश साहित्य के लगभग समानान्तर संस्कृत का पौराणिक साहित्य चलता है। एक सीमा तक ये दोनों साहित्य एक दूसरे से प्रभावित हुए हैं। हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक युग में रासो की परम्परा अपभ्रंश के सामन्ती वीर-काव्यों की परम्परा है। इसमें भी हमको शृंगार और वीर रस की भावना प्रमुखतः मिलती है और साहित्यिक रूढ़ियों का अनुकरण तथा अनुसरण दोनों ही पाया जाता है।

मध्ययुग के कथा-काव्य का विकास

हिन्दी साहित्य के मध्ययुग के कथा-काव्यों पर इन पिछली

पराओं का प्रभाव है। यह प्रभाव कथा और उसके रूप से संबन्धित
है ही; साथ ही राम-काव्य तथा सूफ़ी प्रेमाख्यानों में धार्मिक प्रति-
न और साहित्यिक आदर्शों का पालन भी है। परन्तु जैसा द्वितीय
रण में देखा गया है व्यापक रूप में इस युग के कथा-काव्य में
क वातावरण मिलता है। इस युग में 'ढोला मारूरा दूहा' जैसे
त्मक लोकगीत भी मिलते हैं। इसमें भावों के साथ प्रकृति को भी
क वातावरण मिल सका है। वस्तुतः इस युग की कथात्मक लोक-
ना को समझने के लिए यह काव्य बहुत महत्वपूर्ण है। प्रेम-
नों में जिनमें सूफ़ी तथा स्वतंत्र दोनों ही कथानक आ जाते हैं,
भावना प्रचलित रूपों के साथ ग्रहण की गई है। इनमें साहित्यिक
रा की झलक किसी-किसी स्थल पर मिलती है। सूफ़ियों की
ात्मिक भावना बहुत कुछ स्वच्छंद भावना से तादात्म्य स्थापित
है। तुलसी के 'रामचरितमानस' में पौराणिक धार्मिक-प्रतिपादन
के साथ साहित्यिक आदर्शों को भी अपनाया गया है। अपनी
में आदर्शवादी होने के कारण, एक सीमा तक काव्य के स्वच्छंद
वरण को अपनाकर भी तुलसी प्रकृति के प्रति उन्मुक्त नहीं हो सके
इस मध्ययुग में संस्कृत महाकाव्यों के समान कोई रचना नहीं
; लेकिन अलंकृत भावना को लिए हुए कुछ काव्य मिलते हैं।
दास की 'रामचन्द्रिका' और पृथ्वीराज की 'वेलि क्रिसन रुकमणी
स प्रकार के प्रमुख कथा-काव्य हैं। इनमें परम्परा पालन तथा
ादिता अधिक है, इसी कारण इनमें प्रकृति वर्णना अलंकृत हो
है। इन काव्यों में हम देखेंगे संस्कृत महाकाव्यों के समान प्रकृति
लों का चुनाव है और वर्णनों में वैचित्र्य की भावना भी है।

१--कथा-काव्यों में प्रेम काव्य अपनी प्रकृति और परम्परा
ही में जन-जीवन के अधिक निकट है। इनमें जन-जीवन से
त प्रेम के संयोग-वियोग, दुःख सुख के चित्रों का समावेश है।
 अनुसार इनमें जन-रुचि के अनुकूल कहानियों को लिया

गया है प्रेम काव्यों की कथात्मक शृंखला में गीति भावना का सम्मिलन हुआ है। जन-जीवन की निकटतम दुःख-सुखमयी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के उन्मुक्त और स्वच्छंद वातावरण में ही गीतियाँ पलती हैं। जीवन की छोटी परिस्थिति भावना की हलकी अभिव्यक्ति से मिलजुल कर जनगीतियों में आती है। वस्तुतः जीवन की यही परिस्थिति, भावना का यही रूप जन-कथा की लयात्मकता के साथ हिलमिल जाता है। और तब वही जन-गीति कथात्मक हो उठती है। परन्तु अपने समस्त विस्तार में जन गीति कथात्मक होकर भी कथामय नहीं हो पाती। जन-गीति और कुछ दूर तक काव्य-गीति भी, किसी वस्तु-स्थिति के आधार के रूप में ही ग्रहण करती है। यही कारण है कि इसमें कथा का रूप भाव स्थितियों को आधार देने के लिए होता है। इसमें कथा अपने आप कहीं भी प्रमुख नहीं होती। मध्ययुग के कथा काव्य का संबन्ध इन गीतियों से अवश्य रहा है। प्रबन्धात्मक कथा काव्यों की मूल प्रेरणा का स्रोत ये ही हैं। बाद में अवश्य इनको पौराणिक कथा-साहित्य का आधार और जैन कथा परम्परा का रूप मिल सका है। इन कथा काव्यों में प्रेम का उन्मुक्त वातावरण लोक प्रचलित कथा-गीतियों से अधिक संबन्धित है। इस प्रकार वे कथात्मक गीति काव्य के रूप में हमारे सामने केवल 'ढोला मारूरा दूहा' है जिसके आधार पर हम देख सकेंगे कि अन्य समस्त प्रेम कथाओं का रूप किस प्रकार की स्वच्छंद भावना से विकसित हो सका है। इस प्रकार की प्रेम कथाओं के साहित्य में दो रूप मिलते हैं। एक रूप में प्रेम कहानी को लौकिक अर्थ में ग्रहण किया गया है और दूसरे में आध्यात्मिक अर्थ में। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है। लोक कथा-गीति 'ढोला मारूरा दूहा' और अन्य प्रेम संबन्धी स्वतंत्र काव्यों में भेद है और इसको लेकर इनके प्रवृत्ति-रूपों में भी अन्तर है। प्रेमाख्यान काव्यों में कथानक संबन्धी प्रबन्ध-काव्यों की परम्परा का प्रभाव

लोक-गीति तथा प्रेम कथा-काव्य

पड़ा है और इस सीमा में स्वतंत्र तथा सूफ़ी दोनों प्रेम-काव्य की परम्पराएँ समान हैं। जहाँ तक 'ढोला मारुरा दूहा' का प्रश्न है यह कथा-काव्य के उन्मुक्त और गीति काव्य के स्वच्छंद रूप की मिश्रित वस्तु है। इस लोक गीति में प्रेम कथा और प्रेम गीति दोनों के मूल रूप निहित हैं। यही कारण है कि इसमें जो प्रकृति सम्बन्धी भावना पाई जाती है, उसका एक दिशा में विकास कथात्मक प्रेम-काव्यों में हुआ है और दूसरी दिशा में गीतियों में हो सका है।

§४ — 'ढोला मारुरा दूहा' कथा काव्य होकर भी लोक गीत के रूप में है। लोक भावना में व्यंजना ही प्रधान है, पर लोक गीति अपनी गीत्यात्मकता में वस्तु और स्थिति का आधार ग्रहण करती है। यही बात कथात्मक गीतियों को लेकर भी है। इनमें कथा की भूमि प्रेम शृंगार के संयोग वियोग पक्षों से संबन्धित रहती है। लेकिन यह कथा विभिन्न भाव व्यंजनाओं का सूक्ष्म आधार प्रदान करती है। इस कारण कथात्मक लोक गीतियों में वस्तु या स्थिति के आधार रूप में प्रकृति चित्रण को स्थान नहीं मिल सका। प्रकृति का यह रूप प्रबन्ध काव्यों और महाकाव्यों में उपस्थित होता है। फिर भी केवल आधार प्रस्तुत करने के लिए, देश काल की स्थिति का भान कराने के लिए 'ढोला मारुरा दूहा' में ऐसे चित्र आए हैं। परन्तु देश का वर्णन हो अथवा ऋतु के रूप में काल का वर्णन हो, यह प्रकृति रूप गीति की प्रवाहित भावना का आधार प्रस्तुत करने के लिए ही है। इसमें मारवाणी और मालवणी के वार्तालाप में मारू और मालव का देशगत वर्णन हुआ है। यहाँ वर्णन तो प्रशंसा और निन्दा की दृष्टि से किया गया है, लेकिन इसी के साथ रेखा चित्रों में देशों का वर्णन भी हुआ है। लोक-कवि की भावना राजस्थान के मारू प्रदेश के प्रति अधिक संवेदनशील रह सकी है। इन वर्णनों में विशेषताओं का उल्लेख अधिक है, प्रकृति-चित्रण का तो संकेत मात्र है। मालवणी निन्दा के

स्थानगत रूप-रंग
(देश)

साथ मालव प्रदेश का रेखा-चित्र उपस्थित करती है—'हे बाबा ऐसा देश जला दूँ जहाँ पानी गहरे कुओं में मिलता है और जहाँ (लोग) आधी रात में ही पुकारने लगता है मानो मनुष्य मर गया हो।...हे मारवणी, तुम्हारे देश में एक भी कष्ट दूर नहीं होता, या तो प्रवास होता है, या वर्षा नहीं होती अथवा फाका या टिड्डी पड़ता है।... जिस देश में पानी नीचे हैं, जहाँ करील और ऊँटकटारा घास ही पेड़ गिने जाते हैं, जहाँ आक और फोग के नीचे ही छाया मिलती है।'[१] इसी प्रकार मारवणी के उत्तर में मालव का हलका रंगा चित्र है—'बाबा उस देश को जला दूँ जहाँ पानी पर सेवार छाया रहता है। जहाँ न तो पनिहारियों का झुण्ड आता जाता रहता है और न कुओं पर पानी भरनेवालों का लयपूर्ण स्वर सुनाई देता है।'[२] इनमें केवल उल्लेख हैं, प्रदेशगत प्रवृत्ति का रूप नहीं आ सका है। इन संकेतों में गायक की भावना के साथ छोटे-छोटे संकेत भी पूरे चित्र की योजना रखते हैं और इन्हीं संकेतों के आधार पर गायक की कथा चलती रहती है। इसी प्रकार का एक संकेत-चित्र बीसू चारण ढोला को देता है—'मारवाड़ की रेतीली भूमि वरा के अधिक भाग में भूरे रंग की दिखाई देती है वहाँ के वन विशीर्ण और झंखाड़ हैं—चंपा उत्पन्न नहीं होता, लेकिन चंपा से भी बढ़कर अपने गुणों से सुगन्धित करनेवाली स्त्रियाँ होती हैं।'[३] ढोला मार्गस्थ कुएँ का उल्लेख करता है—'पानी कुओं में बहुत गहरा मिलता है और डूँगरों पर कठिनाई से चढ़ा जाता है। मारवणी के कारण ऐसे अपूर्व देशों को देखा...कुओं में पानी इतना गहरा है कि तारे की तरह चमकता है।'[४]

---

१ ढो० मा० दू० : सं० ६५५, ६६०, ६६१

२ वही : सं० ६६४

३ वही : सं० ४६८

४ वही : सं० ५२३, ५२४.

छिपा हुआ है, पर उनसे वातावरण का निर्माण भर होता है
'पपीहा पिउ-पिउ कर रहा है, कोयल सुरगा शब्द बोल रही है...
पहाड़ियाँ हरी हो गईं, वनों में मोर कूकने लगा . ...। बादल
घटाएँ फौज हैं, बिजली तलवार है और वर्षा की बूँदें बाण को
लगती हैं......। वर्षा ऋतु में नदियाँ, नाले और झरने पान
भरपूर चढ़े हुए हैं। ऊँट कीचड़ में फिसलेगा......। घने बादल
आए हैं। अत्यन्त शीतल झड़ी की वायु चल रही है। बेचारे व
पृथ्वी पर पैर नहीं रखते। चारों ओर घने बादल हैं, आका
बिजली चमकती है। .. ..ऐसी हरियाली की ऋतु भली है।..
पपीहा करुण शब्द करता है और वर्षा की झड़ी लगी रहती है।
पर मोर मण्डल बना कर (चित्र फैला कर) नाच रहे हैं। ....
हरियाली धारण करते हैं और नदियों में पानी कलकल करता
बहता है।......वर्षा की झड़ी लगी रहती है और ठण्डा हवा च
है।......काली कजलीवाली बदली बरस कर हवा को छू रही है
इस वर्षा ऋतु के चित्र में स्थानगत रूप रंगों की कल्पना वातावरण
निर्माण करती है। परन्तु इस समस्त चित्र योजना में मनःस्थिति
एक रूप प्रत्यक्ष हो उठता है—'इस ऋतु में कोई घर छोड़ता है!
बीतेगी! और ऋतु में प्यारे बिना कोई जिएगा कैसे प्रिय बिना रात
बीतेगी और विरहिणी धैर्य धारण कैसे करेगी?' यह अदृश्य समान
भावना प्रकृति को उद्दीपन-रूप के निकट पहुँचा देती है। प्रकृति क
रूप अन्य प्रकरण का विषय है। वस्तुतः लोक गीति में मानवीय
का प्रसार ऐसा व्यापक हो उठता है कि उसमें गीतकार को अ
भावना का आलंबन स्वतंत्र रूप से प्रकृति नहीं हो पाती। यद्यि
गीतियों में प्रकृति के प्रति सहज सहानुभूति और स्वाभाविक सह
की प्रवृत्ति रहती है। इस कथात्मक लोक-गीति को काव्य क

मिला है, इस कारण कुछ स्थलों पर पृष्ठ-भूमि का संकेत मिलता है। .. ढोला के मार्ग में—'दिन बीत गया, आकाश में अंबर-डंबर छा गए। झरने नीलायमान हो गए।' और आगे—'काली कंठुलीवाले मेघों में बिजली बहुत नीचे होकर चमक रही है...संध्या समय आकाश में बादलों की काली कोरोंवाली घटा उमड़ती आ रही है।'[७]

§ ५—हम कह चुके हैं कि मध्ययुग के काव्य ने स्वच्छंदवादी प्रवृत्तियों को अपनाया है। स्वच्छंदवादी कवि जब प्रकृति के प्रति आकर्षित होता है और उसे अपना आलंबन बनाता है, उस समय प्रकृति के प्रति उल्लास और आनन्द की भावना व्यक्त होती है। साथ ही वह *अपने जीवन, अपनी चेतना तथा भावना को प्रकृति में प्रतिबिंबित* पाता है। व्यापक अर्थों में यह कवि की अपने 'स्व' के प्रति ही सहानुभूति की भावना, सहचरण की प्रवृत्ति है जो इस प्रकार प्रकृति में प्रतिघटित हो उठती है। इसी प्रकार जब आलंबन का माध्यम दूसरा व्यक्ति होता है, उस समय भी प्रकृति इस भाव-स्थिति से प्रभावित होकर उपस्थित होती है। *यह भी प्रकृति के प्रति हमारी सहज* और उन्मुक्त भावना का ही रूप है. यह रूप उद्दीपन विभाव के निकट होकर भी उससे भिन्न है। लोक-गीतियों में यह भावना अधिक मुक्त और स्वच्छंद रहती है. इस कारण भी उद्दीपन की साधारण रूढ़ि से यह रूप अलग लगता है। अन्य गीतियों के समान ही 'ढोला मारूरा दूहा' में *वियोग की भावना व्यापक है। इस व्याप्त भावना की स्थायी स्थिति* के साथ प्रकृति का रूप बहुत सहज बन पड़ा है।

लोक-गीति में स्वच्छंद भावना

क—इस लोक-गीति में सहानुभूति के वातावरण और सहचरण *की भावना में प्रकृति निकट के संबन्ध में उपस्थित हुई है। प्रकृति का*

---

७ वही : सं० ४११, ५११, ५२१

उल्लास वियोग की स्थिति में उद्दीपन का काम करता है. पर प्रकृति के प्रति जो सहानुभूति की भावना संनिहित है उससे वियोगिनी प्रकृति से संबन्ध स्थापित करती हुई उपालम्भ देती है—

व्यापक सहानुभूति

"विज्जुलियाँ नीलज्जियाँ, जलहर तूँ ही लज्जि।
सूनी सेज विदेस प्रिय, मधुरइ मधुरइ गज्जि॥"

मारवाणी के इस उपालंभ में मेघ के प्रति गहरी आत्मीयता का भाव छिपा हुआ है। इसी प्रकार मालवणी भी हार्दिक सहानुभूति के वातावरण में उपालंभ की भावना से प्रश्नशील हुई है- 'हे फू (घास), तू सूखे और रेतीले थल पर जल बिना क्यों डहडही हो रही है। तूने मिष्टभाषी और सहनशील प्रियतम को दूर भेज दिया है थला पर स्थित है जाल तू जल बिना कैसे हरी हो रही है, क्या तुझे प्रियतम ने सींचा है या अकाल वर्षा हुई है।'[८] वियोग वेदना में प्रकृति के उपकरणों के प्रति इस ईर्ष्या की हलकी भावना में भी सहानुभूति का प्रसार है। मानव के हृदय में प्रकृति के प्रति जो सहानुभूति की स्थिति है, वही अपने दुःख सुख में प्रकृति से समान व्यवहार की आशा करती है। मानव प्रकृति को उसी भावना से युक्त समान आचरण करता हुआ पाता भी है। साहित्य में चातक, पपीहा और चकोर आदि का प्रेम उदाहरण माना गया है। लोक-गीति की वियोगिनी अपनी व्यथा में इन पक्षियों को समान रूप से उद्वेलित पाती है—

"बाबहियउ नइ विरहणी, दुहुवाँ एक सुहाव।
जब ही बरसइ घण घणउ, तब ही कहइ प्रियाव॥"

पपीहा ही नहीं सारस भी अपनी व्यथा में समान है—

"राति ज सारस कुरलिया, गुंजि रहे सब ताल।
जिण की जोड़ी बीछड़ी, तिणका कवण हवाल॥"

---

८ दही : सं० ५० [विप्रलिप्त हो निर्लज्ज है। हे जलधर तू

साथ ही कुररी पक्षी का करुण रव वियोगिनी को अपनी व्यथा की याद दिलाता है। वह उनके दुःख से जैसे अपनी व्यथा में भी संवेदनशील हो उठती है—'करील की ओट में बैठकर कुंभ पक्षी कुरलाए, जिनको सुनकर प्रियतम की स्मृति शरीर में ज्वार की तरह जागने लगी। समुद्र के बीच में बीट का तेरा घर है, जल में तेरी संतान की उत्पत्ति होती है। हे कुंज, कौन से बड़े अवगुण के कारण तू आधी रात को कूक उठी। कुररी पक्षियों ने करुण रव किया और मैंने उनके पंखों की वायु सुनी। जिसकी जोड़ी बिछुड़ गई हो, उसको रात में नींद नहीं आती।'[१]

ख—हम कह चुके हैं कि मानव में सम भावना के आधार पर प्रकृति-रूपों के प्रति सहचरण की प्रवृत्ति है। यह मानवीय आलंबन की किसी भाव-स्थिति में उद्दीपन-विभाव से संबन्धित है, परन्तु इसका मूल प्रकृति के प्रति हमारी सहानुभूति में है। इस सीमा में प्रकृति का रूप उद्दीपन नहीं माना जा सकता। सहचरण की प्रवृत्ति के साथ प्रकृति के विभिन्न रूप अनेक संबन्धों में उपस्थित होते हैं। इस स्तर पर वे प्रिय सखा, सहचर या दूत हो जाते हैं। लोक-गीति की वियोगिनी पशु-पक्षियों से अपने सुख-दुःख की बात कहती है और प्रिय के प्रति अपना संदेश भी भेजती है। मारवाणी पपीहा की सहायता चाहती है—

सहचरण की भावना

लज्जित हो। मेरी सेज्या सूनी है, मेरा प्यारा विदेश में है...मधुर मधुर-शब्द से गरज]; ३९०—९१

[१] वही : सं० २७; ५३ [पपीहा और विरहिणी दोनों ही का एक स्वभाव है। जब अभ्र-मेघ बरसता है, ये दोनों 'पी' 'पीव' पुकारते हैं।... रात में सारसों ने करुण स्वर से बोले तो सारा सरोवर गूंज उठा। भला जिनकी जोड़ी बिछुड़ गई हो उनकी क्या दशा होती होगी]; ५६—४८

"बाबहिया, चढ़ि गउखशिरि, चढ़ि ऊँचड़री भीत।
मन ही साहिब वाहुड़इ, कउ गुण आवइ चीत॥"

फिर वियोगिनी पपीहे के स्वर से अपनी बढ़ती हुई व्यथा से विह्वल होकर उसे मना करती है—'हे नीले पंखोंवाले पपीहे, तेरी पीठ पर काली रेखाएँ हैं। तू मत बोल! वर्षा ऋतु में तेरा शब्द सुनकर विरहिणी कहीं तड़प तड़पकर प्राण न दे दे।' फिर वह उसके शब्द से क्रुद्ध हो उठती है और आक्रोश में कहती है—'हे नीले पंखोंवाले पपीहे, तू नमक लगाकर मुझे काट रहा है। पिउ' मेरा है, और मैं 'पिउ' की हूँ, भला तू 'पिउ पिउ' कहनेवाला कौन है?' और अंत में आग्रह के साथ समझाने लगती है—

"बाबहिया रत-पंखिया, बोलइ मधुरी वाणि।
काइ लब्धउ माठि करि, परदेसी प्रिय आँणि॥"[10]

इस मीठे आग्रह में कितनी निकटता और साहचर्य की भावना प्रकट होती है। मारवणी कुरजी से पंख मांगती है और इसमें भी यही भावना क्रियाशील है। प्रकृति की उन्मुक्त स्वतंत्रता से जैसे समस्थापित करती हुई वह कहती है—

"कुंझा देउ नइ पंखड़ी, थाँकउ विनउ वहेसि।
सायर लंघी प्री मिलउँ, प्री मिलि पाछी देसि॥"[11]

---

१० वही : सं० २८ [हे पपीहा, गोखे पर चढ़ या ऊँची भीत पर बैठ और टेर लगा। प्रियतम को कदाचित् कोई गुण याद आवे और आ हुए कहीं से लौट आँय!]; ३१; ३३; ३४ [हे लाल पंखों वाले पपीहे तू मीठी वाणी बोलता है। तू या तो बोलना बंद कर दे और या मेरे परदेसी प्रियतम को यहाँ ला दे]

११ वही : सं० ६२ [हे कुंझ, मुझे अपनी पाँख दो। मैं तुम्हारा बाना बनाऊँगी और सागर को लाँघकर प्रियतम से मिलूँगी और मिल कर तुम्हारी पाँखें लौटा दूँगी।]

मालवणी की आकाँक्षा में प्रकृति के साथ सहचरण की भावना का यही रूप सन्निहित है। मारवणी की प्रार्थना में जो प्रत्यक्ष है, वही मालवणी की लालसा में मन की भावना का रूप है। दोनों ही प्रकृति की स्वतंत्र चेतना से सम स्थापित करती हैं। इस प्रसंग में वियोग के स्थायी रति-भाव के साथ प्रकृति का उद्दीपन-रूप भी है, जिसका अन्य प्रकरण में उल्लेख किया गया है। मालवणी अपने प्रिय से मिलने की उत्सुकता में कहती है—'हे विधाता, तूने मुझे मरु देश के रेतीले स्थल के बीच में बबूल क्यों नहीं बनाया, जिसमें पूगल जाते समय प्रियतम छड़ी काटते और उनके हाथों के स्पर्श का फल पाती। हे विधाता, मुझे श्यामल बदली ही क्यों न बनाया जिससे मैं आकाश में छाई रहती और साहकुमार के मार्ग पर छाया करती रहती।'

(ा)—प्रकृति के प्रति सहचरण की भावना से प्रेरित होकर पक्षियों आदि से संदेश भी भेजा जाता है। इसी के आधार पर संस्कृत साहित्य में दूत-काव्यों की परम्परा चली है। हिन्दी साहित्य में ऐसी परम्परा तो नहीं चल सकी है, पर इसका रूप प्रेम-काव्यों में मिलता है। इस लोक-गीति में भी प्रकृति से यह संबन्ध सहज रीति से स्थापित किया गया है। सहानुभूति के सहज वातावरण में मारवणी कुंझों से अपना संदेश ले जाने की प्रार्थना करती है—

दूत का कार्य

> "उत्तर दिसि उपराठियाँ, दखिण साँमहि याँह।
> कुरझाँ, एक सँदेसड़ड, ढोलानइ कहियाँह॥"

प्रकृति के प्रति इस मानवीय सहानुभूति के साथ यदि कुंझ मारवणी को उत्तर देती है, तो आश्चर्य नहीं। लोक-गीति भावना के अनुरूप ही यह उत्तर है—'मनुष्य हो तो मुख से कहें, हम तो बेचारी कुंझ हैं। यदि प्रियतम को संदेश भेजना हो तो हमारी पाँखों पर लिख दो।' और मारवणी के उत्तर में निकट स्नेह की व्यंजना ही हुई है—

"पाँखे पाँणी पाइरइ, जलि काजल गहिलाइ।
सरसाँ तणाँ सँदेसड़ा, मुख वचने कहिवाइ ॥"[12]

लोकगीत की भाव-धारा में इसी प्रकार ऊँट बालता और कार्य करता है। जन गायक उसके चरित्र में सहानुभूति, उदारता, स्वाभिमान आदि मानवीय गुणों का आरोप करता है। मालवणी ने ढोला को मार्ग में लौटाने के लिए सुए को भेजा है।

× × ×

§ ६—इसी लोक-गीत की कथात्मक परम्परा में प्रेम-काव्यों का विकास हुआ है। परन्तु जैसा कहा गया है प्रेम कथा-काव्यों में जैनी चरित्र-काव्यों का तथा सूफी मसनवियों की प्रतीक भावना का प्रभाव पड़ा है। इस कारण इनका वातावरण जन-कथा-गीति जितना उन्मुक्त नहीं है। हिन्दी साहित्य के मध्ययुग में इन प्रेम-काव्यों की दो परम्पराएं हैं। परन्तु वे एक दूसरे से इतनी प्रभावित हैं कि प्रकृति-रूपों के क्षेत्र में उनमें कोई भेद नहीं है। केवल उन्मुक्त प्रेम-काव्यों में प्रेम का स्वतंत्र वर्णन है और सूफी काव्यों में प्रेम की आध्यात्मिक व्यंजना है। वैसे अभिव्यक्ति के क्षेत्र में अपनी प्रतिमा और व्यापक संवेदना के कारण जायसी में प्रेम संबन्धी अधिक स्वच्छंद वातावरण मिलता है। और उनके काव्य में प्रकृति के प्रति भी अधिक उन्मुक्त भावना है। उन्मुक्त प्रेम-काव्यों पर सूफी काव्यों की छाप है।[13] आध्यात्मिक अभिव्यक्ति को छोड़कर, प्रेम की

प्रेम कथा-काव्य

१२ वही: सं० ६४ [हे कुंभ, उत्तर दिशा की ओर पीठ किए हुए दक्षिण दिशा की ओर चलकर ढोला से एक संदेश कहना]: ६५; ६६ [तुम्हारी पाँखों पर पानी पड़ेगा, जिससे स्याही जल में बह जायगी। जिसम का संदेशा तो मुख से ही कहलाया जाता है]

१३ उन्मुक्त प्रेम-काव्यों में प्रमुखतः [illegible] ...दना, नलदमन काव्य, पुहुपावती तथा विरहवारीश (मा[illegible] [illegible]) का उपयोग यहाँ किया गया है जो सभी जा[illegible] [illegible] काव्य है।

व्यंजना और प्रकृति के रूपों के संबन्ध में इन काव्यों में सूफी परम्परा में समता है। इन समस्त प्रेम कथा काव्यों में वर्णना के क्षेत्र में अपभ्रंश चरित काव्यों का अनुसरण है, केवल इन कवियों ने प्रेम तथा आध्यात्मिक सत्यों की व्यंजना इन वर्णनों के माध्यम से की है। जहाँ तक ऋतु-वर्णन, बारहमासा अथवा अन्य प्रकृति रूपों का प्रश्न है इनमें अन गाथाओं का स्वच्छंद वातावरण मिलता है। ये काव्य अपने कथानकों म प्रबन्धात्मक हैं। कथा के रूप में इनमें घटनाओं और क्रियाओं की शृंखला चलती है। घटना क्रिया की शृंखला में देश काल की सीमाएँ भी आवश्यक हो जाती हैं। इस-लिए इन काव्यों में कथानक के बीच में स्थानगत प्रकृति वर्णना को स्थान मिल सका है। संकेत किया गया है कि संस्कृत महाकाव्यों में कथा का मोह अधिक नहीं है, उनके चरित्र तो प्रसिद्ध और ज्ञात ही अधिक हैं। इसलिए इन काव्यों में वर्णना सौन्दर्य की दृष्टि से प्रकृति को स्थान मिला है। परन्तु मध्ययुग के प्रबन्ध-काव्यों की स्थिति भिन्न है। इन काव्यों में घटनात्मक कथानकों का मोह कम नहीं है, क्योंकि ये काव्य जनता के निकट के हैं। जन रुचि में कथात्मक कौतूहल के लिए स्थान रहता है। इसलिए इनमें प्रकृति को केवल वर्णना सौन्दर्य की दृष्टि से स्थान नहीं मिला है। साथ ही कथाकार अपनी प्रेम भावना से इतना अधिक आवर्जित रहा है कि उसको कथा के आधार में प्रस्तुत प्रकृति के आकर्षण का ध्यान ही नहीं है। जिन स्थलों पर प्रकृति उपस्थित हुई है उनमें वह भावों को प्रतिबिंबित अथवा उद्दीप्त करती है।

§६—इन प्रेम काव्यों में विशुद्ध आलंबन के रूप में प्रकृति का चित्रण नहीं के बराबर हुआ है। जहाँ स्थान या वातावरण के रूप में प्रकृति का चित्रण किया गया है उनमें भी वह या तो कथा स्थित भावों की पृष्ठ-भूमि के रूप में उसका

प्रकृति का वर्णन

उपयोग हुआ है, या उसपर आध्यात्मिक भावना का प्रतिबिंब है। परन्तु

आध्यात्मिक भावना यदि वे हृदय के आश्रय में अवलंबित है, इ
कारण इस रूप में प्रकृति आलंबन के समान है। यद्यपि जिस रूप
प्रकृतिवादी कवि के लिए प्रकृति आलंबन है, उस रूप में इन प्रे
कवियों के लिए नहीं है। सूफी साधकों के लिए लौकिक कथा के आधा
पर चलने वाली भावनाएँ ही अलौकिक और अप्रत्यक्ष का संकेत दे
हैं। इस कारण प्रकृति में भावों का प्रतिबिंब, उनकी व्यंजना, उद्दीप
रूप प्रकृति के समान सामाजिक और आध्यात्मिक भाव स्थितियों
अधिक संबन्धित है। प्रकृति के इन रूपों की विवेचना 'आध्यात्मि
साधना' के प्रसंग में की जा चुकी है। यहाँ इन स्थलों का कथानक
क्या स्थान है, इस पर विचार करना है। साथ ही इन वर्णनों की शै
के विषय में भी संकेत किया जायगा।

क—प्रेम-काव्यों के प्रारम्भ में, बोधा कृत 'विरहवारीश' को छो
कर लगभग सभी में सृष्टा के रूप में ईश्वर की वन्दना है। यह व्याप

आलंबन के स्वतंत्र चित्र

रूप से प्रकृति का वर्णन ही कहा जा सकता है
परन्तु इन वर्णनों में किसी प्रकार की वर्णनात्म
योजना नहीं है। इनमें अधिकतर उल्लेखात्मक चि
हैं। प्रेम-काव्य का कवि बताता जाता है सृष्टा ने ऐसा किया, ऐ
किया, कहीं चित्र को संश्लिष्ट बनाने की चेष्टा नहीं करता। क
एक दो स्थल ऐसे आ गए हैं जिनमें व्यापक रेखा-चित्रों का भ
मिलता है—

"जहवाँ सिन्धु अपार अति, बिनु तट बिनु परि मान।
सकल सृष्टि तेहिमाँ गुपुत, बालू कनक समान॥"[१४]

उसमान के इस रेखा-चित्र में असीम समुद्र के व्यापक प्रसार
साथ व्याप्त सृष्टा के सर्जन का रूप 'बालू कनक' के समान व्यक्त
उठा है। इसी प्रकार दुखहरनदास कहते हैं—'रात्रि और दिवस, f

१४ चित्रा०; उस० : १ स्तुति-खंड, दो० २

प्रातः और सन्ध्या तुम्हीं ने तो बनाया है। यह सब सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र तथा दीपक का प्रकाश तुम्हारा ही किया है।'[१५] इसमें एक व्यापक गर्जन का अस्पष्ट सा रेखा-चित्र आ सका है। इस प्रकार इन काव्यों में कथानक की भाव-धारा से अलग केवल घटना स्थिति के आधार रूप में प्रकृति को स्थान नहीं मिला। इसका कारण है। प्रेम-कथा का कवि अपनी प्रेम भावना से इतना संवेदनशील हो जाता है कि प्रकृति के स्थानगत रूपों में भी उसी का व्यंजना करने लगता है। इन काव्यों में वन, उपवन, पर्वत, सरोवर, समुद्र आदि के वर्णन का अवसर आया है, परन्तु इन सभी स्थलों पर चित्रण की रूपात्मकता से अधिक भावात्मक व्यंजना है। जायसी में एक भी स्थल ऐसा नहीं है जिसके चित्रण में आध्यात्मिक अथवा भावात्मक व्यञ्जना न हो। उसमान की 'चित्रावली' में ऐसे चित्र अवश्य हैं। कवि एक आँधी का वर्णन करता है—

"आधे पंथ पहूँचे आई। उठी बाउ आँधी पछुआई।
स्याम घटा आँधी अधिकाई। भयो अँधेर सरग छिति छाई॥
ऊबट बाट जाइ नहि बूझा। निअरहिं दूसर जाइ न सूझा॥
परी धूरि ल चन मुख माहीं। दुहूँ कर बदन छिपाए जाहीं॥"[१६]

इस चित्र म यथार्थ संश्लिष्टता है और योजना से स्थिति का रूप प्रत्यक्ष होता है। लगता है उसमान प्रकृति के प्रति यथार्थवादी भी रह सके हैं। उनकी दृष्टि इस विषय में अधिक सचेष्ट है, यद्यपि अपनी परम्परा के अनुसरण में उनको ऐसे प्रकृति-रूपों को उपस्थित करने का अवसर कम मिला है। उसमान ने अंधकार का वर्णन भी इसी प्रकार किया है—'उसने कुँअर को एक अँधेरी खोह में ले जाकर डाला जिसके अंधकार में दिन में दीपक जला कर ढूँढ़ने से भी नहीं दिखाई

---

१५ पुह०; दुस०; स्तुति-खंड से
१६ चित्रा०; उस० : ४ जन्म-खंड, दो० ६६

देता। दिन में जहाँ रवि की किरणों का प्रवेश नहीं होता, रात मे
जहाँ शशि और तारागणों का संचरण नहीं होता। अंधे ने अंधे
स्थान को इस प्रकार पाया जैसे मसि के ऊपर मसि डाली गई हो।[१७]
इसमें आलंकारिक संकेत से कवि ने चित्र को अधिक व्यक्त कर दिया
है। एक स्थल पर रूप नगर की पहाड़ी का वर्णन भी इसी प्रकार
का है—

"पूरब दिसि जो आहि पहारी। जनु त्रिस करमैं आपु उतारी॥
झरना झरै सोहावनि भाँती। तरुवर लागे पाँतिन पाँती॥
बोलहिं पंछी अनबन भाषा। आपन आसन बैठे साषा॥
सिखर चढ़े कूकहिं बहु मोरा। परवत गूँजि उठै चहुँ ओरा॥"[१८]

यह चित्र सरल वस्तु स्थितियों और क्रिया व्यापारों के साथ प्रस्तुत
किया गया है। परन्तु इस प्रकार के वस्तु स्थिति के आलम्बन चित्र
अन्य कवियों में नहीं के बराबर हैं। जायसी प्रत्येक वर्णना को किसी
आध्यात्मिक सत्य की व्यंजना से संबन्धित कर देते हैं और अन्य
कवियों ने इसी का अनुसरण किया है।

ख—आध्यात्मिक साधना के प्रकरण में प्रकृति रूपों की व्यञ्जना
के विषय में कहा गया है। यहाँ उनकी वर्णन की शैलियों के विषय

वर्णन की शैलियाँ

में संकेत कर देना है। वस्तुतः इन समस्त रूपों में
तीन प्रकार की शैलियों का प्रयोग किया गया है।
पहली शैली में केवल उल्लेखों के आधार पर सत्यों की स्थापना
अथवा या आध्यात्मिक व्यञ्जना की गई है। इन उल्लेखों में किसी
सीमा तक साश्लिष्ट चित्रण भी आ जाता है, पर ऐसा बहुत कम हुआ
है। इन वर्णनों में उपवन के वृक्षों तथा फूलों आदि का उल्लेख

१७ वही; वही : २१ बुटीचर-खंड, दो० २३५

१८ वही; वही : १७ दावारखंड, दो० २३५

है।[१९] दूसरी शैली में स्थिति-व्यापारों की निश्चित योजना द्वारा प्रेम आदि की व्यञ्जना हुई है। इस प्रकार की वर्णना में व्यञ्जनात्मक चित्रमयता मिलती है, यद्यपि रूपात्मक चित्रमयता इनमें भी कम है।[२०] पर कोई-कोई चित्र कलात्मक हैं। जायसी सिंहल के तलाव का वर्णन करते हैं—

"ताल तलाव बरनि नहि जाहीं। सूझै वार पार किछु नाहीं॥
फूले कुमुद सेत उजियारे। मानहुँ उए गगन महँ तारे॥
उतरहिं मेघ चढ़हिं लेइ पानी। चमकहिं मच्छ बीजु कै बानी॥"[२१]

परन्तु इस प्रकार के आलंकारिक वर्णन भी कम हैं। तीसरे प्रकार की शैली में अति प्राकृतिक चित्रों की योजना है। इनमें भी कुछ में आदर्श कल्पना की भावना है और कुछ में अलौकिक चमत्कार है।

---

१९ जायसी के पद्मावत में २ सिंहलद्वीप-वर्णन-खंड में दो० ४ में वृक्षों का उल्लेख है; दो० १० में फलों का; दो० ११ में फूलों का। इसी प्रकार उसमान, की चित्रावली में १३ परेवा-खंड में दो० १५६ में वृक्षों का तथा दो० १५८ में फूलों का उल्लेख किया गया है।

२० जायसी ने सिंहलद्वीप-वर्णन-खंड में दो० ५ में पक्षियों के शब्द के माध्यम से, दो० ९ में सौन्दर्य-चित्र के साथ सरोवर में जल-पक्षियों का क्रीड़ा [illegible]; और १५ सात-समुद्र-खंड के दो० १० में 'मानसर के वर्णन में प्रकृति व्यापार योजना में साधक के कल्याण से तादात्म्य स्थापित कर के यह अभिव्यक्ति की गई है। उसमान ने १३ परेवा-खंड में दो० १५५ में सरोवर के वर्णन सौन्दर्य के साथ [illegible] है, दो० १५७ में पक्षियों के शब्द के साथ भी यह व्यंजना की गई है। नूरमुहम्मद ने २ अनुराग-खंड में दो० ७ में पुष्प और भ्रमर के माध्यम से यह संकेत दिया है। इन्द्रावती-काव्य में पृ० १६ में पक्षियों के शब्दों से और पृ० १७ में सरोवर वर्णन में लहरों आदि के माध्यम से प्रेम की अभिव्यक्ति की गई है।

२१ जा० ग्र०; आदर्श १९२०, २ सिंहलद्वीप-वर्णन-खंड, दो० ९

उसमान के इस वर्णन में आदर्श कल्पना ही प्रधान है—'सरोवर तट की सराहना कहाँ तक की जाय जिसमें पानी मोती है और कंकड़ ही हीरा है। अत्यन्त गहरा है, थाह नहीं मिलती। निर्मल नीर में तल दिखाई देता है—अत्यन्त गम्भीर और विस्तृत है जिसकी सीमाओं का भान नहीं होता—।'[२२] वस्तुतः इस प्रकार की आदर्श कल्पना, इन समस्त काव्यों में नायिका से संबन्धित वन, उपवन तथा सरोवर आदि के वर्णनों में मिलती है। इनमें सदा वसन्त या चिरन्तन सौन्दर्य की भावना है। इसके अतिरिक्त मार्ग-स्थित वर्णनों या अन्य प्रसगों के अलौकिक अतिप्राकृतिक चित्रों में भी चमत्कार की प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है। जायसी 'बोहित-खण्ड' में सागर का उल्लेख इसी शैली में करते हैं—

"जस वन रेंगि चलै गज-ठाटी। बोहित चले समुद गा पाटी।
धावहि बोहित मन उपराहीं। सहस कोस एक पल महँ जाहीं।
समुद अपार सरग जनु लागा। सरग न घाल गनै बैरागा।
ततखन चाल्हा एक देखावा। जनु धौलागिरि परवत आवा।
उठी हिलोर जो चाल्ह नराजी। लहरि अकास लागि भुँई बाजी।[२३]

इसी प्रकार के वर्णन जायसी ने 'सात-समुद्र खंड' में किए हैं, इनमें बीच बीच में सत्यों का उल्लेख भी किया गया। उसमान ने रूप नगर के दृश्य को इसी प्रकार अलौकिक वर्णना के द्वारा प्रस्तुत किया है।[२४] परन्तु जायसी में यह प्रवृत्ति अधिक है। इन्होंने अलौकिक चित्रणों के माध्यम से आध्यात्मिक सत्यों का संकेत दिया है। स्वतन्त्र प्रेम काव्यों में प्रवृत्ति आदर्श चित्रण की है; अलौकिक चित्रण इनमें कम है।

§ ८—इन प्रकृति वर्णनों को लेकर कहा जा सकता है कि इन

---

२२ चित्रा०; उस० : २३|परेवा-खंड, दो० १४५
२३ ग्रंथा०; जायसी : पद०, १४ बोहित-खंड, दो० २
२४ चित्रा०; उस० : २७ यात्रा-खंड, दो० २३२

कवियों ने प्रकृति का उपयोग अपनी कथा में भावात्मक व्यंजना के लिए किया है। जिस प्रकार इनकी कथा का समस्त वातावरण प्रेम या आध्यात्मिक भावना से पूर्ण है, उसी प्रकार कथा का आधार प्रदान करनेवाली प्रकृति भी इसी दृष्टि से प्रस्तुत की गई है। प्रकृति का यह रूप कथानक की पृष्ठभूमि में वातावरण की भाव-व्यंजना प्रदान करता है। सूफ़ी कवियों में पृष्ठभूमि में प्रकृति का रूप कथानक के भावात्मक उल्लास से उद्भासित किया गया है। अन्य संकेतात्मक उल्लेखों के अतिरिक्त सरोवर में स्नान के प्रसंग को लेकर यह भावात्मक उल्लास मग्न प्रकृति का रूप जायसी के बाद कवियों ने परम्परा के रूप में ग्रहण किया है। इस स्थल पर प्रकृति के अन्दर एक उल्लास की भावना है जो आध्यात्मिक वातावरण का प्रतिबिंब है। स्वच्छंदवादी दृष्टि से प्रकृतिवादी कवि प्रकृति के सौन्दर्य से प्रभावित होकर, उसकी चेतना की अनन्त भावना से सम-स्थापित करके अपने मन का उल्लास प्रकृति के माध्यम से व्यक्त करता है। यही स्वच्छंदवादी प्रवृत्ति सूफ़ी साधकों ने इस प्रकार ग्रहण की है। आध्यात्मिक साधना के प्रसंग में इसकी विवेचना विस्तार से की गई है।[२५] इनकी साधना का साध्य प्रियतम है जो कथानक के रूपक में सन्निहित है और वातावरण के रूप में प्रकृति उसी की प्रेम भावना से उल्लसित और प्रभावित हो उठती है। जायसी के इस वर्णन-चित्र में

कथा की पृष्ठ-भूमि में

---

२५ जायसी ने ४ मानसरोवर-खंड में दो० ४ में प्रकृति को मुग्ध और भावों से प्रतिबिंबित उपस्थित किया है। इस प्रसंग में रूप के आधार पर प्रकृति स्थल स्थल पर उद्भासित हो उठती है और आह्लादित लगती है। दो० ८ में प्रकृति और पद्मावती के सौन्दर्य के तादात्म्य भाव में भी यही भाव संश्लिष्ट है। उसमान की चित्रावली के २० सरोवर-खंड में दो० ११८ में प्रकृति आश्चर्य से चकित और मुग्ध-मौन लगती है। नूरमुहम्मद की इन्द्रावती में इसी प्रकार १२ महान्खंड के दो० २ में यही भावना निहित है।

प्रकृति और सौन्दर्य का भाव तादात्म्य देखा जाता है—

"बिगसे कुमुद देखि ससि रेखा। भै तँह ओप जहाँ जोइ देखा।
पावा रूप रूप जस चाहा। ससि मुख दरपन होइ रहा।
नयन जो देखा कँवल भा निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन-जोति नग हीर।।"[२६]

और इस में प्रकृति में प्रतिबिंबित रूप से उल्लास की भावना भी व्यक्त होती है।

§६—जहाँ तक प्रत्यक्ष रूप से भावों को उद्दीप्त करनेवाले प्रकृति रूपों का संबन्ध है, उनकी विवेचना अन्य प्रकरण में की जायगी। परन्तु यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि इन कथा-काव्यों में प्रकृति संबन्धी जन-गीतियों की स्वच्छन्द भावना का क्या संबन्ध है। प्रकृति की व्यापक विस्तार हो अथवा बारहमासा और ऋतु वर्णन की परम्परा हो, सर्व भावनाओं का स्वतन्त्र रूप इन काव्यों में मिलता है। बारहमासा और ऋतु वर्णन की परम्परा का विकास साहित्य में भी हुआ है और आगे चलकर इनका रूप रूढ़िवादी होता गया है। जन गीतियों के समान इन काव्यों में प्रकृति का आधार लेकर भावों की उद्दीप्त स्थिति का वर्णन किया गया है। शैली की दृष्टि से कहीं कहीं रम्य चित्र आ गये हैं। जायसी के बारहमासे में—'जेठ में जग जल उठा है, लू चलती है, बवंडर उठते हैं और अंगार बरसते हैं। चारों ओर से पवन झकझोर देता है, मानों लंका को जलाकर पलंग में लग गई है। आग की भभक उठती है, आँधी आती है। नेत्र से कुछ नहीं सूझता, दुःख से बँधी मैं मरती हूँ।'[२७] इस चित्र में रेखाओं के साथ यथार्थ संकेत भी है। जायसी के बारहमासा में प्रकृति के व्यापक रूपों का नहीं

२६. पद्मा०; जायसी : ५२०, ४ मानसरोदक-खंड, दो० १५

२७. वही; वही : ४१२, ३० नागमती-वियोग-खंड, दो० १५

भाव निहित है जो प्रत्यक्ष नहीं किया। इसमें प्रकृति व मानवीय भावों का सहज साधारण सम्बन्ध है जो जनगीतों की उन्मुक्त भावना में ही सम्भव है। उसमान का बारहमासा जायसी के अनुकरण पर है, पर उसमें प्रकृति उद्दीपन की अधिक है। साथ ही न प्रकृति के सहज सम्बन्ध के स्थान पर विरह वर्णन की प्रमुखता रही है।[२८] सूरदास ने बारहमासा का वर्णन संयोग शृंगार के अन्तर्गत किया है। इसमें प्रकृति का केवल उद्दीपन मात्र है और संयोग सुख तथा उल्लास उमंग का ही अधिक वर्णन है। ये बारहमासे के वर्णन जन गीतियों की परम्परा से ही सम्बन्धित है। जन गीतियों में ऋतु की भावना के साथ बारहमासों का ऋतु परिवर्तन उपस्थित होता जाता है। इसी प्रकार की भावना, जैसा कहा गया है इनमें भी पाई जाती है। साथ ही विरहिणी स्वयं अपनी विरह व्यथा परिवर्तित ऋतु रूपों के माध्यम से करती है। इसी कारण जन-गीतियों में प्रकृति का मानवीय भावों से अधिक उन्मुक्त संबन्ध स्थापित होता है। इसी अनुसरण के कारण जायसी का बारहमासा अधिक स्वच्छंद है उसमें वियोगिनी नागमती अपनी व्यथा की अभिव्यक्ति के साथ प्रकृति से अधिक सहृदयता स्थापित करती है। जायसी के इन वर्णनों में वह प्रत्यक्ष सामने रहती है। प्रत्येक मास के चित्र के साथ वह अपनी भावना को लेकर स्वयं उपस्थित होती है—

---

२८ चित्रा०; उस० : ३२ पाती-खंड में दो० ४४३ से चैत्र का वर्णन आरम्भ होता है और दो० ४५५ में फागुन वर्णन के साथ बारहमासा समाप्त होता है। उदाहरण के लिए जेठ का वर्णन इस प्रकार है—

"जेठ तपै रवि सहसन तेजा। सोइ जानै जेहे कंत न सेजा।
अस जग तपन तपै यहि मास। पुहुमिन्ह भोंह झुलावै आँसू।
बिरह बवंडर भा बिनु नाँहा। जिमि जिउ पात फिरै तेहि माँहा।
दीन उसास … आँधी। परगट होइ न लाज कि बाँधी।"

"भा भादौं दूभर अति भारी। कैसे भरौं रैनि अँधियारी।
मंदिर सून पिउ अनतै बसा। सेज नागिनी फिरि फिरि डसा।"
इसी प्रकार आगे भी विरहिणी अपनी विरह को व्यक्त करते हुए क
है—'अगहन मास में दिन घट गया और रात बढ़ गई—यह क
रात्रि किस प्रकार व्यतीत की जाय. इसी विरह में दिन रात हो
है; और मैं अपने विरह में इस प्रकार जल रही हूँ जैसे दीपक में बत्त
इसी भाव-स्थिति में विरहिणी को प्रकृति अपने से विरोधी जान प
है—'चित्रा में मीन ने मित्र पाया, पपीहा 'पिउ' को पुकारता है
सरोवर का स्मरण करके हंस चला गया है; सारस क्रीड़ा करता
खंजन दिखाई देता है। दिशाएँ प्रकाशित हो गईं, वन में काँस
उठे।...यह समस्त प्रकृति का उल्लास तो आया कन्त नहीं ले
विदेश मे भूल रहे।' फिर वह प्रकृति को सहानुभूति के ह
संवेदनशील भी पाती है—

"पिउ सौं कहेहु सँदेसड़ा, हे भौंरा ! हे काग !
सो धनि विरहै जरि मुई, तेहिक धुवाँ हम्ह लाग।"[२९]

उसमान का वारहमासा भी वियोगिनी की आत्माभिव्यक्ति के
में है। पर उसमें वह अधिक प्रत्यक्ष नहीं हो सकी है। इस क
उसमें व्यक्तिगत स्वच्छंद अनुभूति का रूप कम है। यह
साहित्यिक ऋतु वर्णन की परम्परा से अधिक प्रभावित है। सा
उसमान में प्रकृति से सहज संबन्ध नहीं स्थापित हुआ है, उनमें
वर्णन की प्रवृत्ति अधिक है। दुखहरनदास का बारहमासा स
शृंगार के अन्तर्गत है और उसमें साहित्यिक रूढ़ि के अनुसार मान
क्रीड़ा-व्यापारों की योजना ही अधिक है। बोधा कृत 'माधव
कामकन्दला' (विरह वारीश) में बारहमासा विप्रलम्भ के अन्तर्ग
लेकिन उस पर रीति परम्परा का अत्यधिक प्रभाव है। परन्तु

२९ ग्रंथा०; जायसी : प२०, ३० नागमती-वियोग-खंड, दो० ६,

मिलाकर प्रेम-काव्यों में बारहमासा का वातावरण जन-जीवन और जन-भावना के अधिक निकट है।

§ १०—प्रेम कथा-काव्यों में ऋतु-वर्णन भी बारहमासा के समान जन-गीतियों से प्रभावित हैं। परन्तु इनमें प्रचलित ऋतु-वर्णन की परम्परा का अधिक अनुसरण है। ये कथानक के संयोग तथा वियोग पक्षों में प्रस्तुत किए गए हैं।

साहित्यिक प्रभाव

जायसी ने ऋतु-वर्णन संयोग शृंगार के अन्तर्गत किया है, परन्तु बारहमासे के समान इसमें स्वाभाविक वातावरण नहीं है। इसमें क्रिया-व्यापारों का उल्लेख अधिक हुआ है, इनके बीच में यत्र-तत्र प्रकृति का उल्लेख मात्र कर दिया गया है।[३०] जायसी ने वसंत-वर्णन की परम्परा का रूप भी प्रस्तुत किया है, इसमें अवसर के अनुरूप हास-विलास के वर्णन की प्रधानता है। वसंत आदि के अवसर पर उल्लास की प्रेरणा जन-जीवन को मिलती रहती है और यह उनकी गीतियों में व्यक्त भी होता है। इसी के आधार पर साहित्य में भी ऐसे वर्णनों की परम्परा चली है; यद्यपि साहित्य में उन्मुक्त भावना के स्थान पर रूढ़िगत परम्परा को अधिक स्थान मिला है। जायसी का वर्णन अधिक अंशों में साहित्यिक है।[३१] नूर मोहम्मद ने इसी उल्लास-विलास का वर्णन फाग-खंड में किया है। फाग भी वसंत के अन्तर्गत होता है। इस वर्णन में भी जन-जीवन का उल्लास तो आ सका है, पर प्रकृति का वातावरण बिलकुल हट गया है। अन्य प्रेम-काव्यों में ऋतु-वर्णन विप्रलम्भ शृंगार के अन्तर्गत आया है। इनमें वियोग-व्यथा का उल्लेख अधिक और प्रकृति के क्रिया-व्यापारों की योजना कम हुई है। इनका विवेचन उद्दीपन विभाव के प्रकरण में विस्तार

३० वही; वही : ५८०, २९ षट्-ऋतु-वर्णन-खंड

३१ वही; वही : ५८०, २० वसंत-खंड

से किया जायगा।[३२] उसमान ने ऋतु-वर्णन प्रसंग में प्रकृति-व
के माध्यम से किसी किसी स्थल पर विरह की व्यंजना की है।
व्यंजना का आधार प्रकृति से मानवीय भावना कभी विरोध उ
करके ग्रहण करती है कभी समानान्तर रूप में।

§ ११—कहा गया है कि प्रेम-काव्यों में एक सीमा तक
गीतियों का कथात्मक वातावरण है। इस क्षेत्र में इनकी कथात्

सहानुभूति का स्वच्छंद वातावरण

प्रकृति सहज संबन्धों में उपस्थित हो सकी
बारहमासा और ऋतु संबन्धी वर्णनों में हम
भावना का संकेत कर चुके हैं। इनमें कुछ स्थल
प्रकृति सहज रूप में मानवीय भावों के छायातपों में उपस्थित हुई
साथ ही इन कथानकों के पात्र प्रकृति के रूपों से सहज संबन्ध उप
करते हैं। इन गीतियों की विरहिणी प्रकृति के रूपों को अपना स
मानकर उनसे अपने दुःख सुख की बात कहती है; उनके द्वारा
विदेशी प्रियतम को संदेश भी भेजती है। सहानुभूति के इसी स्व
वातावरण में इन काव्यों में भी वियोगिनी प्रकृति से संबन्ध स्थ
करती है, सहानुभूति प्राप्त करती है। जायसी ने ही इस प्रकृति-
को सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है। बाद के कवियों में वह भाव-
प्रतिभा नहीं थी; उनके परम्परा पालन में साहचर्य का सरल
नहीं आ सका है। जायसी ने नागमती के विरह प्रसंग में इसी
सहानुभूति को अभिव्यक्त किया है। वह पक्षियों को अपनत
निकटता में संबोधित करती है—

"भई पुकार लीन्ह बनवासू। बैरिन सवति दीन्ह चिलवाँसू
हार भरा बान बिरह तनु लागा। जौ पिउ आवै उड़हि तौ कागा

३२ चित्रावली में १८ विरह-खंड; [illegible] में ऋतु-वर्णन,
२०१; इन्द्रावती में [illegible]
(संभवतः) ऋतु-वर्णन, में यही प्रवृत्ति है।

हारिल भई पंथ मैं रोवा। अब लेंह पठवौं कौन परेवा।"[३३]
इसी प्रकार वह अन्य पक्षियों से भी संदेश कहती है, पर उनको वह अपनी अपनी व्यथा में व्यस्त पाती है। आगे एक पक्षी संवेदनशील होकर संदेश ले जाने को प्रस्तुत भी हो जाता है; यह प्रेम काव्य के सहानुभूतिपूर्ण उन्मुक्त वातावरण में ही सम्भव है। इन काव्यों में पशु-पक्षी कथानक के पात्र के रूप में उपस्थित हुए हैं। बोधा के विरह-वारीश (माधवानल कामकंदला) में वर्षा ऋतु वर्णन के प्रसंग में माधवानल लीलावती के वियोग में मेघ से संदेश कहता है। इसमें संस्कृत दूत-काव्य का अनुकरण ही अधिक है, प्रकृति के प्रति सहज सहचरण की भावना नहीं है। दक्षिण की श्याम घटा को देखकर विप्र के हृदय को अत्यंत कष्ट हुआ; अति भय मानकर माधवानल ने प्रीति पूर्वक उससे अपनी विरह वेदना कही—

"हो पयोध विरहिन दुखदायक। मेरो दरद सुनो तुम नायक।
पुहुपावती पुरी मम प्यारी। नव यौवन बाला सुकुमारी।"[३४]

बाद में माधवानल वियोग व्यथा से व्याकुल वन में लता वृक्षों से पूछता घूमता है और इस वर्णन में अधिक सहानुभूति का वातावरण है—

"कहत सुमन सों सुमन हो, सुमन सहित छबिदार।
कहीं दार मेरी लख्यो, तो छबि अजब बहार॥
विटपन अपनो दरद सुनावै। जब चलि सुदि किसी की आवै।
नाम आपने प्रिय कर लेहीं। यों पुनि ताहि उरहना देहीं।"[३५]

'इन्द्रावती' में कुँअर अपना सन्देश पवन के हाथ भेजता है। इस स्थिति की कल्पना आध्यात्मिक संकेत के साथ भी सुन्दर हुई है—

---

३३ चित्रावली में १८ विरह-खंड; स्वच्छन्द काव्य में ऋतु-वर्णन, ६०
३४ विरह०; खंड ३; पहली तरंग
३५ वहीं; वही; दूसरी तरंग

'जब प्रभात हुआ और प्रकाश फैला, फुलवारी में पवन प्रवा हुआ, पवन को पाकर कली प्रसन्न हुई—बहुत सी मुसकराई (' मुकलित हुईं) और बहुत सी विहसीं (खिल गईं)।' ऐसे वातावरण में कुँअर अपनी सहानुभूति का आरोप प्रकृति पर क हुआ पवन से कहता है—

"जो तेहि आर वहो तुम आई। दीन्हेउ मोर सँदेस सुनाई।"
और पवन संवेदनशील होकर प्रार्थना स्वीकार भी करता है—
"कुँअर संदेस पवन जो पावा। इन्द्रावती सों जाइ सुनावा।"[३६]
इसमें प्रकृति मानवीय सहानुभूति से युक्त है। आगे इसी प्र के संवेदनात्मक संबन्ध में सुआ वार्तालाप करता है।[३७] 'चित्राव में यद्यपि सन्देश आदि के संबन्ध में प्रकृति का रूप नहीं आया फिर भी चित्रावली के वियोग में प्रकृति वातावरण के रूप में सहानुभूति रखती है। इन वर्णनों में आध्यात्मिक व्यञ्जना तो है साथ ही कथात्मक प्रवाह में प्रकृति से भावात्मक तादात्मय भी चित्रावली प्रकृति को सहानुभूतिशील स्थिति में अपनी वेदना सहभागिनी पाती है—

"जौ न पसीजसि जिउ मोर भाखी। पूछि दुखु गिरि कानन साखी
करैं पुकार मझोरन रोवा। कुहुकि कुहिकि वन कोकिल रोवा
गयो सीखि पपिहा मम बोला। अजहूँ थेखन वन वन डोला
उड़ा परेवा सुनि मम बाता। अजहुँ चरन रकत सौं राता
केवल पक्षी ही नहीं वरन वनस्पति जगत् भी उसकी व्यथा सहानुभूतिशील हो उठता है—'टेसी जल कर अँगार हो गया, फ

---

३६ इन्द्रा०; नूर० : ९ पवन-खंड, दो० १०
३७ वही; वही : १० सुआ-खंड, दो १—'
"बैठा पत्री पर एक सुआ। रोवा ... आ।
देखा कुँवर कोर सों कहा। ... ।"

ने आग लगा कर सिर जला दिया। वनस्पति जगत् मेरी व्यथा को सुन कर बारहों महीना पतझड़ करता है। घुँघुची दुःखी होकर रोती है, वह बल्लरी नहीं छोड़ती, काली मुखवाली होकर उसी में लगी रहती है।'[३८] इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेम कथा काव्यों में आध्यात्मक अभिव्यक्ति तथा कथात्मक परम्परा का अनुसरण होते हुए भी उन्मुक्त रूप से प्रकृति का स्थान मिल सका है। प्रकृति की इस स्वच्छंद भावना में इन कवियों की प्रकृतिवादी दृष्टि नहीं है और जिस आधार-भूमि पर ये कवि चले हैं उस पर यह सम्भव भी नहीं था।

× × ×

§ १३—राम-काव्य के अन्तर्गत प्रबन्ध की दृष्टि से 'रामचरित मानस' ही प्रमुख ग्रन्थ है। हम कह चुके हैं कि इस पर पौराणिक शैली का अधिक प्रभाव है। पौराणिक शैली में धार्मिक उपदेश और प्रवचनों का विशेष स्थान रहा है। इसी कारण कथा के देश कालगत आधार और वातावरण से अधिक ध्यान पुराणकार इनकी ओर देता है। अधिक अंशों में धार्मिक श्रद्धा और विश्वासों का प्रतिपादन ही इनका उद्देश्य है। फिर इनमें प्रकृति को व्यापक रूप से स्थान नहीं मिल सका तो आश्चर्य नहीं। इनका आदर्श काव्यात्मक चित्रमय प्रत्यक्ष नहीं रहा है। फिर भी यह प्रवृत्ति की बात है; वैसे पुराणों में, विशेषकर 'श्रीमद्भागवत' में सुन्दर काव्यमय स्थल हैं। इसी परम्परा में लिखी गई 'अध्यात्म रामायण' में भी इसी प्रकार की प्रवृत्ति है। जिन स्थलों पर वाल्मीकि की कल्पना रम जाती है और वे प्रकृति के सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाते हैं, उन्हीं स्थलों पर अध्यात्मकार केवल ज्ञान और मोक्ष की भूमिका प्रस्तुत करता है—

राम-काव्य की प्रेरणा

---

३८ चित्रा०; इस०; ३२ पाती-खंड, दो० ४४०–१

"एकदा लक्ष्मणो राममेकान्ते समुपस्थितम् ।
विनयावनतो भूत्वा पप्रच्छ परमेश्वरम् ॥"

मायाजनित संसार को विच्छेद और आवरण के रूप में विवेचित करने वाले लक्ष्मण के लिए प्रकृति का चतुर्दिक प्रसरित सौन्दर्य उपेक्षणीय ही है।[३९] 'रामचरितमानस' में तुलसी की भी बहुत कुछ यही प्रेरणा रही है। परन्तु यह प्रवृत्ति की बात है वैसे तुलसी की प्रतिभा बहुमुखी, सर्वग्राही है और इनका आदर्श समन्वय है। यहाँ प्रकृति-चित्रण के विषय में भी यही सत्य है। 'अध्यात्म रामायण' की प्रवृत्ति को ग्रहण करके भी इनके सामने 'वाल्मीकीय रामायण' तथा 'श्रीमद्भागवत' के प्रकृति स्थल सामने रहे हैं। राम-कथा में वन-गमन प्रसंग के बाद प्रकृति का विशाल क्षेत्र सामने आ जाता है। इस प्रसंग में तुलसी ने भी ज्ञान और भक्ति के उल्लेख ही अधिक किए हैं। लेकिन प्रकृति का यथास्थान उल्लेख अवश्य आया है, तुलसी कथा की वस्तु-स्थिति को बिलकुल भुला नहीं सके हैं। वन-भ्रमण के अन्तर्गत इन्होंने अनेक स्थलों का वर्णन किया है और इनमें अधिकतर वे ही स्थल हैं जिनका वर्णन वाल्मीकि में मिलता है। इन स्थलों में वाल्मीकि रामायण में यथातथ्य का संश्लिष्ट चित्रण है, परन्तु तुलसी के वर्णन आदर्श प्रकृति का रूप प्रस्तुत करते हैं। इनका उल्लेख आध्यात्मिक साधना के प्रकरण में किया गया है। इनके साथ जनकपुर प्रसंग के चित्रण भी आदर्शात्मक हैं। इन प्रकृति-रूपों में चिर वसन्त की भावना के साथ स्थान-काल की सीमा भी स्वीकृत नहीं है।[४०]

---

३९ अध्यात्म रामायण; अरण्य काण्ड; १६; २२—

"सैव माया तयै वासौ संसारः परिकल्प्यते।
रूपे द्वे निश्चिते पूर्वं मायायाः कुलनन्दनः ॥"

४० बाल०, दो० २१२ में नगर के वातावरण का हलका रेखा-चित्र दो० २२७ में वाटिका-वर्णन कुछ क्रिया-व्यापारों की योजना; अयो०, दो

इन वर्णनों की शैली व्यापक रेखा-चित्रों में की है और कहीं इनमें क्रिया-व्यापारों की संक्षिप्त योजना भी हुई है। कभी आदर्श प्रकृति के *वर्णनों के साथ चित्रण में भावात्मक प्रतिबिंब भी मिलता है; प्रकृति* पर यह भावों का प्रतिबिंब कथानक को लेकर है।[४१] कभी कभी तुलसी मार्ग-स्थित वातावरण का उल्लेख भी कर देते हैं; राम को *मार्ग में वाल्मीकि आश्रम मिलता है—*

"देखत वन सर सैल सुहावन। वाल्मीकि आश्रम प्रभु आए॥
राम दीख मुनि बास सुहावन। सुन्दर गिरि काननु जल पावन॥
सरनि सरोज बिटप बन फूले। गुंजत मंजु मधुप रस भूले॥
खग मृग विपुल कोलाहल करहीं। बिरहित बैर मुदित मन चरहीं॥"[४२]

इस चित्र में प्रकृति के आदर्शों का रूप तो व्यक्त होता ही है; साथ ही यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि *तुलसी साहित्यिक प्रकृति* संबन्धी परम्पराओं से परिचित थे और इन्होंने उनसे प्रभाव भी ग्रहण किया है।

§ १४—*इस आदर्श प्रवृत्ति के आधार पर यह नहीं कहा जा* सकता कि तुलसी के सामने प्रकृति का यथार्थ रूप नहीं था। 'राम-चरितमानस' के अन्तर्गत कुछ प्रकृति-रूप ऐसे भी हैं *जिनसे यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि तुलसी ने* केवल अनुकरण ही नहीं किया है और उनके सामने प्रकृति का यथार्थ

स्वतन्त्र वर्णन

---

१३७ में चित्रकूट वर्णन, इसकी संश्लिष्टता; दो० २४१ चित्रकूट वर्णन अयो-ध्याकाण्ड: उत्त०, दो० २३ रामराज्य में प्रकृति-व्यापार संश्लिष्टता; दो० ५६ काकभुशुंडि का आश्रम

४१ अयो०, दो ११६ में राम के आगमन पर चित्रकूट में हर्षित प्रकृति; दो० २७८-९ में चित्रकूट में अनुकूल प्रकृति; अर०, दो० १४ पंच-वटी प्रकृति (गोदावरी)

४२ वही; अयो०, दो० १२४

रूप भी रहा है। पहली बात तो यही है कि इन आदर्श प्रकृति-चि
को उपस्थित करने में परम्परा से अधिक तुलसी का आध्यात्मिक अ
है। इसको भुला कर इन रूपों पर विचार करना कवि के प्रति अन्या
होगा। इनके राम पूर्ण-पुरुष हैं, उनके प्रभाव में प्रकृति की चिरंत
और उल्लासमयी भावना सहज है। परन्तु तुलसी की कथा में आध्य
त्मिक आदर्श चरित्र का आधार सहज स्वाभाविक मनोभावों पर है
इसी प्रकार जो प्रकृति-रूप राम के सीधे सम्पर्क में नहीं है, वह यथा
चित्रमयता के साथ है। केवल तुलसी को ऐसे स्थल कम ही मिले हैं

क—साधारणतः ऋतु-वर्णन की परम्परा प्रकृति को उद्दीपन
अन्तर्गत मानती आई है, परन्तु तुलसी ने 'श्रीमद्भागवत' के आधा
पर स्वतंत्र रूप से उपस्थित किया है। वर्षा औ
ऋतु-वर्णन
शरद दोनों ही ऋतुओं के वर्णन के विषय में य
बात है। वर्णन के आरम्भ में इसका संकेत दिया गया है—

"घन घमंड नभ गरजत घोरा। प्रिया हीन डरपत मन मोरा॥"

या कथा प्रसंग से मिलाते हुए—

"बरषा गत निर्मल रितु आई। सुधि न तात सीता कै पाई॥"
तुलसी ने इन वर्णनों को इस रूप में एक विशेष सौन्दर्य
दृष्टि से ही अपनाया है। इनमें एक ओर प्रकृति वर्णना की संश्लि
योजना की गई है जिसमें प्रकृति का यथार्थ रूप अपने क्रिया-व्यापा
के साथ उपस्थित हुआ है। साथ ही मानवी समाज से उन
लिए उत्प्रेक्षाएँ तथा उदाहरण आदि प्रस्तुत किए गए हैं। इन्हीं
लेकर उपदेशों की व्यञ्जना की बात कही जाती है। इसका एक प
यह है भी। परन्तु यदि इनको प्रकृति के पक्ष में ही लगाया जाय
यह वर्णना को भाव-व्यंजक करने का आलंकारिक प्रयोग है
प्रकृति-वर्णन में चित्रमयता के साथ भाव-व्यंजना के लिए आरोप कि
जाता है। इस व्यंजना में प्रकृति के साथ भाव-स्थितियाँ भी उपस्थि
हो जाती हैं, और कभी कभी तो प्रकृति से व्यंजित भाव ही प्रधान

जाता है। तुलसी के ऋतु-वर्णनों में अलंकारों का आधार सामाजिकता है, इस कारण व्यंजना उपदेशात्मक हुई है। परन्तु वस्तुतः प्रकृति का वर्णन यहाँ प्रमुख है और समस्त आलंकारिक योजना प्रकृति के रूप को प्रत्यक्ष करने और कथा के अनुरूप भाव-व्यंजना को प्रस्तुत करने के लिए हुई है। प्रकृति के रूपात्मक पक्ष के साथ भाव-व्यंजना की शैली रही है, परन्तु अधिकतर इस भावना में रति स्थायी भाव प्रधान रहा है। तुलसी ने भागवत के अनुसरण पर यहाँ शांत स्थायी-भाव को आधार रूप में स्वीकार किया है। लेकिन इनकी वर्णना में भाव-व्यंजना उसी प्रकार चलती है—'बादलों के बीच में बिजली चमक रही है—खल की प्रीति स्थिर नहीं रहती। बादल पृथ्वी पर झुक झुक कर बरसते हैं विद्या प्राप्त कर बुद्धिमान् नम्र ही होते हैं; वर्षा की बूँदों की चोट पर्वत सह लेता है—दुष्ट के वचन को सज्जन बिना किसी अवरोध के सह लेते हैं। और यह क्षुद्र नदी (देखो तो सही) कैसी भरी हुई इतरा रही है—नीच थोड़ा धन पाकर इतरा चलता है। पृथ्वी पर पड़ते ही पानी मैला हो जाता है जैसे जीव को माया लिप्त कर लेती है।'[४३] यह वर्णन कथानक से निरपेक्ष लगता है। परन्तु इस यथार्थ चित्रण के विषय में दो बातें कही जा सकती हैं। इस वर्णन को राम स्वयं करते हैं जो पूरे कथानक में निरपेक्ष हैं, फिर इस स्थल पर उनका और उनकी वर्णित प्रकृति का निरपेक्ष होना स्वाभाविक है। ज्ञानात्मक उपदेश भी उनके चरित्र के अनुरूप हैं। परन्तु तुलसी ने राम के चरित्र को सर्वत्र दृढ़ मानवीय आधार दिया है। इस प्रकार इस प्रकृति-वर्णन में एक व्यंजना सन्निहित है—'लक्ष्मण, यहाँ ऐसा ही होता। सुग्रीव यदि अपना कर्त्तव्य भूल गया तो यह उसके अनुरूप है। पर महान व्यक्तियों में सहनशीलता चाहिए।' इस प्रकार तुलसी का यह प्रयोग कलात्मक है, और इसमें प्रकृति का रूप बिलकुल

४३ वही : किष्कि०, दो० १४

सजीव है—

"आवत देखि अधिक रव बाजी। चलेउ बराह मरुत गति भाजी।
तुरत कीन्ह नृप सर संधाना। महि मिलि गयउ बिलोकत बाना।
तकि तकि तीर महीस चलावा। करि छल सुअर सरीर बचावा।
प्रगट दुरत जाइ मृग भागा। रिसि बस भूप चलेउ संग लागा।
गयउ दूरि घन गहन बराहू। जहँ नाहिन गज बाजि निबाहू।"[४५]

इस वर्णन का यथार्थ चित्र शब्द-योजना से और भी अधिक व्यक्त हो उठा है। इस वर्णन के अतिरिक्त चित्रकूट के आदर्श चित्रों के साथ केवट द्वारा वर्णित कलात्मक चित्र भी इसी कोटि का है। इसमें प्रौढ़ोक्ति सम्भव उत्प्रेक्षा का आश्रय लिया गया है—"हे नाथ, इन विशाल वृक्षों को देखिए, उनमें पाकड़, जामुन, आम और तमाल हैं जिनके बीच में वट वृक्ष सुशोभित है, जिसकी सुन्दरता और विशालता को देखकर मन मोहित हो जाता है। जिनके पल्लव सघनता के कारण नीलाभ हैं, फल लाल हैं, घनी छाया सभी समय सुख देती है: मानों अरुणिमायुक्त तिमिर की राशि ही हो जिसको विधि ने सुषमा के साथ निर्मित किया है।"[४६]

§ १५.—हम कह चुके हैं कि तुलसी में विभिन्न प्रवृत्तियों और परम्पराओं का समन्वय हुआ है। 'रामचरितमानस' में साहित्यिक परम्परा के अनुसार प्रकृति का उद्दीपन रूप मिलता है जिसका संकेत अन्यत्र किया जायगा। इनके काव्य में प्रकृति के प्रति सहचरण की भावना भी मिलती है, यद्यपि जन-गीतियों जैसा स्वच्छंद वातावरण इसमें नहीं है। सीता-हरण के बाद राम सीता का समाचार—'लता, तरु, खग, मृग तथा मधुकरों' से पूछते हैं। परन्तु यह सहानुभूति की स्थिति इसके आगे ही प्रकृति

सहज संबन्ध का रूप

४५ वही ; बाल०, दो० १५६–५७
४६ वही ; अयो०, दो० २३७

की विरोधी भावना के रूप में उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत आ जाती है। अगले प्रसंग में राम पशुओं में भावारोप करते हुए सहानुभूति के वातावरण में प्रकृति को संबोधित करते हैं—

"हमहि देखि मृग निकर पराहीं। मृगी कहहिं तुम्ह कहँ भय नाहीं।
तुम्ह आनंद करहु मृग जाए। कंचन मृग खोजन ए आए।
संग लाइ करिनी करि लेहीं। मानहुँ मोहि सिखावन देहीं।।"[४७]

इस वर्णन में विरोधी भावना के साथ व्यंगात्मक प्रकृति भी मानव की सहचरी है।

× × ×

§ २६—प्रारम्भ में कहा गया है कि हिन्दी साहित्य के मध्ययुग में संस्कृत महाकाव्यों के समान कोई काव्य नहीं है। परन्तु अलंकृत शैली के अनुसार इस शैली में 'रामचन्द्रिका' और 'वेलि किसन रुकमणी री' को लिया जा सकता है। इन दोनों काव्यों में महाकाव्यों के सर्ग नियमों का पालन नहीं है। 'रामचन्द्रिका' में प्रकाश हैं परन्तु इनमें अनेक छन्दों का प्रयोग किया गया है, जबकि 'वेलि किसन रुकमणी री' में कथा एक ही साथ कह दी गई है। परन्तु वर्णना शैली के अनुसार ये दोनों काव्य संस्कृत महाकाव्यों का अनुसरण करते हैं। वर्णन प्रसंगों में लगभग समस्त महाकाव्यों में वर्णित होने वाले स्थलों को ग्रहण किया गया है। साथ ही ये वर्णन कलात्मक तथा चमत्कृत शैलियों में ही किए गए हैं। केशव की 'रामचन्द्रिका' में प्रकृति-वर्णन के स्थल दो परम्पराओं का अनुसरण करते हैं। पहली में 'रामायण' की कथावस्तु के अनुसार प्रकृति-स्थलों के चुनाव की परम्परा है, जिसमें वन-गमन में मार्गस्थित, वन का वर्णन, पंचवटी का वर्णन, पंपासर का वर्णन तथा प्रवर्षण पर्वत पर वर्षा तथा शरद

अलंकृत काव्य परम्परा 'रामचन्द्रिका'

[४७] वही; अयो०, दो० ३७

का वर्णन आता है।[४८] इनके अतिरिक्त कुछ प्रकृति-स्थलों को केशव ने महाकाव्यों की परम्परा के अनुसार उपस्थित किया है। इनमें से सूर्योदय का वर्णन तो कथा के अन्तर्गत ही आ जाता है, पर प्रभात-वर्णन, चन्द्र-वर्णन, उपवन-वर्णन और जलाशय-वर्णन महाकाव्यों के आधार पर लिए गए हैं। केशव ने कृत्रिम पर्वत (और नदी) का वर्णन किया है जिनका उल्लेख संस्कृत काव्यों में क्रीड़ा-शैल के नाम से हुआ है। यह राजसी वातावरण का प्रभाव माना जा सकता है। केशव संस्कृत के पंडित थे और हिन्दी के आचार्य्य कवियों में हैं। अपनी प्रवृत्ति में अलंकारवादी हैं। इन कारणों से इन के वर्णनों में संस्कृत के कवियों का अनुकरण और अनुसरण दोनों ही मिलता है। इन्होंने प्रमुखतः कालिदास, बाण, माघ तथा श्रीहर्ष से प्रभाव ग्रहण किया है। कालिदास की कला का तो यत्र-तत्र अनुकरण मात्र है अधिक प्रेरणा इनको अन्य तीनों कवियों से मिली है। ऐसा नहीं हुआ है कि केशव ने किसी एक स्थल पर एक ही शैली का अनुसरण किया हो। वस्तुतः किसी एक प्रकृति-रूप को उपस्थित करने में इन्होंने विभिन्न शैलियों का प्रयोग किया है। इसका कारण है। केशव का उद्देश्य वर्णना को अधिक प्रत्यक्ष तथा भाव-गम्य बनाने का नहीं है। उनके सामने प्रकृति का कोई रूप स्पष्ट नहीं है। वे तो वर्णन शैलियों के प्रयोग के उद्देश्य को लेकर चलते हैं।

---

४८ रामचन्द्रिका में : वनवर्णन, प्रका० तीसरा छं० १–११; पंचवटी-वर्णन, प्रका० ग्यारह १९–२३; दण्डक-वर्णन, प्रका० बारह ४४–४६; प्रवर्षण पर वर्षा और शरद, प्रका० तेरह १९–३७; सूर्योदय-वर्णन, प्रका० चौदह १०-१५; प्रभात-वर्णन, प्रका० तीस १८-२१; वसंत-वर्णन, प्रका० तीस ३२-४०; चन्द्र-वर्णन, प्रका० तीस ४१-४६; उपवन-वर्णन, प्रका० बत्तीस १-१०; जलाशय-वर्णन, प्रका० बत्तीस ११-१६; कृत्रिम-पर्वत और नदी, प्रका० बत्तीस २१-३१ .

§ १७—विश्वामित्र के आश्रम के वर्णन-प्रसंग में केशव पहले केवल उल्लेखात्मक ढंग से, देश-काल की सीमा का बिना ध्यान किए वृक्षों को गिना जाते हैं—

[margin: ...र का रूप और शैली]

'तरु ताली तमाल ताल हिंताल मनोहर।
मंजुल बंजुल तिलक लकुच नारिकेर वर।
एलाललित लवंग संग पुंगीफल सोहैं।
सारी शुक कुल कलितचित्त कोकिल अलि मोहैं।
शुभ राजहंस कलहंस कुल नाचत मत्त मयूर गन।
अति प्रफुल्लित फलित सदा रहै केशवदास विचित्र बन॥'[४९]

वृक्षों के साथ इसमें पक्षियों का उल्लेख भी मिला दिया गया। इस वर्णन से प्रत्यक्ष है कि केशव ने वन-वर्णन के लिए शास्त्रीय कवि परम्परा का पालन किया है। इस ऋषि-आश्रम के वर्णन में आदर्श भावना का संकेत मिलता भी है, आगे के वर्णन में केशव बाण के अनुकरण पर परिसंख्या की योजना में घटना-स्थिति को बिलकुल भुला देते हैं। इसी प्रकार सूर्योदय प्रसंग में स्वतःसम्भावी कल्पना के आधार पर ये कालिदास और भारवि का अनुसरण करते हैं—'(मानो) आकाश रूपी वृक्ष पर अरुण मुखवाला सूर्य रूपी बानर चढ़ गया; और उसने उसको झुकाकर हिला दिया जिससे वह तारे रूपी आकाश कुसुमों से विहीन हो गया।' इसी प्रकार पूर्व दिशा की कल्पना प्रौढ़ोक्ति सम्भव होकर भी कलात्मक है—'मुनिराज, आकाश की शोभा को देखिए, लाल आभा से उसका मुख सुशोभित हो गया है। जान पड़ता है, मानो सिंधु में बड़वाग्नि की ज्वाल-मालाएँ शोभित हों अथवा सूर्य के घोड़ों की तीक्ष्ण खुरी से उड़कर पद्मराग की धूल से दिशा आपूरित हो उठी है।' परन्तु इस चित्रपट के आरम्भ में ही कवि ने परम्परा

४९ राम०; केशव : प्र० प्रकाश छं० २

कल्पनाएँ की हैं—

' परिपूरण सिंदूर पूर कैधौं मंगल घट।
किधौं शुक्र को छत्र मढ्यौ मानिक-मयूपपट।
कै श्रोणित कलित कपाल यह किल कपालिका काल को।
यह ललित लाल कैधौं लसत दिग्भामिनी के भाल को॥'[५०]

इस वर्णन में माघ से श्रीहर्ष की ओर जाने की प्रवृत्ति है। इन समस्त वर्णन शैलियों को मिलाने का कारण यही है कि केशव ने सभी कवियों से ग्रहण किया है और साथ ही ये अलंकारवादी हैं। पंचवटी तथा भरद्वाज आश्रम के वर्णन बाण की अलंकृत शैली में किए गए हैं। इनमें अनुकरण तथा आलंकारिता की ओर विशेष ध्यान है जिससे बाण जैसी रूप-योजना का नितान्त अभाव है। इसमें अनेक कल्पनाएँ केशव ने वैसी ही ले ली हैं। श्लेष-परिपुष्ट उत्प्रेक्षा द्वारा दंडक-वन का वर्णन इस प्रकार है—

"बेर भयानक सी अति लसै। अर्क समूह जहाँ जगमगै।
नैनन को बहु रूपन ग्रसै। श्री हरि की जनु मूरति लसै।
पाण्डव की प्रतिमा सम लेखो। अर्जुन भीम महामति देखो।
है सुभगा सम दीपति पूरी। सुन्दर की तिलकावलि रूरी।"

इसी प्रकार केशव बिना प्रकृति-रूप को समक्ष रखे ही आलंकारिक योजना प्रस्तुत करते जाते हैं। जिस स्थल पर कल्पना चित्रमय हो सकी है, एक रूप सामने आता है। पर वह चित्र समग्र योजना में अलग सा रहता है और उसका रूप आलंकारिक सौन्दर्य तक सीमित रह जाता है—'*गोदावरी अत्यंत निकट है, जो चंचल तुङ्ग तरंगों में* प्रवाहित हो रही है। वह कमलों की सुगन्ध पर क्रीड़ा करते हुए भ्रमरों से सुन्दर लगती है, मानों सहस्रों नयनों की शोभा को प्राप्त हुई है।'[५१]

---

५० वही, वही : प्रका० पाँचवाँ १४, १३, ११
५१ वही; वही : प्रका० ग्यारहवाँ २१' २२, २४

त चित्र में भी कवि की मान्यता के साथ काल्पनिकता अधिक है। भरद्वाज
के आश्रम वर्णन में बाण की 'कादम्बरी' के आश्रम-वर्णन का अनुकरण
है। परन्तु बाण में सुन्दर वातावरण की योजना की गई है, जब कि
केशव केवल आलंकारिक चमत्कार दिखा सके हैं—

"सुवा ही जहाँ देखिये वक्रगामी। चलै पिप्पली तिल हु वै सभामी।
कँपै श्रीफलै पत्र हैं पत्र नीके। सुरामानुरागी सबै राम ही के।
जहाँ वारिदै वृन्द बाजानि बाजै। मयूरै जहाँ नृत्यकारी बिराजै।।"[५२]

परिसंख्यालंकार की यह योजना नितान्त वैचित्र्य की प्रवृत्ति है।
पम्पासर का वर्णन साधारण उल्लेखों के आधार मात्र पर हुआ है,
केवल एक उत्प्रेक्षा कवि की प्रौढ़ोक्ति के रूप में अच्छी है—

"सुन्दर सेत सरोरुह में करहाटक हाटक की द्युति को है।
तापर भौंर भलो मन रोचन लोक बिलोचन की रुचि रोहै।।
देखि दई उपमा जलदेविन दीरघ देवन के मन मोहै।
केशव केशवराय मनों कमलासन के सिर ऊपर सोहै।।"[५३]

इस चित्र का सौन्दर्य रूप या भाव को प्रत्यक्ष करने से अधिक
उक्ति से संबन्धित है। प्रवर्षण पर्वत का वर्णन श्लेष के द्वारा
चमत्कार योजनाओं में हुआ है। इस प्रसंग में वर्षा का वर्णन अधिक
कलात्मक हो सका है। साथ ही इसमें वर्षा की व्यापक सीमाओं के
साथ कुछ चित्रमयता भी आ सकी है—'घन मंद मंद ध्वनि से गरजते
हैं, बीच बीच में चपला चमकती है, मानों इन्द्रलोक में अप्सरा नाचती
है। आकाश में घने काले बादल सुशोभित हैं उनमें बकों की पंक्तियाँ
मन को मोहित करती हैं, मानों बादलों ने जल से सीपियों का पी लिया है
और उसे ही बलपूर्वक उगल दिया है। अनेक प्रकार के प्रकाश धन में
दिखाई देते हैं, मानों आकाश के द्वार पर रत्नों की अवली बँधी हो

५२ वही; वही : प्रका० तीसवाँ ३८, ३९
५३ वही; वही : प्रका० बारहवाँ ४९

कालिदास का अनुसरण किया है। वेलि की कथा संक्षिप्त है, इस कारण इसमें वस्तु स्थिति के रूप में प्रकृति को उपस्थित करने का अवसर नहीं रहा है। केवल एक स्थल पर द्वारिका के निकट नाकरा का ध्वनि-चित्र मिलता है—

> 'धुनि वेद सुणति कहूँ सुणति सत धुनि
> नद भल्लारि नीसाण नद।
> हेका कद हेदा हिलो.ल,
> सादर नयर सरीत मद॥'[५७]

अन्य समस्त प्रकृति के वर्णन कवि ने कथा समाप्त करके प्रस्तुत किए हैं। यह प्रकृति-योजना बाद के संस्कृत महाकाव्यों के अनुरूप हुई है जो व्यापक उद्दीपन के रूप में कथा की पृष्ठ-भूमि में रखकर उपस्थित की गई है। इन वर्णनों में आरोपों द्वारा अथवा नाद-व्यंजना के माध्यम से प्रकृति का प्रयोग उद्दीपन के अन्तर्गत हुआ है। परन्तु इन रूपों में कला के साथ रसात्मकता भी है। इनके अतिरिक्त ऋतु-वर्णनों में मानवीय क्रिया-कलापों का योग भी किया गया है जिस प्रवृत्ति का विकास संस्कृत ऋतु-वर्णनों में देखा जाता है।

क—इन समस्त वर्णनों के बीच में कवि ने सुन्दर चित्रों की उद्भावना की है जिससे कवि की प्रतिभा, मौलिकता तथा उसके सूक्ष्म निरीक्षण का पता चलता है। पृथ्वीराज राजस्थानी कवि हैं, इस कारण इनके सामने ग्रीष्म और वर्षा का रूप ही अधिक प्रत्यक्ष हो सका है। इनके वर्णनों में सब से अधिक स्वाभाविक और चित्रमय रूप भी इन्हीं ऋतुओं में है। अन्य ऋतुओं

कल्पनापूर्ण चित्रण

---

५७ वेलि क्रिसन रुकमणी री; पृथ्वीराज; ५० ५८ [(कहीं पर) ... , कहीं वेद पढ़ने की ध्वनि सुन पड़ती, कहीं ... ध्वनि सुनाई ... ; कहीं ... की झंकार हो रही ... है ... ध्वनि ... । जिसके ... के कारण ... और ... ध्वनि ...]

में, विशेषकर वसंत तथा मलय पवन के वर्णन में आरोप और उद्दीपन की भावना अधिक है, साथ ही इनमें परम्परा पालन भी अधिक है। ग्रीष्म का यथार्थ रूप कवि के सामने है—'तब सूर्य ने जगत् के सिर के ऊपर होकर मार्ग बनाया, सघन वृक्षों ने जगत् पर छाया की, नदी और दिन बढ़ने लगे, पृथ्वी में कठोरता और हिमालय में द्रव भाव आ गया।' यह रेखाओं का उल्लेख केवल ग्रीष्म का व्यापक संकेत देता है। आगे कुछ अधिक गहरी रेखाएँ हैं—'मृगवान ने चलकर हरिणों को किंकर्त्तव्यविमूढ़ कर दिया; धूलि उड़कर आकाश से जा लगी। आर्द्रा में वर्षा ने पृथ्वी को गीला कर दिया, गड्ढे भर गए और किसान उद्यम में लगे।' ग्रीष्म का अगला चित्र कलात्मक है और अधिक सूक्ष्म दृष्टि का परिचय देता है—'मनुष्यों का सूरज से तपे हुए आषाढ़ मास के मध्याह्न में माघ मास की मेघ-घटाओं से आच्छादित कृष्णपक्ष अर्द्धरात्रि की अपेक्षा अधिक निर्जनता का भान हुआ।'[५८] इसी प्रकार कवि वर्षा की उद्भावना करता है—'मोर ध्वनि करने लगे, पपीहा टेर करने लगा; इन्द्र मंचल बादलों ने आकाश का शृंगारने लगा।...बड़े ज़ोर से बरसने से पर्वतों के नाले शब्दायमान होने लगे, सघन मेघ गम्भीर शब्द से गर्जने लगा; समुद्र में जल नहीं समाता, और बिजली बादलों में नहीं समाती। इन चित्रों में कलात्मक चित्रमयता है। अगले चित्र में उपमा के द्वारा भावाभिव्यक्ति की गई है—

> "काली करि काँठल ऊजल कोरण
> धारे श्रावण धरहरिया।
> गलि चलिया दिसो दिसि जलप्रभ
> थंभि न विरहिया नयण थिया ॥"[५९]

---

५८ वही; वही : छं० १८७, १९०

५९ वही; वही : छं० १९४, १९६, १९५ [काले काले वर्त्तुलकार मेघों में प्रान्तभागस्थ श्वेत बादलों की कोरवाली घटाओं सहित श्रावण

इसमें स्वाभाविक वस्तु योजना में भाव व्यंजना के द्वारा विरह भावना की अभिव्यक्ति हुई है। परन्तु यह मानवीय भावना के सम पर प्रकृति की भावमयता है। इस कारण यह प्रकृति रूप उद्दीपन की विशुद्ध सीमा के बाहर का है। जब इसी में आरोप की भावना प्रत्यक्ष हो जाती है, उस समय प्रकृति शुद्ध उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत आती है।

× × ×

§ २०—'ढोला मारूरा दूहा' के समान गणपति रचित 'माधवानल काम-कन्दला प्रबन्ध' कथात्मक लोक गीति से बहुत निकट है।[६०]

एक कथात्मक लोक-गीत

इसमें भी स्वच्छंद वातावरण मिलता है। यह कथा अत्यधिक लोक-प्रिय रही है और अनेक प्रदेशों में इसका प्रचार रहा है। इसी नाम के दो प्रेम-काव्यों का उल्लेख किया भी गया है। इसमें बारहमासा वर्णन के दो अवसर आए हैं। एक में माधव के विरह का प्रसंग है और दूसरे में कामकंदला के विरह का। भारतीय जीवन में नारी का विरह ही अधिक उन्मुक्त रहा है; यही कारण है कि इस लोक-गीति में भी कामकंदला का बारहमासा अधिक भाव-व्यंजक है। जैसा 'ढोला मारूरा दूहा' के विषय में देखा गया है इसमें प्रकृति के साथ मानवीय भावों की स्वच्छंद व्यंजना हुई है। फाल्गुन मास में कोयल के स्वर से वियोगिनी विह्वल हो उठती है—

"कोयलडी अवय यडी, काजिल कथण हारि।
काम करइ घण कटकई, जिहा अकेलडी नारि॥"

मूसलाधार वृष्टि से पृथ्वी को जल प्लावित करने लगा। दिशा दिशा के बादल पिघल चले वे थमते नहीं, विरहिणि स्त्री के नेत्र हो रहे हैं]

६० यहाँ इसका विवेचन बाद में इस लिए किया गया है कि इसकी खोज कुछ बाद में मिल सकी। एम० आर० मजूमदार ने गणपति का समय १६ वीं श० माना है जिसने इस लोक-गीति को काव्य रूप में संग्रहीत किया है।

और चैत्र मास में पुष्पित पल्लवित वसंत के साथ विरहिणी व्याकुल हो उठी है —

"चैतक चंपक फु अजयां, होडी ले सीहकार।
तरुअर बहु पल्लव धरइ, 'मारि' करइ बहु मार ॥"

प्रसाद के उमड़ते बादलों और चमकती बिजली से वह चंचल हो उठती है—

"चिहुँ दिशि चमकइ बीजली, बादल वा वंतेल।
दुख दरिया मोंहा हूँ गई, ढल बलती दुहि वांल ॥"[९१]

सी प्रकार वियोगिनी की व्यथा प्रकृति के साथ व्यक्त होती है।

क—कामकंदला के विरह-प्रसंग में प्रकृति से निकट का संबन्ध स्थित करती हुई उपस्थित होती है। कहा गया है कि गीतियों की स्वच्छन्द भावना में यह संबन्ध स्वाभाविक है। वह सूर्य, चन्द्र, पवन, जल, चातक, मयूर, कोकिल आदि प्रकृति के रूपों के प्रति उपालंभ देती है। विरोध में उपस्थित प्रकृति के प्रति यह उपालंभ सहज सहानुभूति को ही प्रकट करता है। कामकंदला चातक से उसके उत्तेजक शब्द के लिए उपालंभ देती है—

ाहचर्य भावना

"तूं संभारइ शब्द तउ, हूँ, हुंकुं लिख मात्र।
पीउ पीउ मुखि पीकरतां, गहि वरिउं सवि गान ॥"

र के प्रति उसे कितना आक्रोश है—

"माभिम-राति मोर! तूं, म करसि मुआ! पोकार।
सूता जागी सटक दे, 'मारि' करइ मुख्नि मारि ॥"

केल के प्रति उसकी अभ्यर्थना में मार्मिक वेदना है—

"काली राति कोकिल! तूं पणि काली कोय।
बोलइ रखे बीहामणी! मुझ प्रीउ गामि होय ॥"[९२]

---

९१ माधवा०; मरा ति : छं० ५२६, ५२८, ५५७
९२ वही; वही : छं० ३९३, ३९७, ४००

और अन्त में वह अत्यंत निकटता से पवन को अपना दूत बना कर अपने परदेशी प्रिय के पास भेजती है—

> "पवन ! संदेशु पाठवेउ, माहव माधव-रेति ।
> तपन लगाड़ी ते गयु, मझ मूकी पर देशि ॥"[६३]

इस समस्त वातावरण के साथ भी इस गुजराती गीति कथा काव्य में 'ढोला मारुरा दूहा' जितनी स्वच्छन्द भावना नहीं है। इसका कारण है कि इसमें साहित्यिक रूढ़ि का अनुसरण अधिक है।

सप्तम प्रकरण

विभिन्न काव्य-रूपों में प्रकृति (क्रमशः)

गीति-काव्य की परम्परा

§१—हिन्दी मध्ययुग के गीति काव्य का विकास जन गीतियों के आधार पर हुआ है। मध्ययुग का गीति काव्य पदों में सीमित है, जिसका विकास दो परम्पराओं से संबन्धित है। संतों की पद परम्परा का स्रोत सिद्धों की पद शैली है जिसका विकास जनगीतियों के उपदेशात्मक अंश को प्रमुखता देकर हुआ है। वैष्णव पद गीतियों का विकास भारतीय संगीत के योग से भावात्मकता और वर्णनात्मकता को प्रधानता देनेवाली जन-गीतियों से सम्भव है।[1] संस्कृत में जयदेव के 'गीतगोविंद'

पद-गीतियाँ तथा साहित्यिक गीतियाँ

---

१ वैष्णव पदों का प्रचार मन्दिरों में था, और यह भगवान् की सेवा के विभिन्न अवसरों पर गाए जाते थे। इस प्रकार ये पद रागों में बँध गए हैं। साथ ही इनमें जिन छन्दों का प्रयोग है वे अधिकांश जन गीतियों के हैं

के अतिरिक्त कोई प्रमुख गीति-काव्य नहीं है। इसका कारण संस्कृत काव्य का अपना आदर्श है जिसमें स्वानुभूतियों की मनस्-परक अभिव्यक्ति के लिए स्थान नहीं रहा है। साहित्य में जन गीतियों की उपेक्षा का कारण भी यही रहा है। इनमें व्यक्तिगत वातावरण ही प्रमुख रहता है। गायक अपनी ही बात, अपनी ही अनुभूति प्रमुखतः कहना चाहता है। साहित्यिक गीतियों में यही व्यक्तिगत अनुभूति जन-गीति के स्थूल आधार को छोड़कर स्पष्ट मनस-परक अभिव्यंजना में व्यापक और गम्भीर होकर सामाजिक हो जाती है। हिन्दी के पद-काव्य के विकास में कवि की स्वानुभूति को अभिव्यक्ति का अधिक अवसर नहीं मिला है। फिर भी भक्तों के विनय के पद और मीरा तथा सन्तों की प्रेम-व्यंजना में आत्माभिव्यक्ति का रूप है। इन गीति के पदों और पश्चिम का साहित्यिक गीतियों में बहुत बड़ा अन्तर है। मध्ययुग के आत्माभिव्यक्ति के रूप में लिखे गए पदों में स्वच्छंद वातावरण अधिक है। भक्त या साधक ने अपनी भावाभिव्यक्ति के लिए जन-गायक के समान प्रेम और विरह का उल्लेख तीव्र भावों में और स्थूल आधार पर किया है। जबकि साहित्यिक गीतियों में कवि की भावना और वेदना का मनस् परक चित्र व्यंजनात्मक चित्रमयता के साथ उपस्थित किया जाता है। इसी विभेद के कारण हिन्दी मध्ययुग के आत्माभिव्यक्ति के पदों में भी प्रकृति का स्थूल आधार भर लिया गया है और अभिव्यक्ति के लिए भी विशेष रूप से प्रकृति का आश्रय नहीं लिया गया। पश्चिम की साहित्यिक गीतियों में कवि की मानसिक प्रभावशीलता के रूप पर प्रकृति दूर तक आती है; साथ ही इनकी व्यंजना प्रकृति के माध्यम से की गई है। वन्दना के पदों में प्रकृति के माध्यम का कोई प्रश्न नहीं उठता, उपमानों के रूप में सौन्दर्य कल्पना में प्रकृति के माध्यम पर विचार किया गया है।

२—प्रेम के संयोग-वियोग पदों की व्यंजना जिन पदों में की गई है, उनमें भावान्दोलन के प्रवाह में प्रकृति का रूप संकेतों में आया

"बरसै बदरिया सावन की, सावन की मन भावन की।
सावन में उमग्यो मेरे मानवा, भनक सुनि हरि आवन की।
उमड़-घुमड़ चहुँ दिसि से आयो, दामण दमक झर लावन की।
नन्हीं नन्हीं बूँदन मेहा बरसै, सीतल पवन सोहावन की।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, आनंद मंगल गावन की।"[४]

यहाँ मीरा के प्रिय मिलन के उल्लास के साथ प्रकृति उल्लसित हो उठी है। इस रूप में वह भावों को सीधे अर्थों में उद्दीप्त न करके मानवीय भावना से रस प्राप्त करती है। आगे के उद्दीपन-विभाव के प्रकरण में देखा जा सकेगा कि मीरा और संतों में उस क्षेत्र में भी चित्र-मयता नहीं है, पर स्वच्छंद भावना का वातावरण अवश्य है।

§ ३—मध्ययुग की पद-गीतियों में घटना और वस्तु-स्थिति का आश्रय भर लिया गया है। पद शैली में किसी विशेष वस्तु या भाव को केन्द्र में रखकर उसी का छाया प्रकाशों में चित्र अंकित किया जाता है। ऐसी स्थिति में पदों में अधिकतर भावाभिव्यक्ति ही हुई है और उनमें केन्द्रीभूत भावना व्यक्तिगत लगने लगती है। इस प्रकार इन पदों में कवि की स्वानुभूति की व्यंजना न होकर भी उसकी अन्तर्वर्ती भावना का रूप आ जाता है। परन्तु इन पदों में भावों की मानसिक चित्रमयता की ओर उतना ध्यान नहीं दिया गया है, जितना भावों की सांकेतिक व्यंजना की ओर। इस कारण इन पदों में भी प्रकृति का आधार स्थूल संकेतों में रहा है। पद-काव्य पर विचार करते समय विद्यापति का उल्लेख आवश्यक है। हिन्दी पद-गीतियों का आरम्भ इन्हीं से माना जाता है। विद्यापति की भावना ने उनके पदों में अभिव्यक्ति का एक विशेष स्तर स्वीकार किया है, इस कारण भी इनका महत्त्व अधिक है। विद्यापति के पदों में राधा और कृष्ण के प्रेम का वर्णन

पद-गीतियों में मध्य-स्थित भाव-स्थिति

४ वही; वही : ५० ९९

है। परन्तु इस प्रेम में यौवन तथा उन्माद इतना गम्भीर हो उठा है कि उसमें कवि की अन्तरित भावना ही आत्माभिव्यक्ति के रूप में प्रकट होती है। ऐसा सूर में भी है, परन्तु विद्यापति में भक्ति-भावना का आवरण नहीं है। वे राधा-कृष्ण के प्रेम के यौवन उन्माद से अपनी भावना का उन्मुक्त तादात्म्य स्थापित कर सके हैं। इसी क्रम पर कवि ने *मानसिक भावस्थितियों की अभिव्यक्त करने का प्रयास* भी किया है। इस कारण इनके पदों में साहित्यिक गीतियों का सुन्दर रूप मिलता है। परन्तु ये गीतियाँ प्रवृत्तिवादी गीतियाँ नहीं हैं। इनमें तो सौन्दर्य और यौवन, विरह और संयोग की भावना व्यक्त हो सकी है। विद्यापति के वर्णनों में मनस्‌परक पक्ष की व्यंजना इस प्रकार सन्निहित हो गई है। जब सौन्दर्य और यौवन प्रेम की मानसिक स्थिति को छू कर व्यक्त होते हैं, उस समय अनुभूति का गहरा और प्रभावशील होना स्वाभाविक है। इस गम्भीर अनुभूति के कारण विद्यापति की अभिव्यक्ति साधकों और भक्तों की प्रेम व्यंजना के समान लगती है। परन्तु विद्यापति में भी मानसिक स्थिति के संकेत अवस्था और व्यापारों में खो जाते हैं जो भक्तियुग के कवियों की समान विशेषता के साथ भारतीय काव्य की भी प्रवृत्ति है।

§ ४—आध्यात्मिक साधना के प्रकरण में सौन्दर्य योजना में प्रकृति-रूप पर विचार किया गया है। विद्यापति ने सौन्दर्य के साथ यौवन की स्फुरणशील स्थिति का संकेत प्रकृति के माध्यम से दिया है। सौन्दर्योपासक प्रवृत्तिवादी प्रकृति के हश्यात्मक रूप में यौवन की व्यंजना के साथ आकर्षित होता है; उसी के समानान्तर विद्यापति मानवीय सौन्दर्य के उल्लासमय यौवन से आकर्षित होकर प्रकृति-रूप योजना के माध्यम से उसे व्यक्त करते हैं—'कनकलता में कमल पुष्पित हो रहा है, उसके मध्य में चन्द्रमा उदित हुआ है। कोई कहता सेवार से आच्छादित हो रहा है; किसी का कहना है—

विद्यापति : यौवन और सौन्दर्य

नहीं, यह तो मेघों से ढाँप लिया गया है। कोई कहता है भौंरा भ्रमराता है; कोई कहता है—नहीं, चकोर चकित है। सभी लोग उसे देख कर संशय में पड़े हैं। लोग विभिन्न प्रकार से उसको बताते हैं। विद्यापति कहते हैं .....भाग्य से ही गुणवान् पुरुष रूप प्राप्त करता है।'[५] इसमें अन्य सगुण भक्तों के समान रूप-कान्तिशक्ति के द्वारा रूपात्मक सौन्दर्य की स्थापना की गई है, साथ ही यौवन की चंचलता का भाव भी सन्निहित है जो प्रकृति के स्फुरणशील रूप में स्थित है। इस प्रकार के प्रकृति रूप का उल्लेख सौन्दर्य-साधना के प्रसंग में किया गया है परन्तु वह भगवान् के लीलामय रूप से अधिक संबन्धित था। विद्यापति ने प्रकृति के माध्यम से यौवन के सौन्दर्य का अनेक स्थलों पर व्यंजित किया है—

'सजनि हे कि कहब किछु नहि फूरि।
तड़ित लतातल जलद समारल आँतर सुरसरि धारा॥
तरल तिमिर शशि सूर गरासल चौदिशि खसि पड़ु तारा।
अम्बर खसल धराधर उलटल धरणी डगमग डोले॥
खरतर बेग समीरन सञ्चर चञ्चरिगण कर रोल।
प्रलय पयोधि जले तन झाँपिल ई नहि युग अवसाने॥'[६]

सगुण भक्तों ने इसी प्रकार की अलौकिक योजना की है। विद्यापति ने इस परम्परा को उनके पहले ग्रहण किया है। परन्तु इन्होंने इसमें सौन्दर्य के यौवन-पक्ष को चंचल-रूप में व्यक्त किया है। इसके अतिरिक्त कवि यौवन-प्रेम के उन्माद की व्यंजना भी प्रकृति के माध्यम से करता है। कवि प्रकृति का उल्लेख करता जान पड़ता है, परन्तु व्यंग्यार्थ में यौवन का उद्दाम प्रेम है—'जाती, केतकी, कुन्द और मंदार और भी जितने सुन्दर फूल दिखाई देते हैं, वे सभी पतिमतपुष्प

---

५ पदावली; विद्यापति : पृ० १६

६ वही; वही : पृ० ५६६

और मकरन्द युक्त है। बिना अनुभव के अच्छा बुरा नहीं जाना जाता। हे सखी तुम्हारा वचन अमृतमय है भ्रमर के व्याज से मैंने अपना प्रियतम पहिचाना।'[7] इसमें यौवन के छिपे हुए आकर्षण का भाव है; आगे मालती और भ्रमर के उदाहरण से प्रेम का वर्णन है। यहाँ प्रकृति प्रमुख है, इस कारण इन प्रयोगों को केवल अलंकारों के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। कवि कहता है यौवन और सौन्दर्य अनंत हैं, पर जिसका जितना स्नेह हो—

'कतहु न जाइअ कतहि कुसुम बन बिकास।
तइअओ भमर तोहि सुमर न तेजअ कबहु पास।
मालति कअओ आएल लागि
भमर चापुर विरह आकुल तुअ दरसन लागी।
जगत जनाए कत उपरल ननदि ...हि निहार।'[8]

इस प्रेम में उद्दीपनशील यौवन के प्रति आकर्षण की भावना बनी रहती है। इस समस्त प्रसंग में भी प्राकृतिक संवेदन का बिल्कुल अभाव नहीं है। यौवन का आवेग समस्त आकर्षण का केन्द्र है, जिसे भ्रमर और मालती के माध्यम से कवि व्यक्त करता है—

"मालति कतिक करिअ रोस।
एक भमर बहुत कुसुम कमल बाहिरि दोस।
जातकि केतकि नागरि पदुमिनि सब सम अनुराग।
ताहि अवसर तोहि न बिसर एहे तोर बड़ भाग।"[9]

४.—सिद्धान्त की दृष्टि से मनोभावों के समानान्तर या अनुरूप प्रकृति उद्दीपन के अन्तर्गत आती है। परन्तु इस स्थिति में उसमें एक ऐसा मानसिक स्तर उपस्थित हो जाता है जिसके कारण हम

७ वही; वही : पृ० ४१७
८ वही; वही : पृ० ९६
९ वही; वही : पृ० ४४०

इस रूप को विशुद्ध उद्दीपन से अलग मानकर उल्लेख करते आए हैं। इस रूप में प्रकृति का संबन्ध घटना स्थिति तथा भाव स्थिति से है, जबकि विशुद्ध उद्दीपन में वह किसी आलंबन की प्रत्यक्ष स्थिति से उत्पन्न भावों को प्रभावित करती है। उद्दीपन-विभाव के प्रसंग में इसको अधिक स्पष्ट किया जा सकेगा।

भाव-सम रूप

विद्यापति ने प्रकृति को मानवीय भावों के सम पर या विरोध में उपस्थित किया है, पर ये वर्णन अभिसार का उद्दीपक वातावरण निर्माण करते हैं। इन चित्रों में अधिकांश में विरोधी भावना लगती है जो रुकावटों के रूप में है और इस सीमा पर प्रकृति उद्दीपन के अन्तर्गत आवेगी। लेकिन यहाँ हृदय के उद्वेग और उसकी विह्वलता को लेकर प्रकृति का वातावरण भी उसी के सम पर चंचल है—

> "गगने अब घन मेह दारुण सघन दामिनि झलकइ।
> कुलिश पातन शब्द झनझन पवन खरतर वलगइ।
> सजनि आजु दुरदिन भेल।
> कन्त हमरि नितान्त अगुसरि सङ्केत कुञ्जहि गेल।
> तरल जलधर वरिखे झर-झर गरजे घन घनघोर।"[10]

इस सम समस्त योजना में भी प्रकृति में प्रतिघटित सम भाव-स्थिति में उद्दाम कामना का रूप झलक जाता है। विद्यापति में प्रकृति भी यौवन के उल्लास के साथ ही उपस्थित होती है—

> "झलकइ दामिनि रहत समान। झनझन शब्द कुलिश झन भान।
> चढ़व मनोरथ सारथि काम। तोरित मिलायव नागर ठाम॥"[11]

विरह और संयोग के पक्षों में प्रकृति का उद्दीपन रूप उपस्थित होता है, साथ ही इनमें बारहमासा और ऋतु-वर्णन की परम्परा भी मिलती है। इनका रूप अधिक स्वतंत्र है, इनमें प्रकृति के संश्लिष्ट

---

१० वही; वही : पृ० २९०

११ वही; वही : पृ० २९२

उल्लेख के साथ भावों की अभिव्यक्ति की गई है। विद्यापति के पदों में साहित्यिक कलात्मकता के साथ प्रकृति के प्रति स्वच्छंद सहचरण की भावना भी मिलती है। इस पद में वियोगिनी का आत्म-व्यक्ति प्रकृति के प्रति सहज सौहार्द के साथ हुई है—

"मोराहि रे अँगना चादन केरि गछिआ
ताहि चढ़ि कुरुरए काक रे।
सोने चञ्चु बँधए देव मोरा बाअस
जओ पिआ आओत आज रे ॥"[१२]

§ ६—मध्ययुग में कृष्ण-भक्ति के अन्तर्गत पद-गीतियों का अधिक विकास हुआ है। अनेक कवियों ने पदों में कृष्ण की कथा और लीलाओं का वर्णन किया है। कृष्ण काव्य के विस्तार में पद-शैली का प्रयोग विभिन्न काव्य रूपों में हुआ है। पदों का प्रयोग कथा के लिए भी हुआ है, इस कारण इनमें गीतियों की भावात्मकता के साथ वर्णना को भी विस्तार मिला है। इन पदों में अध्यन्तरित भावों को अभिव्यक्ति का रूप मिला है, साथ ही इनमें वस्तु और घटना का वर्णनात्मक आधार भी प्रस्तुत हुआ है। पीछे हम देख आए हैं कि भक्तों के लिए भगवान् की लीला भूमि और विहार-स्थली आदर्श और अलौकिक है। उसमें प्रकृति का रूप भी ऐसा ही चित्रित है। गोकुल, वृन्दावन और यमुना पुलिन तक कृष्ण-लीला का क्षेत्र सीमित है जिसके आदर्श रूप की ओर आध्यात्मिक प्रसंग में संकेत किया गया है। यही बात तुलसी की गीतावली के चित्रकूट आदि वर्णनों के विषय में सत्य है। वर्णनशैली की दृष्टि से इनमें व्यापक संश्लिष्टता है, कुछ स्थलों में कलात्मक चित्रण भी है। लीला से संबन्धित स्थलों को प्रमुखता देकर स्वतंत्र काव्य-रूपों की परम्परा भी चली है। लेकिन कृष्ण-काव्य के

पद-गीतियों के विभिन्न काव्य-रूप

---

१२ वही; वही; पृ० ८०२

सुशोभित है—उसकी शाखाओं, फल-फूलों में हरि का प्रतिबिंब है। उसके नीचे स्वर्णमयी मणि-भूमि मन को मोहती है। उसमें सबका प्रतिबिंब ऐसा लगता है मानों दूसरा वन ही हो। पृथ्वी और जल में उत्पन्न होनेवाले फूल सुन्दर सुशोभित हैं, बहुत से भ्रमर उड़ते हैं जिनसे पराग उड़ उड़कर पड़ता है और छवि कहते नहीं बनती। प्रेम में उमंगित यमुना तटों पर ही अत्यधिक गहरी प्रवाहित है और उमंग कर अपनी लहरों से मणि मंडित भूमि का स्पर्श कर रही है।"[19] इस चित्र में भगवान् की लीला-स्थली होने के कारण आदर्श का रूप है जिसका उल्लेख साधना के प्रसंग में विस्तार से किया गया है। परन्तु इसकी कलात्मक वर्णना शैली का उल्लेख करना आवश्यक है साथ ही भावात्मक पृष्ठ-भूमि की व्यंजना भी इसमें सन्निहित है। यह लीला का विशेष अवसर है, पर अन्य लीला के प्रसंगों में भी इस प्रकार के चित्र आए हैं। गदाधर भट्ट लीला की पृष्ठ-भूमि कालिन्दी-पुलिन को इस प्रकार उपस्थित करते हैं—

"कालिन्दी जहं नदी नील निर्मल जल भ्राजै।
परम तत्त्व वेदान्त वेद्य इव रूप विराजै।
स्फटिक मनि अरुन लसित घन सोभा।
डोल डोल मद लोल भ्रमत मधुकर मधुलोभा।
सारस अरु कलहंस कोक कोलाहल कारी।
अगनित लछन पच्छि जाति कहतहिं नहिं हारी।
पुलिन पवित्र विचित्र रचित नाना मनि मोती।
लज्जित हैं ससि सूर निसि बासर होती।"[20]

१९ रासपंचाध्यायी; नन्ददास : प्र० अध्या०। यह काव्य प्रबन्धात्मक है, परन्तु लीला के अन्तर्गत होने से यहाँ इसका उल्लेख किया गया है। रोला छंद में उन गीतियों से संबन्धित है और इसमें संगीतात्मक प्रवाह भी है।

२० बानी; गदाधर भट्ट : पद ३, ४

इस विहार की आधार-भूमि के आदर्श-चित्रण में आनन्द व्यंजना निहित है जो स्थिति के अनुकूल है। यह उल्लास की भावना परि-स्थिति के क्रम पर प्रकृति के क्रिया-कलापों से और भी प्रतिघटित जान पड़ती है—'विहार की लीला स्थली में कुंज कुंज इस प्रकार बने हैं मानों मस्त हाथी हों पवन के संचरण से लताएँ तुरंग के समान नृत्य कर उठती हैं; अनेक फूल पुष्पित हो गए हैं, मानों वृन्दावन ने अनेक रंग के वस्त्र धारण किए हैं।'[२१] इस चित्र में कलात्मकता के साथ भाव-व्यंजना है जो आरोप के आश्रय पर हुई है। रास के अव-सर पर नन्ददास ने प्रकृति को भाव स्लास में प्रस्तुत किया है। इस लीला-भूमि में परिस्थिति के उपयुक्त आन्दोल्लास को प्रकृति ध्वनित करती है—

> 'छवि सों फूले अमर फूल अस लगति सुहाई।
> मनहुँ सरद की छपा छबीली, बिहँसति आई।
> ताही छिन उडुगन उदित, रस रास सहायक।
> कुंकुम मंडित प्रिया बदन, जनु नागर नायक।
> कोमल किरन अरुनिमा, बन में ब्यापि रही यों।
> मनसिज खेल्यो फाग घुमड़ि घुरि रह्यो गुलाल ज्यों।
> मंद मंद चलि चारु चंद्रमा, अस छबि पाई।
> उझकत है जनु रमारमन, पिय-कौतुक आई।'[२२]

इस चित्र की शैली कलात्मक और भाव व्यंजक है। भागवत के रास प्रसंग के अनुकरण पर होकर भी इस योजना में गति के साथ अपना सौन्दर्य भी है। यह प्रकृति का वातावरण अपने सौन्दर्य के साथ उस रास के महान अवसर का संकेत भी देता है जो भक्तों के भगवान् की चिरन्तन लीला का एक भाग है।

---

२१ वनविहार लीला; मुक्तक ३ : ११, १४

२२ रास०; नन्द० : प्र० भाग०

(i) रास और विहार प्रसंग के अन्तर्गत प्रकृति के प्रति साहचर्य-भावना का रूप भी मिलता है। इसका इस दिव्य प्रसंग में विशेष अवसर नहीं है। रास के अवसर पर भक्तों के अहंकार को दूर करने के लिए क्षणिक वियोग की कल्पना की गई है। इस स्थिति में मानवीय सहज भाव-स्थिति में गोपियाँ कृष्ण का पता वृक्षों आदि से पूछती फिरती हैं– हे मंदार, तुम तो महान् उदार हो! और हे करवीर, तुम तो वीर हो और बुद्धिमान भी हो। क्या तुमने मनहरण धीरगति कृष्ण को कहीं देखा है। हे कदंब, हे आम और नीम, तुम सब ने मौन क्यों धारण कर रखा है। बोलते क्यों नहीं। हे वट, तुम तो सुन्दर और विशाल हो। तुम ही इधर-उधर देख कर बताओ।[२२] यह प्रसंग भागवत के आधार पर उपस्थित किया गया है। परन्तु नन्ददास में यह स्थल संक्षिप्त है साथ ही अधिक स्वाभाविक है। हम देख चुके हैं कि सहानुभूति के वातावरण में प्रकृति के प्रति सहचरण की भावना में उससे निकट का सम्बन्ध स्थापित करना जन-गीतियों की प्रवृत्ति है। काव्य में प्रकृति के प्रति हमारी सहानुभूति उससे सहज संबन्ध उपस्थित करती है और यह भावना काव्य में जन-गीतियों से ग्रहण की गई है। भक्तों के पदों में इसके लिए अधिक स्थान नहीं रहा है। फिर भी साधक के मन का कवि प्रकृति के इस संबन्ध के प्रति आकर्षित अवश्य हुआ है। सूर इसी विरह प्रसंग के अवसर पर गोपियों की मनःस्थिति को प्रकृति के निकट सहज रूप से संवेदनशील पाते हैं। गोपियाँ वियोग-वेदना में प्रकृति को अपना सहचरी मानकर जैसे पूछती हैं—हे वन की वल्लरी, कहीं तुमने नंदनन्दन को देखा है। हे मालती, मैं पूछती हूँ क्या तूने उस शरीर के चंदन की सुगन्ध पाई है।......मृग-मृगी, द्रुम-वेलि, वन के सारस और पक्षियों में किसी ने भी तो नहीं बताया।......अच्छा तुलसी तुम्हीं बताओ, तुम

सहचरण की भावना

---

२२ वही; वही: द्वि० अध्या०

तो सब जानती हो, वह घनश्याम कहाँ है ! हे मृगी, तू ही मया कर के मुझसे कह...... हे हंस तुम्हीं फिर बताओ।[२४] यह प्रसंग जैसा कहा गया है भागवत के अनुसरण पर है; परन्तु सूर ने इसको सहज वातावरण प्रदान किया है जो पदों की भावात्मकता से एक रस हो जाता है। यहाँ गोपियों का बार-बार उपालम्भ देना—

"मृग मृगिनी द्रुम बन सारस खग काहू नहीं बतायो री।"

स्थिति को अधिक सहज रूप से सामने रखता है, और 'गोद पसार' कर प्रकृति के रूपों 'मया' की याचना करना अधिक स्वाभाविक भाव-स्थिति उत्पन्न कर देता है।

§ ७—रास तथा विहार आदि प्रसंगों के अन्य प्रकृति-रूपों की विवेचना या तो आध्यात्मिक साधना के अन्तर्गत की जा चुकी है या उद्दीपन-विभाव के साथ की जायगी। परन्तु यहाँ इन पद-गीतियों के समस्त विस्तार में प्रकृति के प्रति साहचर्य भावना का जो स्वच्छंद रूप मिलता है उसका उल्लेख कर देना आवश्यक है। अभी रास के प्रसंग में इसका उल्लेख किया भी गया है। रास और विहार संयोग के अन्तर्गत हैं। परन्तु प्रकृति के प्रति हमारी सहानुभूति उत्सुक वियोग के क्षणों में ही उससे अधिक निकट का संबन्ध स्थापित करती है। गोपी विरह में प्रकृति उद्दीपन के रूप में तो प्रस्तुत हुई ही है, परन्तु उसी प्रसंग में गोपियाँ अधिक संवेदनशील होकर उससे निकटता का अनुभव करती है। इस क्षेत्र में सूर की संवेदना गोपियों के माध्यम से अधिक व्यक्त तथा सहज हो सकी है। सूर की गोपियाँ प्रकृति को भी अपनी व्यथा में भावमग्न पाती हैं। उनके सामने यमुना भी उनके समान विरह-व्यथा से व्याकुल प्रवाहित है और इस माध्यम से वे अपनी मनःस्थिति का प्रतिबिंब प्रकृति पर छाया देखती हैं—

अन्य प्रसंगों में प्रकृति-साहचर्य

---

२४ सूर०, ना०; द०, पद १८०८

"दिखिअति कालिंदी अतिकारी।
अहो पथिक कहियो उन हरिसों भई विरह ज्वर जारी।
मन पर्यंक ते परी धरणि धुकि तरंग तलफ नित भारी।
तट बारू उपचार चूर जल परी प्रसेद पनारी।
बिगलित कच कुच कास कुलिन पर पंकजु काजल सारी।
मनमें भ्रमर ते भ्रमत फिरत है दिशि दिशि दीन दुखारी।
निशि दिन चकई वादि बकत है प्रेम मनोहर हारी।
सूरदास प्रभु जोई यमुन गति सोइ गति भई हमारी।"[२५]

इस प्रकृति रूप में गोपों की भावना का तादात्म्य स्थापित हुआ है। इसमें बाह्य आरोपों का आधार लिया गया है और यह भारतीय काव्य की अपनी प्रवृत्ति है। इस ओर संकेत किया जा चुका है कि भारतीय साहित्य में भाव-व्यंजना को बाह्य अनुभावों के आधार पर व्यक्त करने की प्रवृत्ति रही है। इस कारण कवि की भावना को इसी आधार पर अधिक उचित रूप से समझा जा सकता है। अन्यथा कवि के प्रति अन्याय होना सम्भव है, जैसा कि कुछ आलोचकों ने किया भी है। इसी प्रकार का सहानुभूति पूर्ण वातावरण सूर बादल को लेकर उपस्थित करते हैं। गोपियाँ उसके प्रति अपना सौहार्द स्थापित करती हुई परदेशी कृष्ण को उपालम्भ देती हैं और इस स्थिति में जैसे वे अपनी सहानुभूति को निकट सम्बन्ध में पाती हैं -"ये बादल भी बरसने के लिए आ गए, हे नंदनन्दन, देखो तो सही! ये अपनी अवधि को समझकर ही आकाश में गरज घुमड़कर छा गए हैं। हे सखि, कहते हैं ये तो देवलोक के वासी हैं और फिर दूसरे के सेवक भी हैं। फिर भी ये चातक और पपीहा की व्यथा को समझकर उतनी दूर से धाए हैं और देखो इन्होंने तृणों को हरा कर दिया है। लताओं को हर्षित कर दिया है और मृतक दादुरों को जीवन दान किया है। सघन नीड़ में पक्षियों को

२५ वही; वही; पद २७२८

मिलन करके उनका मन भी प्रसन्न कर दिया है। हे सखी अपनी चूक न मुक्त जान पड़ती नहीं, हरि ने बहुत दिन लगा दिए। सांकेतिक रूप में तो मधुबन में आकर हमें भुला ही दिया।[२६] इस वर्षा के सुन्दर चित्र में, बादलों का वर्णन ही नहीं, परन्तु समस्त प्रकृति के प्रति गोपियों की भावव्यंजना प्रत्यक्ष हो उठी है। इसमें भारतीय जीवन के साथ वर्षा का सम्बन्ध भी स्पष्ट हुआ है। यद्यपि यह स्थल सूर में अकेला है, परन्तु सूर का व्यापक सहानुभूति का साक्षी है। इस चित्र में उद्दीपन की भावना बिल्कुल नहीं इसमें प्रकृति सहज तथा सहानुभूतिपूर्ण वातावरण को उपस्थित करती है।

उपालंभ की भावना

क — इसमें सम्बन्धित प्रकृति के प्रति उपालम्भ की भावना का रूप आता है। उपालम्भ की भावना में स्नेह की एक गम्भीर व्यंजना ही छिपी रहती है। भ्रमर गीत में यह भावना प्रकृति के प्रति अनेक प्रकार से व्यक्त हुई है। परन्तु इस प्रकार का रूप विरह के प्रसंग में अन्यत्र भी आया है। सूर की गोपियाँ मधुबन को उपालंभ देती हैं—

> "मधुबन तुम कत रहत हरे।
> विरह वियोग श्याम सुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे।

२६ वही; पद २८२२ यह सरस भाव-व्यंजक पद है—

> "बरु ए बदराऊ बरषन आए।
> अपनी अवधि जानि नँदनंदन गरजि गगन घन छाए।
> कहियत हैं सुरलोक बसत सखि सेवक सदा पराए।
> चातक पिक की पीर जानि कै तेउ तहाँ तें धाए।
> द्रुम किए हरित हरषि बेली मिलि दादुर मृतक जिवाए।
> साजे निबिड़ नीड़ तृन सिंचि सजि पंछिनहूँ मन भाए।
> समुझत नहीं चूक सखि अपनी बहुते दिन हरि लाए।
> सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि मधुबन बसि बिसराए।"

तुम हौ निलज लाज नहिं तुम कहँ फिर शिर पुहुप धरे।
शश सियार अरु बनके पखेरु धिक धिक सबन करें।
कौन काज ठाढ़ रहे बनमें काहे न उकठि परे।"[२७]

गोपियों के इस उपालंभ में मधुबन के प्रति जो आत्मीयता की भावना है वह व्यापक सहानुभूति के वातावरण में ही सम्भव है। परन्तु इस प्रकार की भावना भ्रमर गीत के प्रसंग में व्याजोक्ति और व्यंगोक्ति के आधार पर व्यक्त हुई है। इस प्रसंग की उपालंभ की भावना कृष्ण के प्रति मधुकर के व्याज से दी गई है।[२८] गोपियाँ कृष्ण के प्रति अपने प्रेम की अटूट लगन का उपालंभ के माध्यम से व्यक्त करती हैं—

"रहु रहु मधुकर मधु मतवारे।
कौन काज या निर्गुण सों चिर जीवहु कान्ह हमारे।
लोटत पीत पराग कीच में नीच न अंग सम्हारे॥
बारंबार सरक मदिरा की अपरस रटत उघारे।
द्रुम-बली हमहूँ जानत हौ जिनके हौ अलि प्यारे॥"[२९]

इस भाव-स्थिति में प्रेम, ईर्ष्या, विश्वास का सम्मिलित भाव उपालंभ के रूप में व्यंजित हो उठा है। आगे उपालंभ में व्यथा और व्याकुलता प्रकृति के माध्यम से अधिक व्यक्त हुई है— यह मधुकर भी किसी का मीत हुआ है! चार दिन के प्रेम व्यवहार में रस लेकर अन्यत्र चला जाता है। केवल मालती से मुग्ध होकर अन्य समस्त पुष्पों को छोड़ देता है। कमल क्षणिक वियोग में भी व्याकुल हो जाता है और देखो कितनी व्यथित हो उठती है।' इसमें गोपियों ने

२७ वही; वही : पद २७४१
२८ इस भ्रमर-गीत संबन्धी व्याजोक्ति के विषय में 'कृष्ण-काव्य में भ्रमर-गीत' के 'प्रमुख' में लेखक का मत अधिक स्पष्ट हो सका है।
२९ सूरसा० : दश०, पद २११०

अपनी मनःस्थिति में प्रकृति के साथ स्थान-स्थान पर अपने को भी मिला दिया है—

> "छाँड़न नेहु नाहिं मैं जान्यो लै गुण प्रगट नए।
> नूतन कदम तमाल बकुल वट परसत जनम गए।
> भुज भरि मिलनि उडत उदास ह्वै गत स्वारथ समए।
> भटकत फिरत पातद्रुम बेलिन कुसुम करञ्ज भए॥
> सूर विमुख पद अंबुज छाँड़े विपय निमिप बर छए॥"[३०]

अपनी आत्मविस्मृति स्थिति में गोपियाँ पुष्पों के साथ प्रत्यक्ष रूप से अपनी बात भी कहने लगती हैं। इस प्रसंग में एक स्थल पर गोपियाँ अपने मन की झुँझलाहट को इसी प्रकार व्यक्त किया है—

> "मधुकर कहा कारे की जाति।
> ज्यों जल मीन कमल मधुपन को छिन नहिं प्रीति खटाति।
> कोकिल कपट कुटिल बायस छलि फिरि नहिं वह बन जाति॥"[३१]

इन उदाहरणों में जो प्रतारणा का आरोप किया गया है वह भी सहज निकटता को ही व्यंजित करता है। यह समस्त आक्रोश और उपालंभ इसी भाव को लेकर चला है।

ख—इस प्रकार के प्रकृति रूप अन्य कवियों में नहीं मिलते हैं। इन स्थलों पर प्रकृति का केवल उद्दीपन रूप सामने आ सका है। कदाचित् सूर के अनुकरण पर तुलसी ने 'गीतावली' में राम के घोड़ों के माध्यम से कौशल्या की व्यथा को व्यक्त किया है। कौशल्या कहती हैं—

> "आली! हौं इन्हिं बुझावौं कैसे।
> लेत हिये भरि भरि पति को हित, मातु हेतु सुत जैसे।

---

३० वही, वही, पद ३९९२

३१ वही, वही, पद ३०६८

बार बार हिनहिनात हेरि उत, जौं बोलै कोउ द्वारे ।
अंग लगाइ लिए बारे तें, करुनामय सुत प्यारे ।
लोचन सजल सदा सोवत से, खान पान बिसराए ।
चितवत चौंकि नाम सुनि, सोचत राम सुरति उर लाए ।"[३१]

परन्तु इस अनुकरण में भी तुलसी की व्यंजना अत्यंत भावपूर्ण और चित्रमय है। इसमें पशुओं की मानव के साथ सहानुभूति को व्यक्त किया गया है और साथ ही उनके अनुभावों का सजीव चित्रण भी हुआ है। घोड़े आदि पशु मानवीय सम्पर्क में वियोग का अनुभव करते देखे जाते हैं; यह प्रतिदिन के जीवन का सत्य है जिसके माध्यम से कवि ने भाव-तादात्म्य स्थापित किया है।

ऋतु सम्बन्धी काव्य-रूप

§ ८—भक्त कवियों के पदों में वियोग और संयोग के साथ जन-प्रचलित ऋतु के परिवर्तित दृश्यों का आश्रय भी लिया गया है। हम कह चुके हैं कि संस्कृत काव्य में ऋतुओं का वर्णन रूढ़िगत हो चुका था। भक्त कवियों ने इस परम्परा के साथ जन-गीतियों के उन्मुक्त वातावरण का भी आश्रय लिया है। इनकी प्रमुख प्रवृत्ति प्रकृति-रूपों को उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत लेने की रही है। पद-गीतियों में इनको अलग काव्य-रूप भी नहीं मिला है, अन्य वर्णनों के अन्तर्गत ही सम्मिलित किए गए हैं। आगे चलकर रीति-कालीन परम्परा में इन वर्णनों ने एक निश्चित रूप ग्रहण किया है। इन वर्णनों में ऋतुओं तथा मासों का क्रम भी स्थापित नहीं हुआ है और जो ऋतु अथवा मास अधिक प्रभावशील है उसी को प्रमुख रूप से ग्रहण किया गया है। इन ऋतुओं में पावस और वसंत की प्रमुखता है। सूर तथा अन्य कवियों ने इन्हीं का वर्णन किया है। इस काल में ऋतु-वर्णन की

---

३१ गीता०; तुलसी : ग्रंथा०, पद ; इसमें भाव को दूसरे प्रकार से व्यक्त किया गया है।

परम्परा मिलती है, नन्ददास में 'विरह-मंजरी' में बारह मासों का वर्णन किया है। परन्तु यह साहित्यिक परम्परा पद-गीतियों की उन्मुक्त भावना के आधार पर नहीं चली है।

क—इन दोनों से सम्बन्धित भक्ति पद साहित्य में अन्य काव्य-रूप भी विकसित हुए हैं। इनमें सावन से संबन्धित झूला या हिंडोला; और वसंत से संबन्धित वसंत, फाग तथा होली के

अन्य रूप

काव्य-रूप हैं। इनका प्रकृति से अधिक सम्बन्ध नहीं है; इनमें जन भावना का उल्लसित रूप सन्निहित है जो प्रकृति के उद्दीपन विभाव में मानवीय भावना से अधिक सम्पर्क रखता है। इन वर्णनों में प्रकृति का रूप उद्दीपन की प्रेरणा के अर्थ में या उल्लेखों में आया है या परोक्ष में ही रहता है। साहित्यिक परम्परा के ऋतु-वर्णनों में भी केवल मानवीय क्रिया कलाप, हास उल्लास, व्यथा-विलाप सामने आता है। परन्तु पावस से संबन्धित हिंडोला तथा झूला में वातावरण कुछ अधिक स्वतंत्र है। इनमें उल्लास की भावना जन जीवन की उल्लास भावना से अधिक संबन्धित है। इनके द्वारा प्रस्तुत आ यात्मिक वातावरण की ओर संकेत किया गया है। आगे चल कर मुक्तकों की रीति-परम्परा में इन रूपों का विकास नहीं हुआ है। इसका कारण है। ऋतु-वर्णन और बारहमासा के काव्य-रूपों में इनको मिला लिया गया है; और उल्लास के स्थान पर क्रिया कलापों की योजना अधिक होती गई है। इस सीमा पर भक्त कवियों और रीति कवियों में अन्तर है। इन ऋतु संबन्धी उत्सवों में भक्त कवियों ने मानवीय भावों को प्रकृति में प्रतिघटित किया है। प्रकृति पर मानवीय उल्लास प्रतिबिंबित है। इसके विपरीत रीति-काव्यों में प्रकृति के संकेतों के आधार पर मानवीय उद्दीप्त भावास्थिति के अनुभावों को प्रमुखता दी गई है। कभी-कभी भक्त कवि प्रकृति का रूप उपस्थित कर के उल्लासमयी भावना का संकेत अप्रत्यक्ष रूप से ही देता है—

'व्रज पर श्याम घटा जुर आई।
लीये दामिनि श्रुंग दिसि धावत सेना तुरंग सुहाई।
सघन छाय कोकिला कूजत चलत पवन सुखदाई।
गुंजत अलिगण उपवन कुंज में सौरभ की अधिकाई।
विकसत ह्वैत पाँत बगलन की जलधर शीतलताई।
नव नागर गिरिधरन छबीलौ कृष्णदास बलि जाई॥'[३३]
कृष्णदास ने इसमें सश्लिष्टता के आधार पर ही भाव व्यंजना की है; यहाँ प्रकृति और मानवीय भावों में प्रत्यक्ष समानान्तरता नहीं प्रस्तुत की गई है। परन्तु इन भक्त कवियों की प्रमुख प्रवृत्ति प्रकृति की उल्लसित क्रीड़ाशीलता के समक्ष मानवीय भावना के उल्लास का रखने की चेष्टा की है। परमानंद दास कहते हैं—'बादल पानी भरने को चले हैं चारों ओर से घिरती श्याम घटा को देख कर सभी को उल्लास हुआ। दादुर, मोर और कोकिला कोलाहल करते हैं। बादलों की श्याम छवि में इन्द्र-धनुष और बकों की पंक्ति की शोभा अधिक सुन्दर है। घनश्याम अपनी मंडली के साथ कदंब वृक्ष के नीचे हैं। वेणु बजती है और अमृत तुल्य स्वर में मृदंग तथा आकाश के बादल साथ गरजते हैं। मन भाई ऋतु आई और सभी जीव क्रीड़ा मग्न हैं।'[३४] इस चित्रण में वर्षा का दृश्य स्वाभाविक है और मानवीय उल्लास के सम पर उपस्थित हुआ है। भक्त कवियों ने साहित्यिक परम्परा का पालन किया है, पर उनके सामने दृश्यों की स्वाभाविक रूपों की कल्पना भी रही है। सूर इन्द्र-कोप के प्रसंग में मेघों का वर्णन सहज ढङ्ग पर करते हैं—

"गरज गरज घन घेरत आवैं, तरज [illegible] आवैं।
नर नारी सब देखत ठाढ़े, [illegible] काढ़े।

३३ कीर्तनसंग्रह; कृष्ण[illegible]
३४ वही।

विशेषता है। इस प्रसंग में ग्वाल जीवन का सहज चित्र है—

"चरावत बृन्दावन हरि गाइँ।
क्रीड़ा करत जहाँ तहाँ सब मिलि आनंद बढ़त बड़ाइ॥
चारि गईं गैयाँ बनवीथिनि देखी अति चहुँघाइ।
कोउ गए ग्वाल गाइ बन घेरन काउ गए बछरू जिवाइ॥
बंशीवट शीतल यमुनातट अतिहि परम सुखदाइ।
सूरश्याम तब बैठि विचारत सखा कहाँ बिरमाइ॥"[३७]

चरा कर लौटते समय ग्वालों का तथा गायों का उल्लास तथा व्यग्रता भी कुछ स्थलों पर व्यक्त हुई है। परन्तु लीला की भावना के कारण इस परम्परा का रूप शुद्ध चारण काव्य के उन्मुक्त वातावरण में विकसित नहीं हो सका।

मुक्तक काव्य परम्परा

मुक्तकों की शैली

§८—गीतियों की पद शैली और मुक्तकों की कवित्त सवैया शैली में समानता है और भेद भी है। दोनों में एक ही प्रसंग, एक ही स्थिति और एक भाव-स्थिति पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। एक पद में जिस प्रकार भावों की एक स्थिति अथवा चित्र के एक रूप आधार को प्रमुखता दी जाती है उसी प्रकार मुक्तक छन्द में एक बात को लेकर ही भाव या स्थिति को प्रस्तुत किया गया है। परन्तु पद में व्यंजना भावों का आधार अधिक ग्रहण करती है, उसमें चित्र भावों की तूलिका से अलंकृत किए गए हैं। इसमें अलंकार प्रयोग किया गया है परन्तु भाव को अधिक व्यक्त करने के लिए। [illegible] छन्द में चमत्कार प्रमुख हो जाता, उक्ति ही उसका उद्देश्य हो जाता, वह व्यक्ति की भावना से हट जाता। पर गीति का दीप्त रागात्मक होता है, उसमें रूप का आधार भाव का आलंबन

---

३७ सूरसा० : दश० पद ५२२

है। परन्तु मुक्तक छंद अपने प्रवाह में कलात्मक होता है, वह कुछ रुक-रुक ठहरकर चलता है। ऐसी स्थिति में उसमें भावों को चित्रमय, कलामय करने की अधिक प्रवृत्ति होती है। हिन्दी मध्ययुग के मुक्तक काव्य में यह प्रवृत्ति बढ़कर ऊहात्मक कथन की सीमा तक पहुँच गई है। फिर पद में भावों के केन्द्र बिन्दु से आरम्भ करके समस्त भाव-धारा को उसीके चारों ओर प्रगुम्फित कर देते हैं जबकि मुक्तक छंद में किसी प्रसंग, किसी घटना या भाव स्थिति को ही कलात्मक ढंग से प्रारम्भ करके, अन्त में उसीके चरम क्षण में छोड़ देते हैं। मुक्तक छंदों की इस गठन में उसके अलङ्कृत और चमत्कृत प्रयोग का इतिहास छिपा है। मुक्तक छंदों में कवित्त और सवैया के साथ बरवै तथा दोहा भी स्वीकृत रहे हैं, वरन् इनका प्रयोग पूर्व का है। इन दोनों छंदों का प्रयोग काव्य शास्त्र के ग्रंथों में हुआ है या उपदेश आदि के लिए। कवित्त और सवैया का प्रयोग मुक्तकों के रूप में भक्ति काल के तथा रीति-काल के स्वतंत्र कवियों के द्वारा किया गया है। ये कवि एक ओर भक्ति-काव्य के प्रभाव में हैं और उसकी परम्परा से प्रेरणा ग्रहण करते हैं; दूसरी ओर रीति कालीन साहित्यिक रूढ़ियों से भी प्रभावित हैं। दूसरी परम्परा के अनुसरण से इनमें चमत्कार की आलंकारिक भावना अधिक होती गई है।

वातावरण और संवेदना

§ ९—जिन कवियों ने भक्ति-भावना को मुक्तकों में व्यक्त की है उनमें भी प्रकृति का उद्दीपन-रूप अधिक है। परन्तु इनमें कुछ चित्र ऐसे अवश्य हैं जिनमें प्रकृति के रूप की प्रमुखता है। इन रूपों में वियोग आदि की भाव स्थिति अन्तर्निहित रहती है। ठाकुर कवि पावस की उमड़ती घटाओं के साथ वेदना को भी व्यक्त कर देते हैं—

झननात भँवारी छुटा झननात घटा कारी भरी धेरी सी।
अलसात लिलैं सुकुमार महा, पाती लिये पेयन दोनों सी।

कवि ठाकुर वे पिय दूर बसैं तन मैन मरोर मरोरती सी।
यह पी न पावति आवति है फिर पापिनी पावस फेरती सी।"[38]
इस वर्णन में पावस की उमड़ती घटा के रूप पर व्यथा की व्यंजना की गई है। ठाकुर के दूसरे प्रकृति वर्णन में भावात्मक व्यंजना को अनुभावों के रूप में दृश्य के समक्ष रखने की आवश्यकता भी नहीं पड़ती। बादल की उमड़न तथा दामिनि के चमक के साथ पिकी की पुकार और रिमझिम वर्षा स्वतः ही—'रटैं प्यासी परदेश पापी प्रान तरसतु हैं' के द्वारा समस्त भाव व्यंजना को प्रस्तुत कर देती है।[39] चित्रण शैली की दृष्टि से इन समस्त वर्णनों में उल्लेखात्मक तथा व्यापक संश्लिष्ट योजना मात्र है। इन कवियों की उन्मुक्त प्रेम-भावना में मानवीय सबन्ध ही प्रधान हैं, इसलिए प्रकृति को विशेष स्थान नहीं मिल सका है। कहीं किसी स्थल पर ही सहानुभूति पूर्ण संबन्ध में प्रकृति आ सकी है। रीति परम्परा के प्रभाव के कारण भी यह रूप अधिक नहीं आ सका है। एक दो स्थलों पर रसखान और घनानन्द की प्रेम भावना के प्रेम प्रसार में गोकुल तथा वहाँ की प्रकृति के प्रति आत्मीयता की भावना व्यक्त हुई है। रसखान ब्रज भूमि के प्रति अत्यधिक आत्मीयता प्रकट करते हैं—

"मानस हौं तो वही रसखानि बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पशु हौं तो कहा बस मेरा चरौं नित नन्द की धेनु मँझारन।

---

३८ शतक; ठाकुर : छं० ५०

३९ वही; वही : छं० ५२—

"दौरि दौरि दमकि दमकि दुर दामिनि यौं दुन्द देत दरहूँ दिसान दरसतु है।
घूमि घूमि घहरि घहरि गन घहरात घेरि घेरि घेरि घोर घनो घोर सरसत है।
ठाकुर कहत पिक पीकि पीकि पीरौं रटैं प्यासी परदेश पापी प्रान तरसतु है।
झूमि झूमि झुकि झुकि झमकि झमकि झरी रिमझिमि अमन्द बरसतु है।"

पाहन हौं तो वही गिरि को जो धर्यो कर छत्र पुरन्दर धारन।
जो खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन।"[४०]
अपने प्रिय को लेकर रसखान की यह आकांक्षा ब्रज के 'गिरि, धेनु, *खग और कदम्ब' से निकट संबन्ध स्थापित करने के लिए आकुल है।* प्रकृति के प्रति सहानुभूति तथा उसके सहचरण की आत्मीयता को लेकर बोधा की विरहिणी आत्मा कोकिल को उपालम्भ देती है—'रसालों के वन में बैठी हुई री कोयल, तू आधीरात में अज्ञात *स्थान से रण के समान प्रचारती है। तू नाहक ही विरहिणी नारियों* के पीछे पड़ी है और उन्हें लूकों से जलाती है।' इस उक्ति पर रीति-कालीन प्रभाव प्रत्यक्ष है। यह उपालभ अधिक सहज हो जाता है, जब बोधा की विरहिणी कोकिल से कहती है—

"कूक न मारु कोइलिया करि करि तेह।
लागि जात बिरहिन के दूबरि देह॥"

पर इसमें उक्ति का वैचित्र्य न हो, ऐसा नहीं है। साथ ही कवि प्रकृति से भाव-साम्य स्थापित करके उसके माध्यम से वियोग लक्षित करता है—

"लीने संग भ्रमरिऐ भइस वियोग।
रोवत फिरत भँवरवा करिके सोग॥"[४१]

व्याजोक्ति के माध्यम से यह व्यंजना सुन्दर है, पर *ऐसे स्थल इन* कवियों में कम हैं।

§ १०—मुक्तक परम्परा के कवियों ने कृष्ण-लीला अथवा नायक-नायिका के प्रसंग को लेकर अनेक छन्द लिखे हैं। इनमें हास-विलास, *वियोग-व्यथा आदि का रूप उपस्थित हुआ है।*

पृष्ठ-भूमि

इन स्थलों पर प्रकृति केवल उद्दीपन रूप में आ

---

४० सुजान-रसखान; छं० १

४१ इश्क-चमन; बोधा; दि० ८, ९, १०

प्रसार है। आगे चलकर इस परम्परा में प्रकृति की समस्त भावना रूढ़िवादी उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत जड़ बनती गई। हम देख चुके हैं कि बारहमासों को विद्यापति, सूफ़ी कवियों तथा अन्य प्रेमी कवियों ने भी अपनाया है। भक्त कवियों ने परम्परा रूप से इसको नहीं अपनाया है। लेकिन नन्ददास के बारहमास से प्रकट होता है कि यह परिपाटी बराबर चलती रही है।[४५]

मुक्तकों में इसका रूप

क—मुक्तक काव्यों में बारहमासों के अन्तर्गत, जैसा कहा गया है प्रकृति का रूढ़िवादी रूप अधिक है, पर कुछ स्थल ऐसे अवश्य हैं जिनमें भावों के सम पर उसे उपस्थित किया गया है। कवि राधा और कृष्ण के माध्यम से नायक-नायिक प्रसंग में चैत मास से वर्णन आरम्भ करता है—'चारों ओर वृक्षों पर लताएँ सुशोभित हैं; पुष्प सुगन्धित हैं, पवन अतिशय मंद-गति से प्रवाहित है। मधुर मत्त मकरंद पीता है और कुंजों में गुंजार करता है। तोता मैना मधुर स्वर करते हैं; कोकिला कोलाहल करती है, वनों में मोर नाचते हैं। प्रिय, ऐसे समय विदेश की चरचा सपने में भी भूलकर नहीं करनी चाहिए।'[४६] इस वर्णन के अन्तिम उल्लेख से समस्त वातावरण भावात्मक हो गया है। अन्यत्र जन-गीतियों की भाँति काल से संबन्धित प्रमुख रूप या विशेषता का उल्लेख करके प्रकृति के सामने विरह-व्यथा आदि को प्रस्तुत किया गया है—

"लगत असाढ़ गाढ़ दुदि परी, विरह अगिन अंबर पर जरी।
ज्यों ज्यों पवनु चलतु चहु ओरनि, त्यों त्यों जरी जाति झकझोरनि।"

फिर

"जेठ लागी उठे हू तें अंबर उमड़े घरी,
घरी भरि प्यारी कल क्यू हू न परत है।

---

४५ यह शैली में बारहमासा; पंचम कुँवरि का कहलिया है।

४६ ब.एस.सी; नन्ददासदि :

आमुख में संकेत किया गया है. इस युग को समझने के लिए भारतीय आदर्श-भावना के साथ उसकी रूपात्मक रूढ़ि (Formalism) का समझना आवश्यक है। यही कारण है कि इन बारहमासों की उन्मुक्त भावना के साथ भी प्रकृति को निश्चित रूप में ही ग्रहण किया गया है। वस्तुत. यह अन्य रूपों के विषय में भी सत्य है।

इन बारहमासों में मासों को प्रस्तुत करने की प्रमुखतः तीन रीतियाँ हैं। एक में वर्णन चैत से आरम्भ होता है, दूसरी में असाढ़ से और तीसरी में अवसर के अनुसार। भारत में दो ऋतुएँ प्रमुख हैं जिनमें नवचेतना का प्रवाह मनुष्य में होता है वर्षा तथा वसंत दोनों का आगमन मार्मिक है। इस कारण दो प्रकार से वर्णन आरम्भ होते हैं। कथा के अनुसार चलनेवाले बारहमासों और ऋतु वर्णनों का आरम्भ उसी के अनुसार होता है।[४९] संतों ने भी बारहमासों का प्रयोग अपनी प्रेम व्यंजना तथा उपदेश पद्धति के लिए किया है।

ऋतु-वर्णन काव्य

ख—इसके अतिरिक्त काल परिवर्तन से सम्बन्धित दूसरा रूप ऋतु-वर्णनों का है। अन्य काव्य रूपों में ऋतु वर्णनों का उल्लेख किया गया है। परन्तु मुक्तक काव्यों में स्वतंत्र ऋतु वर्णन की एक परम्परा है। इसको संस्कृत के ऋतु काव्यों के समान मान सकते हैं। बारहमासों से भी अधिक इनकी प्रवृत्ति मानवीय क्रिया विलासों को अपनाने की है और इनमें वैचित्र्य का रूप भी अधिक है। इसके अन्तर्गत आए हुए प्रकृति-रूपों का उल्लेख अगले प्रकरण में किया गया है। वर्णना शैली की दृष्टि से इनमें भी चमत्कार रूपों को अपनाया गया है जिसका कारण इसी

---

४९ चैत से, बारह०; सम० : बरा; पद० (पदों में)। असाढ़ से, बारा०; देवी०; बारह०; सुन्दर (ग्वालियर) ; बारह०; रघु० : श्री राधाकृष्ण की बारहमासियाँ; बारहर। प्रसंग के अनुसार, पद्मावत में नागमती का बारहमासा; बारहमासो : रामचन्द्र की बारहमासी; छेदलाल (कवित्त)

बताया जा चुका है।[५०]

§ १२—मुक्तकों से संबन्धित रूपों की विवेचना समाप्त करने के पूर्व दो काव्य-रूपों का संक्षेप में उल्लेख करना आवश्यक है। पहला नदियों की वन्दना सम्बन्धी रूप परम्परा है जिसमें अधिकतर गंगा तथा यमुना का माहात्म्य कथन है।

कुछ अन्य रूप

इनके बीचबीच में उल्लेख आ गए हैं। इनमें भी यमुना का महत्त्व अधिक है जिसका कारण प्रत्यक्ष है।[५१] इसके अतिरिक्त पक्षियों को लेकर काव्य लिखने की परम्परा रही है। तुलसी की दोहावली के अन्तर्गत चातक का प्रसंग है जिसमें कवि ने उसके प्रेम और नियम की सराहना की है और समासोक्ति से प्रेम की व्यंजना भी की है। दीनदयाल गिरि ने अपनी 'अन्योक्तिमाला' तथा कुंडलियों में विभिन्न प्रकृति-रूपों में अनेक व्यंजक उक्तियाँ कही हैं। यह प्रसंग अपने आप में मौलिक है, इसमें कवि की प्रकृति संबन्धी अन्तर्दृष्टि का पता चलता है। इन्हीं के समान अमेठी के गुरुदत्त ने दो प्रकार के 'पक्षी विलास' लिखे हैं और इस विषय में इनका कार्य्य अकेला तथा सराहनीय है। एक पक्षी विलास में कवि ने परम्परा प्रचलित पक्षियों के स्वभाव का वर्णन किया है और उन्हीं से तथ्यों तथा भावों की व्यंजना किया है। पपीहा का वर्णन कवि इस प्रकार करता है—

'पीव कहाँ कहि देत तो सारस पारस में रस पीत कहा है।
जीवन नाथ के साथ बिना गुरुदत्त कहै जग जीव कहा है।
पानी सुनी जब तें तब तें यह आनन आन गरीब कहा है।
पीव कहाँ कहि दै पपिहा केहि सों तुम पूछत पीव कहा है।'[५२]

[५०] प्रस्तुत ऋतु-वर्णन, षट्-ऋतु-वर्णन; [illegible]; [illegible]; [illegible] : [illegible]; [illegible]; [illegible]; [illegible] : [illegible] [illegible] : दीनदयाल गिरि : षट्-ऋतु-वर्णन; [illegible]

[५१] यमुना-लहरी; [illegible]

[५२] पक्षी-विलास; गुरुदत्त (अमेठी)

स्थान पर रूपात्मक रूढ़िवाद ही अधिक है। इस परम्परा में दो प्रकार के काव्य मिलते हैं। एक प्रकार के काव्यों में शास्त्रीय उल्लेखों के साथ उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। इनमें विवेचना का रूप स्पष्ट तथा विकसित नहीं है, केवल उदाहरण के भाग पर कवि अपना ध्यान केन्द्रित रखता है। दूसरे काव्यों में विवेचना का रूप नहीं है, इनमें रस और अलंकार को लेकर स्वतंत्र प्रयोग किया गया है। मुक्तक काव्यों से इनका भेद यही है कि इनमें काव्य शास्त्र के आदर्श तथा उसकी रूढ़ियों का पालन अधिक है। वस्तुतः इन दोनों रूपों में काव्य प्रवृत्तियों को लेकर भेद नहीं है। शास्त्रीय काव्यों में कुछ रस पर लिखे गए हैं, जिनमें प्रकृति का उल्लेख उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत किया गया है। रस निरूपण प्रसंग में शृंगार के उद्दीपन-विभाव में वन, उपवन तथा ऋतुओं का उल्लेख हुआ है।[५४] इन वर्णनों में कहीं कहीं चित्रण में आरोपात्मक क्रियाशीलता से भाव-व्यञ्जना की गई है जो भावों की प्रकृतिगत छाया के रूप में स्वीकार की जा सकती है। सैय्यद गुलामनवी वसंत का उल्लेख करते हैं—

"कहँ लावन्न विगसन कुसुम, कहुँ डालन हैं चाइ।
कहुँ विछावनि चाँदनी, मधुरितु दासी आइ॥
सरवर माहिं अन्हाइ अरु, बाग बाग बिरमाइ।
मंद मंद आवत पवन; राजहंस के भाइ॥"[५५]

इसमें प्रकृति की क्रियाशीलता में मानवीय आरोपों से उद्दीपन का वातावरण प्रस्तुत किया गया है· परन्तु इसमें प्राचीन कवियों से ग्रहीत सरल चित्र हैं। देव की प्रतिभा अधिकतर मानवीय भावों और

---

५४ रसिक-प्रिया; केशवदास : रसराज; मतिराम : भाव-विलास; देव; काव्यनिर्णय; भिखारीदास : रस-प्रबोध; सैय्यद गुलाम नबी : हिततरंगिनी; कृपाराम : जगद्विनोद; पद्माकर

५५ रस-प्रबोध; गुला० : पृ० ८१, दो० ९४६, ९५०

चारियों की योजना में प्रकट होती है, परन्तु प्रकृति के परम्परा प्राप्त रूप में भी इन्होंने कुछ स्थलों पर भाव-व्यञ्जना सन्निहित की है। इस सीमा पर उसमें उद्दीपन का रूप प्रत्यक्ष नहीं है—

"सुनि के धुनि चातक मोरनि की चहुँ ओरनि कोकिल कूकनि सों।
अनुराग भरे हरि बागन में सखि रागत राग अचूकनि सों॥
कवि देव घटा उनई जु नई बन भूमि भई दल दूकनि सों।
रंगराति हरी हहरानी लता झुकि जाती समीर के झूकन सों॥"[५६]

इस वर्षा के वर्णन में यथार्थ की चित्रमयता है; साथ ही प्रकृति में जो क्रिया और गति द्वारा भावोल्लास व्यक्त किया गया है वह अनुराग भरी वेलु' के साथ मानवीय भावों का आरोप में व्याप्त है। परन्तु इन कवियों के अधिकांश चित्रण उद्दीपन के अन्तर्गत ही आते हैं। नायिका के वर्णनों में प्रोषितपतिका, उत्कंठिता तथा अभिसारिका नायिकाओं के प्रसंग में प्रकृति के उद्दीपन-रूप को अधिक अवसर मिला है। इन रूपों की विवेचना अगले प्रकरण विभाजन के साथ की जायगी। इनमें प्रकृति का चित्रण अधिक उल्लेखनीय हुआ है। मतिराम की नायिका को अपने प्रिय के वियोग में प्रकृति केवल उद्दीपन का कारण है—

"चंद के उदोत होत नैन-कंज तपे कंत,
छायो परदेस देव दाहनि दगत है।
कहा करौं ? मेरी बीर ! उठा है अधिक पीर;
सुरभि समीर सीरा तीर सौ लगत है॥"[५७]

इसमें प्रकृति का उल्लेख केवल नाम मात्र को कर दिया गया है। अभिसारिकाओं के प्रसंग में उक्ति के लिए कवियों ने प्रकृति और नायिकाओं के सम-रूप दिखाने का प्रयास किया है। परन्तु इसमें

५६ भव-विलास; देव : म०
५७ रसराज; मतिराम : छं० ११४

उद्दात्मक वैचित्र्य से अधिक कुछ नहीं है। मतिराम कृष्णाभिसारिका का अँधेरी रात के साथ वर्णन करते हैं—

"उमड़ि-घुमड़ि दिग मंडल-मड़ि रहे,
झूमि झूमि बादर कुहू की निशिकारी में।
अंगनि में कीनो मृगमद अंगराग तैसो,
आनन अ'दाप सौना स्याम रंग सारी में ॥"[५८]

प्रकृति को यहाँ पृष्ठभूमि के रूप में माना जा सकता, परन्तु न तो इसमें किसी स्थिति का रूप प्रत्यक्ष है और न किसी भाव की व्यञ्जना ही निहित है। इन वर्णनों से इन कवियों ने परम्परा के साथ चमत्कार मात्र उत्पन्न किया है।

बिहारी के संश्लिष्ट चित्र

§१४—रीति परम्परा के स्वतंत्र कवियों में से बिहारी तथा सेनापति ही प्रमुख हैं जिनके काव्य में प्रकृति का उल्लेखनीय प्रयोग हुआ। अन्य कवियों में किसी ने प्रकृति का किसी भी सीमा तक स्वतंत्र रूप नहीं दिया है। इनके रूढ़िगत उद्दीपन रूपों का उल्लेख प्रसंग के अन्तर्गत आवश्यकता के अनुसार किया जायगा। इन दोनों कवियों के ग्रंथ लक्षण-ग्रंथ नहीं है, फिर भी अपनी प्रवृत्ति में ये कवि रीति परम्परा में आते हैं। उद्दीपन विभाव में आने वाले प्रकृति के विभिन्न रूपों के अतिरिक्त इन कवियों में कुछ स्वाभाविक चित्र हैं। इस दृष्टि से इस परम्परा में इनका महत्त्व अधिक है। बिहारी ने उक्ति-वैचित्र्य के निर्वाह के साथ ग्रीष्म का स्वाभाविक चित्र उपस्थित किया है—

"कहलाने एकत बसत, अहि मयूर मृग बाघ।
जगत तपोवन सो कियो, दीरघ दाघ निदाघ ॥"

अगला पावस का वर्णन भी अपनी अत्युक्ति में अंधकार के साथ घनी घटाओं का संकेत देता है, यद्यपि इसमें कवि का ध्यान अपनी उक्ति

---

५८ वही; वही : छं० १९७

दि की ओर है—

"पावस निसि अँधियार में, रह्यो भेद नहिं आन।
राति द्यौस जान्यो परत, लखि चकई चकवान॥"

तः इन कवियों का आदर्श तो अलंकार का निर्वाह है अथवा रस ग्रंगों की योजना है। इस कारण इनसे प्रकृति के नितान्त यथार्थ स्वाभाविक चित्र की आशा नहीं की जा सकती। कुछ दोहों में ति पर मानवीय क्रीड़ाओं के आरोप में भाव व्यंजना की गई है। चित्र में इसी प्रकार चैत मास का वातावरण उपस्थित हुआ है—

"छकि रसाल सौरभ सने, मधुर माधवी गंध।
ठौर ठौर झूमत झपत, भौंर भौंर मधुगंध॥"

चित्र में उपवन, लताकुंज तथा भ्रमर-गुञ्जार की संक्षिप्त योजना में एक रूप है और साथ ही भाव व्यंजना भी है। दक्षिण पवन का त्र बड़ी सजीव कल्पना में बिहारी ने उपस्थित किया है। पवन का ाह मानवीय भावों के आरोप के साथ व्यंजक हो गया है—

"चुवत सेद मकरंद कन तरु तरु तर बिरमाय।
आवत दच्छिन देस तें, थक्यो बटोही बाय॥"

। थके बटोही के रूपक से पवन का चित्र मार्मिक हो उठा । नायक रूप में पवन की कल्पना अनेक संस्कृत तथा हिन्दी वियों ने की है, परन्तु श्रांत पथिक का यह चित्र अधिक स्वाभाविक र सुन्दर है। एक स्थल पर बिहारी ने प्रकृति के प्रति मानवीय हानुभूति को व्यक्त किया है। स्मृति का आधार पर प्रकृति के पूर्व लद सहचरण की भावना इस दोहे में व्यक्त होती है—

"सघन कुंज छाया सुखद, सीतल मंद समीर।
मन ह्वै जात अजौं वहै, वा जमुना के तीर॥"[५१]

---

५१ सतसई; बिहारी : दो० ५६८, ५६०, ५६५, ११, ५९२। इसी कार पवन का हाथी के रूप में वर्णन भी विस्मृत है—

§ १५—प्रकृति वर्णन की दृष्टि से रीति परम्परा में सेनापति का विशेष स्थान है। हम देख चुके हैं कि मध्ययुग में प्रकृति चित्रण को स्वतन्त्र स्थान नहीं मिला है। सेनापति का प्रकृति वर्णन ऋतु-वर्णन परम्परा के अन्तर्गत ही है, परन्तु इन्होंने कुछ स्थलों पर प्रकृति का स्वतंत्र रूप उपस्थित किया है। लेकिन ये वर्णन नितान्त स्वतन्त्र नहीं हैं, इनके अन्दर भी उद्दीपन के संकेत छिपे हुए हैं। वस्तुतः ऋतु संबन्धी वर्णनों की सीमा विस्तृत है। इसके अन्तर्गत स्वतंत्र काल परिवर्तन के रूपों से लेकर ऋतु संबन्धी सामग्री आयोजनों तक का वर्णन रहता है। परन्तु इनकी समस्त भाव धारा में शृंगार की भावना का आधार रहता है, उसके आलंबन और आश्रय कभी प्रत्यक्ष रहते हैं और कभी अप्रत्यक्ष। सेनापति इस सीमा में ही रहे हैं। इनके वर्णनों में जो स्वतंत्र चित्र लगते हैं, उनमें शृंगार की भावना का आधार बहुत हलका है और कुछ में आलंबन तथा आश्रय अपरोक्ष में हैं। सेनापति में कवित्व प्रतिभा के साथ प्रकृति का निरीक्षण भी है। इन्होंने प्रकृति के रूपों को यथार्थ रंग रूपों में उपस्थित किया है। फिर भी सेनापति चमत्कारवादी कवि हैं, कविता का चरम उत्कर्ष वैचित्र्य में मानते हैं। उनके कुछ चित्रों की रमणीयता का कारण यही है कि इन स्थलों पर दृष्टि से यथार्थ तथा कला का सामञ्जस्य हो गया है। इसी प्रवृत्ति के कारण सेनापति में प्रकृति के प्रति किसी प्रकार की सहानुभूति नहीं है। इनकी प्रकृति में भाव व्यंजना के स्थल भी बहुत कम हैं। इस क्षेत्र में अन्य रीति परम्परा के कवि इनसे आगे हैं। इन्होंने ऋतु वर्णन में देश का निर्वाह किया है और ऐश्वर्यशालियों के ऋतु संबन्धी सामग्री तथा आमोद प्रमोद का वर्णन किया है। यह सब इनकी प्रकृति वर्णन

सेनापति

[illegible]

[illegible]

है। फिर भी सेनापति ने प्रकृति को उसके यथार्थ रूप में देखा है और उसके कुछ कला पूर्ण चित्र उपस्थित किए हैं।

क—सेनापति ने यथार्थ चित्रों को दो प्रकार से उपस्थित किया है। एक प्रकार के चित्रों में प्रकृति संबन्धी रूप-रंगों का अधिक व्यक्त किया गया है और दूसरे में प्रकृति की प्रभावशीलता को अधिक भावगम्य बनाया गया है। शरद ऋतु का वर्णन कवि उसके दृश्यों की व्यापक संश्लिष्टता के आधार पर उपस्थित करता है—'पावस ऋतु के समाप्त होने पर जैसे अवकाश मिल गया; शशि की शोभा रमणीय हो गई है और ज्योत्सना का प्रकाश छा गया है; आकाश निर्मल है; कमल विकसित हो रहे हैं, काँस चारों ओर फूले हुए हैं; हंसों को मन भावनी प्रसन्नता है, पृथ्वी पर धूल का नाम नहीं है; हल्दी जैसे रंगवाले जड़हन धान शोभित हैं, हाथी मस्त हैं और खंजन का कष्ट दूर हो गया है। यह शरद ऋतु तो सभी को सुख देने आई है।'[६०] इस वर्णन में एक दृश्य नहीं है, केवल व्यापक योजना है, साथ ही 'को मिलावै हरि पास को' के द्वारा उद्दीपन की पृष्ठभूमि का संकेत भी है। वर्षा का प्रभाव भारतीय जीवन पर अधिक है। सेनापति इस ऋतु से, विशेष कर इसके अंधकार से, अधिक आकर्षित हैं। वर्षा में भारतीय आकाश में मेघों की निबिड़ सघनता और बिजली का चंचल प्रकाश ही अधिक प्रमुख है; कवि इन्हीं का चित्र उपस्थित करता है—

> "गगन-अँगन घनाघन तें सघन तम,
> सेनापति नैंक हू न नैंन मटकत हैं।
> दीप की दमक, जीगनीन की झमक भाँड़ि,
> चपला चमक और सौं न अटकत हैं।

---

६० कवित्त-रत्नाकर; सेनापति ३ तं० दर्श, छं० १९

ठहर कर धाम को व्यतीत कर रही है।[६३] सारा चित्र यथार्थ का रूप प्रभावात्मक ढंग से प्रस्तुत करता है, साथ ही कवि की कल्पना ने उसे और भी व्यंजक कर दिया है। यहाँ कवि की उक्ति सुन्दर कलात्मक रूप धारण करती है। इसी के साथ कवि ग्रीष्म का व्यापक वर्णन भी करता है—

"सेनापति ऊँचे दिनकर के चलति लुएँ,
नद नदी कुवाँ कोपि डारत सुखाइ कै।
चलत पवन मुरझात उपवन वन,
लाग्यो है तपन डारयौ भूतलौ तचाइ कै।
भीषन तपत रितु ग्रीषम सकुचि तातें,
सीरक छिपी है तहखानन में जाइ कै।
मानो सीतकाल सीत लता के जमाइबे कों,
राखे हैं बिरंचि बीच धरा में धराइ कै॥"[६४]

इसमें उल्लेखा के आधार पर ऋतु का रूप ग्रहण कराया गया है, साथ ही इसकी उत्प्रेक्षा में उक्ति ही अधिक है पहले जैसा सौन्दर्य कम है।

ख—सेनापति ने कुछ वर्णना में अधिक कलात्मक शैली अपनाई है। ऊपर के चित्रों का उत्प्रेक्षाओं द्वारा व्यंजक बनाया गया है, परन्तु अगले चित्रों में रूप का अधिक चित्रात्मक करने के लिए अलंकारों का आश्रय ग्रहण किया गया है।

कलात्मक चित्र

सेनापति शरद कालीन आकाश और उसमें दौड़ते हुए बादलों का वर्णन इसी प्रकार करते हैं—'आकाश मंडल में श्वेत मेघों के खंड फैले हुए हैं मानो स्फटिक पर्वत की शृंखलाएँ फैली हों। वे आकाश में उमड़ घुमड़ कर चारों ओर तेज धारों से पृथ्वी को छिड़क

---

६३ वही; वही : वही, छं० ११
६४ वही; वही : वही, छं० १२

देते हैं।' और उन बादलों की उमड़न घुमड़न के विषय
शब्द-चित्र ही प्रस्तुत करता है—

"पूरब कौं भाजन है, रजन से राजत हैं,
गग गग गाजत गगन घन क्वांर के।"[६५]

वर्षा का वर्णन भी कवि इसी शैली में करता है—'सावन के
उमड़ आए हैं, वे जल से आपूरित चारों दिशाओं में घुमड़ने
उनकी सरस लगने वाली शोभा किसी प्रकार भी वर्णन नहीं
लगता है काजल के पहाड़ ही ढो कर लाए गए हैं।
घनाच्छादित हो रहा है और सघन अंधकार छाया हुआ
दिखाई ही नहीं पड़ता है, मानों खा गया है। भगवान् जो
सोते रहते हैं, वह जान पड़ता है निशा के भ्रम से ही।'[६६] इस
में उत्प्रेक्षाओं से चित्र को अधिक प्रत्यक्ष किया गया है।

ग—सेनापति की अलंकार संबन्धी प्रवृत्ति ऋतु-वर्णनों
प्रत्यक्ष हुई है। वैसे तो उनके सभी वर्णनों में उक्ति और
का योग है, लेकिन ऊपर के वर्णनों में ये
भाव के सहायक होकर चित्र को अधिक प्रत्य
व्यक्त करते हैं। परन्तु बहुत से वर्णनों में
श्लेष के द्वारा ऋतुओं का वर्णन किया है और उन वर्णनों में
चमत्कार है। इन वर्णनों में कवि ने यह स्वीकार भी किया है

आलंकारिक वैचित्र्य

"दारुन तरनि तरैं नदी सुख पावैं सब,
सीरी घनछाँह चाहिबोई चित धर्यो है।
देखौ चतुराई सेनापति कविताई की जु,
ग्रीषम विषम बरषा की सम कर्यो है।"[६७]

---

६५ वही; वही : वही, छं० १८
६६ वही; वही : वही, छं० २१
६७ वही; वही , वही, छं० ५१

कि अतिरिक्त अतिशयोक्ति और अत्युक्तियों का आश्रय भी लिया
ा है। एक स्थान पर जाड़े की रात्रि के छोटे होने के विषय में कवि
यना करता है—

"सीत तें सहस-कर सहस-चरन ह्वै कै,
ऐसे जानि भाजि तम आवत है घेरि कै।
जौ लौं कोक कोकी कौं मिलत तौ लौं होति राति,
कोक अधबीच ही तें आवत है फिरि कै।"[१८]

सेनापति की यह प्रमुख प्रवृत्ति है, ऐसा कहा जा चुका है।
घ—अपनी इसी भावना के कारण सेनापति प्रकृति से निकट का
ध नहीं उपस्थित कर सके। प्रकृति उनके लिए केवल वर्णन का

भावव्यंजना

विषय है या विशुद्ध उद्दीपन की प्रेरक है। ऐसे
स्थल भी कम हैं जहाँ कवि ने प्रकृति के माध्यम से
साम्य की व्यंजना की हो। एक स्थल पर प्रकृति के चित्र से
ये भावोल्लास का साम्य प्रस्तुत किया गया है—

"फूले हैं कुमुद फूली मालती सघन बन,
फूलि रहे तारे मानौं मोती अनगन हैं।
तिमिर हरन भयौ सेत है बरन सब
मानहु जगत छीर-सागर मगन है।"[१९]

त वे अन्त पर कवि ने कहा है 'सुहाति सुखी जीवन के गन हैं'।
स प्रकार इस वर्णन में प्रकृति की भावमग्नता मानवीय सुख
क हो उठी है। सेनापति ने अधिकतर सामन्ती तथा ऐश्वर्य-
तावरण ही प्रस्तुत किया है, इस कारण इनके काव्य में मानव
कृति दोनों ही के संबंध में उन्मुक्त वातावरण का निर्माण
सका है। साथ ही ऋतु-वर्णनों में आमोद प्रमोद का

वही; वही ' त० तरंग, छं० ५१
वही; वही ', वही, छं० ४०

ऐसी परिस्थिति में काव्य में प्रकृति-रूप मानवीय भावों की स्थायी स्थितियों के माध्यम से ग्रहण किया जा सकेगा। इस व्याख्या के अनुसार माना जा सकता है कि प्रकृति काव्य में उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत आती है, क्योंकि वह अपनी समस्त भावशीलता और प्रभावशीलता मानव से ग्रहण करती है। परन्तु इस प्रकार आलंबन भी उद्दीपन माना जा सकता है। कोई भी आलंबन आश्रय की स्थायी भाव-स्थिति पर हो तो क्रियाशील होता है। इस प्रकृति संबन्धी भ्रम का एक कारण है। यह कहा जा सकता है कि मानवीय भावस्थिति के *सामाजिक धरातल पर हम अपने ही संबन्धों में* देख और समझ पाते हैं। इस लिए इस सीमा पर मानवीय स्थायी भावों का आलंबन सामाजिक संबन्धों में माना जाता है। अद्‌भुत तथा भयानक रसों में प्रकृति को परम्परा ने भी आलबन माना है, क्योंकि इन रसों का संबन्ध सामाजिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं है। इसलिए यह स्थिति शृङ्गार तथा शांत रसों को लेकर है। प्रथम भाग में मनोभावों के विकास में प्रकृति तथा समाज का क्या योग रहा है इसपर विचार किया गया है। हम देख चुके हैं कि सौन्दर्यानुभूति जो काव्य का आधार है प्रकृति से संबन्धित है, यद्यपि उसमें अनेक सामाजिक भावस्थितियों का योग हो चुका है। इस प्रकार प्रकृति सौन्दर्य भाव का आलंबन है, परन्तु इस स्थिति में यह नहीं कहा जा सकता कि सम्पूर्ण *भाव-स्थिति प्रकृति को लेकर है। स्थायी भावों में अनेक विषमताएँ आ* चुकी हैं जिनको एक प्रकार से समझना सम्भव नहीं है। शृंगार रस में रति स्थायी भाव का आलंबन प्रत्यक्ष रूप से नायक-नायिका हो सकते हैं, पर इस भाव का रूप केवल मांसल शारीरिकता के आधार पर नहीं है, उसमें अनेक स्थितियों की स्वीकृति है। जिस प्रकार भाव-

"ललित लहर खग पुष्प पशु, सुरभि समीर समाज।
बरस केलि पंछी प्रगट, अटपट बरन्दु तील॥"

में प्रमुख रूप से आने के कारण किसी वस्तु या व्यक्ति को आलं-
स्वीकार किया जाता है, उसी प्रमुखता की दृष्टि से प्रकृति का आल-
स्वीकार किया जा सकता है। इसी विचार से प्रकृति को
र्य तथा धर्म के आलंबन-रूप में स्वीकार किया गया था।
क—हिन्दी साहित्य के मध्ययुग में प्रकृति के स्वतन्त्र आलंबन रूप
थान नहीं मिल सका। पिछले प्रकरणों में इस पर विचार
किया गया है। परन्तु यह भी देखा गया है कि
दन की सम प्रमुखता न मिलने पर भी प्रकृति मानवीय भावों से
थापित कर सकी है। वस्तुतः जब प्रकृति मानवीय भावों के समा-
भावात्मक व्यंजना अथवा सहचरण के आधार पर प्रस्तुत की
है, उस समय उसको विशुद्ध उद्दीपन के अन्तर्गत नहीं रखा जा
। वैसे प्रकृति को लेकर भाव प्रक्रिया का आधार मानव है।
न की स्थिति में, व्यक्ति अपनी मनः स्थिति का आरोप प्रकृति
के उसे इस रूप में स्वीकार करता है, जबकि उद्दीपन में आलंबन
रूप से दूसरा व्यक्ति रहता है। ऊपर की स्थिति मध्य में मानी
ती है। आश्रय का आलंबन परोक्ष में है और प्रकृति के माध्यम
व्यंजना की जाती है। इस सीमा पर भी प्रकृति पर आश्रय
ी स्थिति का आरोप होता है पर वह किसी अन्य आलंबन की
ा को लेकर। प्रकृति के प्रति साहचर्य की भावना भी मानवीय
का आरोप है, परन्तु उसमें सहानुभूति की निकटता के कारण
आश्रय से सीधे ही संबन्धित है। इसी कारण 'आध्यात्मिक
तथा 'विभिन्न काव्य-रूपों' की विवेचना के अन्तर्गत प्रकृति
यह आलंबन का आरोप, उसके माध्यम से भाव व्यंजना
के प्रति सहचरण की भावना को लिया गया है। प्रस्तुत
में विशुद्ध उद्दीपन की दृष्टि से प्रकृति पर विचार करना है। हम
हैं कि मध्ययुग के साहित्य में जन-गीतियों की स्वच्छंद प्रवृत्ति
मिल सका है और साहित्यिक परम्पराओं को भी अपनाया

गया है। संस्कृत साहित्य में उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत प्रकृति का रूप रूढ़िवादी हो चुका था। इस कारण मध्ययुग के काव्य की सभी *परम्पराओं में उद्दीपन की विभिन्न प्रवृत्तियाँ फैली हुई हैं।*

उद्दीपन की सीमा

§ २ —मध्ययुग के काव्य ने जन-जीवन से प्रेरणा ग्रहण की है और वह जन-भावना के अभिव्यक्त रूप लोक-गीतियों तथा कथाओं से प्रभावित भी हुआ है। लोक-जीवन से प्रकृति का रूप ऐसा हिला मिला रहता है कि वहाँ जीवन *और प्रकृति में विभाजन रेखा नहीं खींची जा सकती* है। जन-गायक अपने भावोच्छ्वासों को, अपने को, प्रमुख मानकर अभिव्यक्ति की भाषा में गाता है पर वह अपने वातावरण को, अपने चारों ओर फैली हुई प्रकृति को अलग नहीं कर पाता है। वह अपनी सामाजिक अनुभूतियों को अपने चारों ओर की वातावरण बनकर फैली हुई, *प्रकृति के साथ ही प्राप्त करता है। और जब वह उन्हें अभिव्यक्त* करता है, तब भी वह प्रकृति के रूप को अलग नहीं कर पाता। लोक गीतिकार अपनी दुःख सुखमयी भावनाओं से अलग प्रकृति को कोई रूप नहीं दे पाता और न अपनी भावनाओं को बिना प्रकृति का आश्रय लिए व्यक्त ही कर पाता है। इसी स्पष्ट विभाजक रेखा के *अभाव में इन गीतियों की भावधारा में प्रकृति का रूप मिलकर उद्दीप्त* करता जान पड़ता है। वस्तुतः चेतनशील प्रकृति की गति के साथ मानव अपनी भाव स्थिति में सम प्राप्त करता है और इस सीमा में प्रकृति शांत तथा सौन्दर्य भाव का आलंबन आरोप के माध्यम से *मानी गई है। यहाँ सम जब किसी निश्चित भाव-स्थिति से समता या* विरोध उपस्थित करता है, उस समय उसको प्रभावित करता है और प्रकृति की यह स्थिति उद्दीपन की सीमा है। प्रकृति के विभिन्न दृश्यों और उनकी परिवर्तित होती स्थितियों में जो संचलन तथा गति का भाव छिपा [illegible] रहता सम, विषम होकर भावों को उद्दीप्त करता है। यही कारण है कि [illegible] गीतियों में अधिकतर ऋतुओं के आधार पर भावाभिव्यक्ति हुई है।

क—इस सीमा पर प्रकृति तथा जीवन समान आधार पर अभिव्यक्त होते हैं। जीवन की भावात्मकता और प्रकृति पर उसी का प्रतिबिंबित अथवा प्रतिष्ठित रूप साथ-साथ उपस्थित होते हैं। इस सीमा पर मानवीय भावों और प्रकृति के जीवन से संबन्धित भावों में विरोध भी सम्भव है। जीवन की सुखमयी स्थिति में प्रकृति की कठोरता तथा उससे संबन्धित कष्टों की भावना से सुरक्षा का विचार उसे अधिक बढ़ाता है। इसी प्रकार प्रकृति में प्रकट होता हुआ उल्लास जीवन की वेदना को तीव्र ही करता है। परन्तु प्रकृति का उल्लास या अवसाद उसका अपना तो कुछ है नहीं। यदि मानव जीवन की भावमयता ही प्रकृति पर प्रसरित है, तो ऐसा क्यों होता है? लेकिन प्रथम भाग के द्वितीय प्रकरण में हम कह चुके हैं कि प्रकृति का भावों से युक्त करने वाला मन ही है। इस कारण यह विरोध प्रकृति और जीवन का न होकर जीवन की अपनी ही दो विभिन्न स्थितियों का है। एक वर्तमान स्थिति है जिसका अनुभव वह अपने चेतन मन से कर रहा है और दूसरी स्थिति पर्व-सुकाल से संबन्धित है जिसको उसका अवचेतन मन प्रकृति पर सुन्दर छा देता है। मन का यह विभाजन उद्दीपन के अगले रूप में अधिक प्रत्यक्ष होता है। इस स्थिति में प्रकृति और जीवन लगभग समान तल पर होते हैं। इन्हीं में किंचित भेद पड़ जाने से दो रूपों का विकास होता है।

जीवन और प्रकृति का सम-तल

(i) एक स्थिति में भाव आधार रूप में उपस्थित होता है। भाव की स्थिति संयोग वियोग की दुःख सुखमयी भावना होती है। और इसका आधार होता है संयोग, साम्य अथवा स्मृति का रूप। इन भावों की पृष्ठभूमि रूप में उपस्थित होने पर प्रकृति का रूप अनेक प्रकार से इन्हीं भावनाओं की व्यंजना करता हुआ उपस्थित होता है। प्रकृति का यह चित्र भावों के रंग से रंजित होता है। इस स्थिति में मानवीय भाव

भाव के आधार पर प्रकृति

की एक ही स्थिति रहती है, क्योंकि जीवन और प्रकृति में भावों का आधार समान है। जिस प्रकार अनेक व्यभिचारियों से तथा अनुभावों से स्थायी भावों की स्थिति व्यक्त होती है; उसी प्रकार उनके आधार पर प्रकृति की भावात्मकता व्यंजित होती है। प्रकृतिवादी की दृष्टि से इस प्रकृति रूप में कवि उसके समक्ष अपनी स्थिति को, अपने भावों को, उसी के माध्यम से समझता और व्यक्त करता है। इन क्षणों में वह अपने को विस्मृत कर देता है।

(२) इसी की दूसरी स्थिति में प्रकृति केवल आधार रूप से प्रस्तुत रहती है और प्रमुखतः भावों को अभिव्यक्त किया जाता है। प्रकृति के इन उल्लेखों में वर्तमान संयोग या वियोग की स्थिति के प्रति तीव्र व्यंजना छिपी रहती है और इसी के आधार पर भावों का अभिव्यक्तीकरण होता है। इस स्थिति के समान प्रकृतिवादी की वह दृष्टि है जिसमें कवि उस के समक्ष उससे प्रभाव ग्रहण करता हुआ भी अपनी भाव-स्थिति को अधिक सामने रखता है। और हम उद्दीपन रूप और आलम्बन-रूप में प्रकृति का यही भेद मान कर चले हैं। स्थिति समान है लेकिन एक में प्रकृति किसी प्रत्यक्ष (वह स्मृति में या परोक्ष में भी हो सकता है) आलम्बन के माध्यम को लेकर भाव-स्थिति से संबन्ध स्थापित करती है। जब कि दूसरी प्रकृतिवादी दृष्टि से प्रकृति ही प्रत्यक्ष आलंबन रहती है और उसपर आश्रय की भाव स्थिति का आरोप अदृश्य रूप से रहता है।

प्रकृति का आधार

ग—इस सीमा के आगे प्रकृति के उद्दीपन रूप में अन्य भेद भी किए जा सकते हैं। इन रूपों में प्रकृति और भावों का संबन्ध और भी दूर तथा अलग हो है। इस सीमा पर भी प्रकृति-रूप दो प्रकार से सामने आता है। इनमें से एक में प्रकृति की प्रधानता दी गई है और दूसरे में भावों की प्रमुखता है। वस्तुतः मध्ययुग में काव्य की

भावों का सम्बन्ध

प्रवृत्ति भावों को अनुभावों के माध्यम से व्यक्त करने की ओर अधिक होती गई है। ऐसा संस्कृत के महाकाव्यों में देखा जा सकता है बाद के काव्यों में अनुभावों को प्रमुखता दी गई है। जहाँ तक प्रकृति-वर्णनों के माध्यम से भाव व्यंजना का प्रश्न है, इस सीमा पर भावों की स्थिति, कभी कभी किसी विशेष आलंबन को न स्वीकार कर व्यापक लगती है। इस रूप में अपनी व्यापक सीमाओं में भाव को व्यक्त करती हुई भी प्रकृति प्रत्यक्ष तथा व्यक्त लगने लगती है। परन्तु इस रूप में भाव व्यंजना का रूप अनुभावों के माध्यम से व्यक्त किया जाता है, जबकि ऊपर के रूप में भावों की व्यंजना मात्र रहती थी। इसी रूप के दूसरे पक्ष में प्रकृति की हलकी उल्लेखात्मक पृष्ठ भूमि पर भावों को व्यक्त किया जाता है और इसमें भी अनुभावों का आश्रय ही अधिक लिया गया है। हम पहले ही कह चुके हैं कि प्रकृतिवादी आलंबन रूप प्रकृति का लेकर अपनी भाव-व्यंजना करता है; और इसको अनुभावों के माध्यम से भी उपस्थित कर सकते हैं। पर उस समय हम भाव या अनुभाव आश्रय की मनःस्थिति, से रूप पाकर व्यक्तिगत नहीं रह जाते, और इस सीमा पर प्रकृति अधिक प्रत्यक्ष रहती है। इसी भेद के कारण प्रकृतिवादी सीमा में भावों और अनुभावों को प्रधानता देकर उपस्थित होने वाले प्रकृति-चित्रों में प्रकृति ही प्रमुख लगती है, जबकि अन्य कवियों में भावों को पृष्ठ-भूमि में रख कर उपस्थित हुए प्रकृति चित्रों में भी मानवीय दृष्टि-बिन्दु सामने आ जाता है। इसका कारण यह भी है कि इन कवियों ने प्रकृति-रूपों के माध्यम से शृंगार की रति भावना की व्यंजना की है जो सामाजिकों का दृढ़मूल स्थायी-भाव है।

ग—अभी तक उद्दी [illegible] ों की बात कही गई है उनमें जीवन [illegible] ित होकर [illegible] जिस [illegible] धार पर यह

आरोपवाद

व्यंजना होती है, उसी का प्रत्यक्ष आरोप भी किया जाता है। और इस आरोपवाद के मूल में भी वही भावना सन्निहित है। प्रकृति पर य आरोप उद्दीपन की सीमा में माना जा सकता है। यहाँ फिर इन आलंबन रूप प्रकृति में भेद करना है। प्रकृतिवादी कवि आरोप के रूप में भी प्रकृति का जीवन उसके म ल पाता है। उद्दीपन विभाव में आरोप सामाजिक स्थायी भाव की दृष्टि में किया जाता है, जब कि प्रकृतिवादी का आरोपवाद रूप से अपनी मानसिक चेतना से संबन्धित है, और बाद में प्रत्यक्ष सामाजिक आधार के अभाव में उसकी अभिव्यक्ति का रूप व्यक्तिगत सीमाओं में अलग हो जाता है। मानवीय भावों की प्रधानता से प्रकृति का आरोप रूपात्मक तथा संकुचित होकर व्यक्तिगत सीमाओं में अधिक बधा रहता है। और इस कारण सामाजिक सम्बन्ध और भाव ही प्रत्यक्ष रहता है, प्रकृति गौण हो जाती है। इस आरोप में भावों तथा अनुभावों के साथ शारीरिक आकार भी सन्निहित है, जिसे मानवीकरण कहा गया है। रीति-परम्परा की अलंकारवादी प्रवृत्ति के फल-स्वरूप अन्य आरोपों का आश्रय भी प्रकृति-वर्णनों में लिया गया है। वस्तुतः प्रकृति के रूप जिस प्रकार अलग अलग विभाजित किए गए हैं, उस प्रकार उनकी स्थिति नहीं रहती। ये रूप अनेक प्रकार से मिल जुल कर उपस्थित होते हैं। इन समस्त रूपों को यहाँ गिनाना सम्भव नहीं है। आगे की विवेचना में मध्ययुग के काव्य विस्तार में प्रकृति के उद्दीपन विभाव में आने वाले रूपों पर विचार किया जायगा।

राजस्थानी काव्य

पिछले प्रकरणों में काव्य-रूपों का उनकी परम्परा के अनुसार विचार किया गया था। यहाँ उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत आने वाले प्रकृति-रूपों पर विचार किया जायगा, इसलिए आवश्यक नहीं है कि उनके अनुसार यहाँ भी क्रम का अनुसरण किया जाय। वातावरण

अनुसरण ही नहीं करती; उसके सहानुभूति के विस्तार में प्र
वस्तु-स्थिति के यथार्थ रूप में उपस्थित होती है। यहाँ कुं
शब्द संयोगिनी नायिका सुन रही है और उसकी सहानुभू
प्रकृति का रूप उसे वियोग का स्मरण दिलाता है। लोक-गी
गिनी भी विरह की व्यथा से परिचित है; और तभी य
आन्दोलन तथा उसकी उमड़न के प्रभाव को जानती है—
घने बादल छाए हैं; आकाश में बिजली चमक रही है। ऐस
की ऋतु तभी भली लगती है जब घर में सम्पत्ति औ
हो।'[1] वस्तुतः गीत के वातावरण में नायिका अपने संयोग
अपनी वियोग-वेदना दोनों से परिचित है। साथ ही सा
वातावरण में उसको प्रकृति अपनी सहचरी लगती है।
प्रकृति के दोनों रूपों को यह स्वाभाविक भाव स्थिति में ग्रहर
है। केवल संयोग तथा वियोग की परिवर्तित स्थितियों में यह
से पूर्व सम्पर्क के आधार पर भिन्न प्रभाव प्राप्त करती है।
उल्लास छाया हुआ है और विरहिणी अपने उल्लास से
मारवणी इसी प्रकार विकल हो उठी है—'हे प्रिय, पपी
गई, मोर बोलने लगे। हे कंत, तू घर आ। यौवन आन्दो
विरहणी मारवणी प्रकृति के आनन्दोल्लास को अपनी वेदना
में पाकर विह्वल हो उठी है। यह संयोग के सुख की स्थिति
कराने वाली प्रकृति ही तो कष्टकर हो गई है—'पावस के
पर्वतों पर मोर उल्लास में भर उठे। वर्षा ऋतु ने तरुवरों को
और वियोगिनियों को पतियों की याद सालने लगी।' विरहि
अन्तस्थ भावना का आरोप करके जैसे विकल है—'बादल
एक एक करके बिजलियों की चहल-पहल हो रही है। मैं भी

---

१. ढोला मारूरा दूहा, सं० १५०, २८१, १६०

काजल की रेखा लगाकर अपने प्रियतम से कब मिलूँगी।'[3] इस गीति की प्रमुख प्रवृत्ति तो यही है पर इसमें अन्य उद्दीपन संबन्धी रूप भी मिल जाते हैं। मारवणी प्रकृति के माध्यम से अपने भावों की उद्दीप्त स्थिति को व्यक्त करती है। इस चित्र में प्रकृति की सम-स्थिति का रूप भी सन्निहित है—'आज उत्तर का पवन प्रवाहित होना शुरू हो गया—प्रवासी का जाते देख प्रेमियों का हृदय फट जायगा। वह स्थल को जलाकर और आक को झुलसाकर कुमारियों का गात भस्म कर देगा।'[4] इस अभिव्यक्ति में 'हृदय फटने' तथा 'गात भस्माने' की बात व्यथा को व्यक्त करती है, पर साथ ही इसमें प्रकृति का रूप भी समानान्तर प्रस्तुत है।' इस व्यथा-गीति पर साहित्यिक प्रभाव भी है, इस कारण प्रकृति के एक उद्दीपक रूप में आरोप की भावना भी है। इसका यह अर्थ नहीं है कि जनगीतिकार आरोप करना ही नहीं है, पर आरोप का ऐसा रूपात्मक चित्र उनमें कम ही होता है—'बादलों की घटाएँ सेना है, बिजली तलवार है और वर्षा की बूंदे बाणों की तरह लगती हैं। हे प्रियतम, ऐसी वर्षा ऋतु में प्यारे बिना कहो कैसे जिया जाय।'[5]

§ ४—गुजराती परम्परा में आनेवाला गणपति कृत 'माधवानल कामकन्दला प्रबन्ध' भाषा की दृष्टि से राजस्थानी काव्यों के निकट है। साथ ही लोक कथा-गीति के रूप में होने के कारण भी इसका यहीं उल्लेख करना उचित होगा। उद्दीपन-विभाव की दृष्टि से इसमें लोक-गीति का वातावरण है जिस की ओर 'ढोला मारूरा दूहा' में संकेत किया गया है। वैशाख में विरहणी को प्रकृति उद्दीप्त करती है—

माधवानल कामकन्दला प्रबन्ध

---

३ वही : सं० २८, ३१, ४६

४ वही : सं० २८९

५ वही : सं० २९१

"विरह हुताशनि हूँ दही, सही करू छड रास।
देहवा मर्हि तुँ तापवइ, चारू भई वैशाख ॥"[6]

इस ऋतु का समस्त वातावरण उसके मन को विकल करता है, उसकी विरहाग्नि मे सभी कुछ दाहक है। पृथ्वी संतप्त हो उठी है, मलायचल से आने वाला पवन तेज़ झोकों मे आकुल कर देता है। इसी प्रकार शरदकालीन चन्द्रिका भी वियोगिनी के लिए विष के समान है। उसका समस्त सौन्दर्य्य और उल्लास उसके लिए दाहक है।[7] एक स्थल पर विरहिणी आरोप के आधार पर प्रकृति के उद्दीपन-रूप को प्रस्तुत करती है—

"हैमागिरियाँ हाथिणी, आवइ पवन पराणि।
ऊँमाड़ी ऊपरि चड़ी, मारइ मन्मथ बाण ॥"[8]

माधव के विरह प्रसंग के बारहमासा में ऋतु संबन्धी आमोद का वर्णन भी विरह के विरोध में प्रस्तुत किया गया है। परन्तु यह आमोद जन जीवन के उन्मुक्त उल्लास से अधिक संबन्धित है। कवि फाग का उल्लेख इस प्रकार करता है—

"फागुण केरां फागरां, फिरि फिरि गाइ फाग।
चंग बजावइ चंगवरि, आलवइ पंचम राग ॥"[9]

इस प्रकार इस गीति की प्रवृत्ति स्वच्छन्द है।

§ ५—पिछले प्रकरण में देख चुके हैं कि 'वेलि क्रिसन रुकमणी

---

६ माधवानल कामकंदला प्रबन्ध; गणपति : छं० ५६६

७ वही; वही : छं० ५८०—

"शरद निश कर समसमइ, श्रे मई चांदिउ भेउ।
उहाँ सरी हिँ अमीय जिमइ, विरहणीनां विष देय ॥"

८ वही; वही : छं० ५९६

९ वही; वही : छं० ६६

ऋतु चली गई, जल-निर्मल होकर नीची भूमि में जा रहा है—रति समय लज्जा स्त्री के नेत्रों में जा रहती है।'[११] इस प्रकार हम देखते हैं गीति-काव्य में जो प्रकृति और जीवन के उन्मुक्त भाव का विषय था इस काव्य में अलंकार तथा कल्पना का क्षेत्र हो गया है। इस काव्य में प्रकृति को पृष्ठ-भूमि में रखकर मानवीय क्रिया-व्यापारों की योजना करने की प्रवृत्ति भी है—'सूर्य ने उदय होकर संयोगिनी स्त्री के वस्त्र, मंथन-दंड, कुमुदिनी की शोभा का मुक्त से बन्धन में कर दिया; घर, हाट, ताल, भ्रमर और गोशालाओं को बन्धन से मुक्त कर दिया।'[१२] इसमें उल्लेखों से आलंकारिक चमत्कार मात्र प्रकट किया है जो 'संयोगनी' के साथ वर्णन को उद्दीपन के रूप में प्रस्तुत करते हैं। दूसरे वर्णन में केवल मानवीय विलास-क्रीड़ाओं का उल्लेख किया गया है—

> "श्री खंड पंक कुमकुमो सलिल सरि
>
> दलि मुगता आहरण दुति।
>
> *जल क्रीड़ा क्रीड़न्ति जगपति*
>
> जेठ मास एही जुगति।"[१३]

यह संस्कृत साहित्य के अनुसरण पर सामन्ती वातावरण का प्रभाव है। आलंकारिक प्रवृत्ति आरोपवाद को अधिक बढ़ाती है। पृथ्वीराज ने वसंत और मलयानिल के प्रसंग में लंबे रूपक बाँधे हैं और अन्यत्र भी ऐसे प्रयोग अधिक किए हैं। वसंत के वर्णन में ऋतुराज के आरोप के साथ समस्त ऐश्वर्य्य विलास को भी प्रस्तुत किया है। पवन वर्णन के प्रसंग में कामदूत से प्रारम्भ करके पति तथा हाथी के आरोप किए गए हैं। पवन की कल्पना 'मेघ-दूत' से ग्रहण की जान

---

११ वही; वही : सं० १९७, २०६

१२ वही; वही : सं० १८५

१३ वही; वही : सं० १८९

उड़ती हैं; परन्तु यह पवन-दूत केवल उद्दीपक है, इसमें सहचरण की उद्दानुभूति का वातावरण नहीं मिलता। अपनी कलात्मकता के कारण इस सुन्दर चित्र में आरोप का माध्यम स्वीकार किया गया है - 'यह पवन दूत (कामदेव) नदी नदी तैरता हुआ, वृक्ष-वृक्ष फाँदता हुआ, लतिकाओं को गले लगाता हुआ दक्षिण से उत्तर दिशा को आता है, उसके पाँव आगे नहीं चलते।'[१४] इस वर्णना में संश्लिष्ट योजना से आरोप को व्यक्त किया गया है, इस कारण चित्र सुन्दर है। आगे पवन की गति का वर्णन किया गया है—'केवड़ा, केतकी, कुंद पुष्पों की सुगन्ध का भारी बोझा कंधे पर उठाए हुए है, इसलिए माधवाद पवन की चाल धीमी पड़ गई है, श्रमबिन्दु के रूप में वह निर्झर शीकरों को बहाता है।'[१५] इसमें आरोप कहीं प्रत्यक्ष नहीं हुआ है केवल क्रियाओं के माध्यम से व्यक्त किया गया है और इसलिए उद्दीपन की भावना भी व्यंजनात्मक है। आगे चल कर इस काव्य में आरोप का प्रत्यक्ष आधार बढ़ता गया है—'पुष्पासव का पान करता हुआ, वमन करता हुआ उन्मत्त नायक रूपी पवन पाँव ठीक स्थान पर नहीं रखता; अंग का आलिंगन दान देता हुआ पुष्पवती (रजस्वला) लताओं का स्पर्श करना नहीं छोड़ता है।'[१६] इस आरोप में मानवीकरण का उद्दीत रूप अधिक प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष आरोप का रूप कभी सुन्दर व्यंजना सन्निहित हो जाती है—'पृथ्वी रूपी पत्नी और मेघ रूपी पति मिले; उमड़ कर तटों को मिलाती हुई गंगा और यमुना का संगम-स्थान त्रिवेणी ही मानों बिखरी हुई फूलों से गुथी हुई वेणी बनी।' इसमें भी भावात्मक व्यंजना शारीरिक मानवीकरण के आधार पर ही अधिक हुई है और

---

१४ वही; वही : सं० २५९
१५ वही; वही : सं० २६०
१६ वही; वही : सं० २६२

क्रीड़ा विलास का रूप अधिक प्रमुख है। यह रूप का आरोप भी कभी मांसलता से अधिक संबन्धित न होकर सुन्दर लगता है—'काले काले पर्वतों की श्रेणी मानों काजल की रेखा है; कटि में समुद्र ही मानों कटि की मेखला है......पृथ्वी ने अपने ललाट पर बीरबहूटी रूपी कुंकुम की बिन्दी लगाई है।'[१७]

संत काव्य

३६—संत साधकों ने अपनी प्रेम-साधना में विरहिणी के रूप में अपनी वियोग-व्यथा को व्यक्त किया है। कभी कभी इसी प्रकार अपने मिलन-उल्लास को भी संयोग सुख के रूप में उपस्थित किया है। ये दोनों स्थितियाँ शृंगार के संयोग वियोग पक्ष हैं। इनके अन्तर्गत प्रकृति का प्रयोग उद्दीपन रूप में हुआ है। इसके साधनात्मक रूप पर विचार किया गया है। इन संतों के काव्य में स्वच्छंद वातावरण है। इस कारण विरह और संयोग संबन्धी प्रकृति-रूप लोक-गीतियों की भावना के अधिक निकट हैं। वस्तुतः इन साधकों ने इन स्थितियों का माध्यम अपनी साधना के लिए स्वीकार किया है; और इन्होंने लौकिकता का आश्रय भी कम लिया है। इस कारण इन प्रकृति-रूपों का प्रयोग संत काव्य में कम हुआ है। फिर भी 'विरहिन के अंगों' और वियोग संबन्धी पदों में ये रूप मिलते हैं। कुछ संतों ने बारहमासा या ऋतु-वर्णन भी लिखे हैं। लोक गीतियों की नायिका के समान संतों की विरहिणी बारहमासों में प्रकृति के साथ अपनी व्यथा को व्यक्त करती है—

स्वच्छंद भावना

"भादौं गहर गंभीर अकेली कामिनी।
मेघ रह्यौ भरलाइ चमकंत दामिनी॥
बहुत भयानक रैनि पवन चहुँदिशि बहे।
(पर हि ह) सुन्दर बिन उस पीव विरहणी क्यों रहे॥"

---

१७ वही; वही : सं० १९९, २००

ा के भयानक रूप से यहाँ व्यथा का तीव्र होना दिखाया गया
आगे सुन्दर विरोध का आधार भी ग्रहण करते हैं—

"दिस-दिस तै बादल उठे बोलत चातक मोर।
और सुन्दर चकित विरहनी चित रहै नहि ठौर।।"[१८]

भावना को बुल्ला इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

'देखो पिया कालो घटा मो पै भारी।
सूनी सेज भयानक लागी मरा विरह की जारी।।"[१९]

ई ७—प्रकृति के उद्दीपन-विभाव का दूसरा रूप जिसमें भावों की
मि पर प्रकृति उपस्थित होती है, संतों में मिलता है। इस सहज
अभिव्यक्ति मे प्रकृति उन्हीं भावों को व्यक्त भी
करती है जिनके है आधार पर वह प्रस्तुत होती है।
वियोग की पृष्ठ-भूमि पर सुन्दर की विरहिणी को

के आधार
र प्रकृति

' में व्यापक उद्वेलन बिखरा हुआ जान पड़ता है जो अपने आप
ट और वेदना छिपाए है—'मेरे प्रिय, तुम इतनी देर कहाँ भटक
वसंत ऋतु तो उस प्रकार व्यतीत हुई, अब वर्षा आ गई है।
' चारों ओर उमड़ घुमड़ चले हैं, उनकी गरज तो सुनी ही नहीं
। दामिनी चमकती है हृदय पीड़ा से काँप जाता है, बूँदों की
: दुखदायी है।'[२०] इस प्रकृति के रूप में वियोगिनी की वेदना
पीड़ा मिली हुई है। वस्तुतः इस चित्र में दो रूप मिले हुए हैं;
' की पृष्ठ-भूमि पर प्रकृति है और फिर उसके आधार पर वेदना
र है। इसी प्रकार धरनीदास की विरहिणी आत्मा को—

"पिय बिन नींद न आवै।

---

८ ग्रंथा०; सुन्दर : विरह को अंग

९ शब्दसागर; बुल्ला : प्रेम० १०

० ग्रंथा०; सुन्द० : पद, राग म० ३

खन गरजै खन बिजुली चमकै, ऊपर से मोहि झाकि दिखावै ।"[२१]
दरिया साहब (बिहार वाले) प्रिय-स्मृति के आधार पर प्रकृति को उद्दीपन के व्यंजक रूप में प्रस्तुत करते हैं— 'हे अमर पति तुम क्यों नहीं आते । वर्षा में विविध प्रकार से तेज पवन चल रहा है, बादल गरज कर उमड़ रहे हैं; अजस धारा से बूँदें पृथ्वी पर गिर रही हैं, बिजली चारों ओर चमक जाती है, झींगुर झनक कर झनकारता है; विरह के बाण हृदय में लगते हैं । दादुर और मोर सघन वन में शोर करते हैं, पिया बिना कुछ भी तो अच्छा नहीं लगता । सरिताओं में उमड़-घुमड़ कर जल छाया हुआ है, और छोटी बड़ी सभी तो शामिल हो गई हैं ।'[२२] इसमें वियोग की मनःस्थिति के आधार पर प्रकृति का रूप विरोध से भावोद्दीपन की व्यंजना करता है । कबीर में आध्यात्मिक अलौकिकता और दादू में प्रेम की व्यंजना अधिक है; इस कारण साधारण प्रकृति के उद्दीपन रूपों को इनमें स्थान नहीं मिला है । जो रूप हैं उनमें आध्यात्मिक संकेत मिल जाते हैं जिनका उल्लेख किया गया है । कबीर का प्रत्येक उद्दीपन-चित्र आध्यात्मिकता में खो जाता है—

> "*ओनई बदरिया परिगै संझा । अगुवा भूल बन खंडा मंझा ॥*
> पिय अंते धन अंते रहई । चौपरि कामरि माथे गहई ॥
> फूलवा भार न ले सकै, कहै सखियन सों रोय ।
> ज्यों ज्यों भींजै कामरी, त्यों त्यों भारी होय ॥"[२३]

दादू इन्हीं रूपों को प्रेम की व्यापक भावना में घुला कर देते हैं । संयोग के अवसर का रूप इस प्रकार है—

---

२१ द॰दा॰; बरमा॰ ३

२२ द॰दा॰; दरिया ; मन १ ६

२३ बी॰क॰; कबीर ; रमैनी १५

"नसुधा सब फूलै फलै, पिरथवी अनँत अपार।
गगन गरजि जल थल भरै दादू जै जै कार॥"

§८—संतों में सुन्दरदास पर साहित्यिक परम्पराओं का अधिक प्रभाव है इसीलिए इनमें प्रकृति पर आरोप करके उद्दीपन का रूप उपस्थित किया गया है। इस आरोप में शृंगारिक कल्पना के द्वारा नहीं, वरन् नृप के आक्रमण के रूपक में यह काम लिया गया है—वियोगिनी के सामने उमड़ते हुए बादल हैं और कवि अपने रूपक से इस चित्र को उद्दीपक कर देता है—'इस विरहिणियों पर पावस नृप के समान आक्रमण कर रहा है ..... बादल ही हस्ती हैं, विद्युत ही हवाइयाँ हैं और गरजन निशानों की ध्वनि है। पवन रूपी तुरंग चारों ओर नाचता है, और बून्दों के बाण चल रहे हैं। दादुर, मोर तथा पपीहा आदि जैसे युद्ध में लल कारते हुए 'मार मार' कहते हैं।'[२४]

आरोप.

प्रेम कथा-काव्य

§९—काव्य-रूपों की विवेचना में कहा गया था प्रेम कथा काव्यों का आधार लोक कथा गीतियाँ हैं; इस कारण इनमें स्वच्छंद प्रवृत्तियों को अवसर मिल सका है। प्रकृति के उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत आनेवाले रूपों की दृष्टि से जायसी में अधिक उन्मुक्त वातावरण मिलता है। आगे के कवियों में भाव-व्यंजना के स्थान पर वेदना के बाह्य अनुभावों और विलास का क्रीड़ा-कलाप अधिक बढ़ता गया है। जायसी ने बारहमासा में ऋतु के बदलते हुए दृश्य-रूपों का विरहिणी के भावों के सम पर ही उद्दीपक बनाया है। इस बारहमासे में नागमती के विरह-प्रसंग को लेकर प्रकृति को सहज संबन्ध में उपस्थित किया गया है। विरहिणी नागमती प्रत्येक मास के परिवर्तित प्राकृतिक वातावरण के साथ अपनी विरह-वेदना

प्रकृति और भावों का सामञ्जस्य

---

२४ ग्रंथा०; सुन्द० : प०, ए० म० ४

को सम अथवा विरोध पर रखकर अधिक विकल हो उठती है—'असाढ़ मास में⋯घेरती हुई घटा चारों ओर से छाती आती है; हे प्रिय, बचाओ मैं मदन से पीड़ित हूँ। दादुर मोर और कोकिला शब्द कर रहे हैं⋯बिजली गिरती है, शरीर में जैसे प्राण नहीं रुकते।⋯सावन में⋯मार्ग अंधकार में गम्भीर और अथाह हो उठा है, जी बावला होकर भ्रमता घूमता है. संसार जहाँ तक दिखाई देता है जलमय हो उठा है, मेरी नौका तो बिना नाविक के थक चुकी है। ⋯भादों में⋯ बिजली चमकती है, घटा गरज कर त्रस्त करती है, विरह काल होकर जी को ग्रस्त करता है। मघा झकोर झकोर कर बरसता है, ओलती के समान मेरे दोनों नेत्र चूते हैं।'[२५] इसी प्रकार यह सारा बारहमासा प्रकृति और भावनाओं के सामञ्जस्य पर चलता है। इसमें प्रकृति का स्वाभाविक रूप भावों को आधार प्रदान करता है; और भावों की सहज स्थिति प्रकृति से प्रेरणा प्राप्त करती है। साथ ही इसका सब से बड़ा सौन्दर्य यह है कि प्रकृति के क्रिया व्यापारों में भावों की व्यंजना सन्निहित है, जबकि वियोगिनी के भावों और अनुभावों के साथ प्रकृति से तद्रूपता भी स्थापित की गई है। बादल घिरते हैं तो वियोगिनी कामपीड़ित है; अंधकार गम्भीर अथाह है तो उसका मन भ्रमता है और यदि मघा बरसता है तो उसके नेत्र चूते हैं। अन्य प्रेम कथा काव्यों में ऐसी उन्मुक्त स्थिति नहीं है। दुखहरन-दास ने बारहमासा को संयोग के अन्तर्गत रखा है, इसलिए उसमें भी यह सहज भाव नहीं आ सका है। इसमें विलास तथा क्रीड़ा की बात ही अधिक है। उसमान और आलम के बारहमासों में प्रकृति पीछे पड़ जाती है और विरह की अवस्था का वर्णन ही प्रमुख हो गया है। इस विरह स्थिति का वर्णन भी भावस्थिति के रूप में न होकर अधिकार लिए चलाती तथा पीड़ा संबन्धी अनुभावों के अत्युक्तिपूर्ण चित्रण में

---

२५ ग्रंथ ०; प.३३१ ; प३०, नागमती-विरह-खंड, दो० ४, ५, ६

ए हैं। उसमान की वियोगनी प्रकृति के सामने अपने आप में धिक व्यस्त है—'जेठ' जग तपा। इस मास में तो संसार ऐसा तपा ; पुतलियों के आँसू सूख गए। विरह छिपाए नहीं छिपता, सहस्र त्र होकर उसके शरीर को तपाता है।...असाढ़ मास में...श्वेत, त, श्याम बादल छाते हैं, वैसे बकों की पंक्ति दिखाई देती है, लँग रते घरों को छाते हैं, पक्षी वनों में घोंसला बनाते हैं। मेरा कन्त तो गी है, मन्दिर छाकर क्या करूँगी।'[२६] इस चित्र का वातावरण फिर भी स्वाभाविक है। आलम ने ऋतु के रूप को पृष्ठ भूमि में ा है, उसके आधार पर भावों की बात कही है पर इनमें रीतिक क्रिया कलाप से अधिक भावों तथा अनुभावों तक सीमित रहा ा है। यद्यपि इन वर्णन में अत्युक्ति अधिक है—

"ऋतु पावस श्याम घटा उनई लखि के पन धीर धिरातु नहीं।
सुनि दादुर मोर पपीहन की लखि के छवा चित्त थिरातु नहीं।
जब ते मनभावन तें बिछुरे तब ते हिय दाह सिरात नहीं।
इम कौन से पीर कहै दिलकी दिलदार तो कोई लखात नहीं।"[२७]

ः आलम प्रेम कथा काव्य की परम्परा में होकर भी शैली की दृष्टि ीनि कालीन प्रवृत्ति के अधिक निकट हैं। इन्होंने कुछ स्थलों पर ग के आधार पर प्रकृति को उपस्थित किया है और ऐसे रूपों में को उद्दीप्त करने की व्यंजना सन्निहित है—

"रटत मयूर मानो चातक चटावै चोर,
घटा घहरात तैसी चपल छटा छई।
तैसी रैनि कारी वारि बुन्द झरलाईं,
मेघ झिल्लिन की तान दादुर बढ़ी नई।"[२८]

---

२६ चित्रा०; उस० : ३२ पत्नी-खंड, दो० ४४५, ४४६
२७ विरहवारीश (मा०० कथा०); आलम: २६ वीं तरंग
२८ वही; वही : २७वीं तरंग

आलम में चमत्कार के साथ आरोप का रूप अधिक है—'झकझोरता हुआ प्रचंड पवन चलता है, जिससे वृक्ष मूल से हिल जाता है। आकाश में घुमड़कर घनघोर घटा छा रही है, नवीन घनों के समान वनिता काँपती है।' इस आरोप में विरह की भाव स्थिति को लेकर रूपक और उसका प्रयोग किया गया है, लेकिन अन्यत्र उद्दीपन की स्थिति को प्रस्तुत करने वाली भाव व्यंजक वस्तुओं का आरोप भी किया गया है—

"महाकाल कैधौं महाकाल कूटे,
महाकालिका के कैधौं केश छूटे।
कैधौं धूमधारा प्रलयकाल वारी,
कैधौं राहु रूप कैधौं रैन कारी।"[२९]

§ १०—जायसी में उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत केवल उल्लेख करके मानवीय भावों को व्यक्त करने की प्रवृत्ति भी पाई जाती है।

क्रिया और विलास

इनमें भी जैसा कहा गया है बाह्य स्थूल प्रभावों क्रियाव्यापारों तथा विलास-क्रीड़ाओं का रूप अधिक व्यक्त होता गया है। वसंत के प्रसंग में कवि ने मानवीय उल्लास तथा विलास का वर्णन ही अधिक किया है—

"फर फूलन्ह सब डार ओढ़ाई। झुंड बाँधि कै पंचम गाई।
बाजहिं ढोल दुंदुभी भेरी। मादर तूर झाँझ चहुँ फेरी।
नवल वसंत नवल सब वारी। सेंदुर बुक्का होइ धमारी।"[३०]

जहाँ तक ऋतु के साथ मानवीय उल्लास का प्रश्न है, यह रूप स्वाभाविक है; क्योंकि ऐसे समय सर्वसाधारण का उल्लास-मग्न होना सहज है। परन्तु इन वर्णनों के अन्तर्गत जब जायसी आनन्दोल्लास का वर्णन करते हैं, उसमें क्रिया-व्यापारों का उल्लेख भी मिलता है—

---

२९ वही; वही : २०वाँ तरंग
३० ग्रंथा०; जायसी : पद०, २० वसंत-खंड, दो० ७

"पहिरि सुरंग चीर घनि झीना। परिमल मेद रहा तन भीना।
अधर तमोर कपूर मिमसेना। चंदन चरचि लाव तन बेना।"[३१]
उसमान ने षट्-ऋतु वर्णन को वियोग के अन्तर्गत रखा है, परन्तु इसमें भी प्रकृति से अधिक स्थिति प्रधान हो उठी है। इन्होंने भावों से सम्बन्धित पीड़ा, जलन तथा उत्पीड़न आदि का वर्णन ही प्रमुखतः किया है—'जेठ की ज्वाला मे दुःख मन से निकाला नहीं जाता, विरह की दावा देखी नहीं जाती जैसे अग्नि की ढेरी ही प्रकट होगई हो प्रिय पता नहीं किस तन में छिपा है।' कहीं कहीं प्रकृति प्रत्यक्ष होकर पीड़ा तथा उत्पीड़न को बढ़ाती है—'श्याम रात्रि में जो कोकिल बोलता है, वह मानों विरह से जलाकर शरीर को झाँझर कर देता है। बिजली बढ़कर जैसे स्वर्ग में फैल जाती है, मानों चमक दिखाकर जी निकाल लेती है,'[३२] उसमान का ऋतु वर्णन इन्हीं उद्दीपन-रूपों को लेकर चलता है। आगे रीति-कालीन प्रवृत्ति की विवेचना करने में प्रकट होगा कि इनमें भी प्रकृति का व्यंजक आधार लिया गया है। नूर मोहम्मद ने भी उल्लास क्रीड़ा को फाग-खंड में अधिक दिखाया है। उसमें प्रकृति परोक्ष है, विलास तथा ऐश्वर्य्य ही सामने आ सका है—

"गली गली घर घर सकल, मानहिं फाग अनन्द।
माते सब आनन्द सौं, भा फागुन सुख कन्द॥"[३३]

§ ११—इस विषय में प्रेम-काव्य के स्वतत्र कवियों में भी यही प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। परम्परा से स्वतत्र होने के कारण इनका वातावरण अधिक उन्मुक्त है। परन्तु यह भावना मानवीय भावना को लेकर है; इनके बारहमासों में प्रकृति के माध्यम से संयोग-विलास तथा वियोग की विरह-व्यथा

स्वतत्र प्रेमी कवि

३१ वही; वही : वही, २९ षट्-ऋतु-वर्णन-खंड, दो० ६
३२ चित्रा०; उस० : १८ विरह-खंड, दो० २४५-६
३३ इन्द्रा०; नूर० : ५ फाग-खंड, दो० १

का आधिक विस्तार है। यह रूप भी भाव-व्यंजक न होकर बाह्य आरोपों तथा अनुभावों का मेल है। दुखहरनदास दूत की ओर का उद्दीपन करण आलिंगन आदि का वर्णन करते हैं—

"पुहुपन [illegible] के [illegible] मैं [illegible] लगाई।
[illegible] [illegible] समाई।।"[३४]

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इन्होंने प्रकृति और भावों का सामञ्जस्य प्रस्तुत ही नहीं किया है। श्रावण मास का वर्णन भावोल्लास के समानान्तर प्रस्तुत किया गया है—

'..................... । औनई घटा बादर सब छावा।
बरसे लाग मेघ दिन राती। सालत भइ धरनी की छाती।
हरी हरी पेखि चहुँ ओरा। पपीहा पीव पीव लागे सोरा।।'[३५]

इन कवियों में ऋतु-वर्णन के प्रसंगों में यह रूप अधिक मिलता है। दुखहरन ग्रीष्म के वर्णन में वेदना को व्यक्त करते हैं—'नेत्रों में प्रेम के घनघोर बादल उमड़ आए; मदन का ही बवंडर झकझोर रहा है, बगुलों की पंक्ति दुःख संतप्त हो गई है और कोकिल कुहुक कर विलाप करती है।' इसमें आरोप के माध्यम से प्रस्तुत प्रकृति में उद्दीप्त भाव-स्थिति व्यक्त की गई है। आगे चित्र के वर्णन में ही भाव-व्यंजना सन्निहित है—'बिजली चमकती है, बादल गरजता है; सेज पर अकेली विरहिणी अत्यंत भयभीत हो रही है। चारों ओर नदी नाले बढ़ गए हैं, विरह से उनका वार पार कुछ नहीं सूझता।'[३६] प्रकृति के रूप के साथ ही वियोग की स्थिति संकेत करके यह व्यंजना प्रस्तुत की गई है। 'नलदमन' काव्य में भी ऋतु-वर्णनों में इसी प्रकार प्रकृति और भावों की समानान्तरता उपस्थित की गई है—'ऋतु पावस में प्रेम

---

३४ पुहु०; दुख० : सुखकर बारहमासा

३५ पुहु०; दुख० : सुखकर बारहमासा

३६ वही; वही : वर्षा-रितु-रूपावती-विरह-खंड

ढ़ गया है सावन भादों में मेह बरसता है। छो को चातक की
ली अच्छी लगती है। चातकों की वाणी को सुनकर मन को चैन
ती है। कुहुक कुहुक कर कोकिल और तोते बोलते हैं। दोनों
ी पुरुष सुनकर प्रसन्न हो रहे हैं।''[३७] इन काव्यों में आरोप की
त्ति कम है, क्योंकि इनका संबन्ध साहित्यिक परम्परा से अधिक
ीं है। दुखहरन एक स्थल पर रति उल्लास का आरोप करते हैं—

"जोवन वाहु जमुन औ गंगा। लहरी वेलि रस उठे तरंगा।
नदी नार नीत सखी सहेली। इन्द्र कइ मुठी वार्दनि वेली।''[३८]

राम-काव्य

§ २—'रामचरितमानस' और 'रामचन्द्रिका दोनों काव्य राम-कथा
संबन्धित हैं। परम्परा की दृष्टि से अलग होकर भी प्रकृति के उद्दीपन-
रूप की दृष्टि से इनमें समान प्रवृत्तियाँ हैं। कारण
यह है कि दोनों के सामने साहित्यिक परम्पराओं
आदर्श रहा है। साहित्यिक रूप में उद्दीपन में प्रकृति पर आरोप
वृत्ति अधिक हो जाती है। कलात्मक प्रयोग से यह आरोप
व्यंजक हो जाता है। परन्तु इस सीमा पर इन दोनों काव्यों में
का अधिक पालन है। इस कारण आरोप भी स्थूल और
रिक मानवीकरण के आधार पर अधिक हुआ है। प्रकृति का
उद्दीपन-रूप इनमें नहीं मिलता। एक स्थल पर 'रामचरितमानस'
में सीता के रूप-उपमानों में फैली प्रकृति के उल्लास के विरोध
पनी मनःस्थिति को उद्दीप्त पाते हैं। यह स्थल कलात्मक है पर
मूल में भी आरोप की भावना है। राम को सीता की स्मृति ही
प्रकृति के विरोधी उल्लास में अधिक जान पड़ती है—

मचरितमानस

---

३७ नल० : ऋतु-वर्णन

३८ पुहु०; दुख० : हुउ० बर०।

"कुंद कली दाड़िम दामिनी। कमल सरद ससि अहि भामिनी।
बरुन पास मनोज धनु हंसा। गज केहरि निज सुनत प्रसंसा।
श्रीफल कनक कदलि हरषाहीं। नेक न संक सकुच मन माहीं।"
इसमें आगे स्वतन्त्र प्रकृति भी उद्दीपन की प्रेरणा रखती है—'सुनु जानकी तोहि बिनु आजू। हरषे सकल पाइ जनु राजू॥' पर इसका विस्तार अधिक नहीं है। इसके बाद कवि वसंत की प्रकृति-रूप योजना 'काम सेना' के आरोप के आधार पर करता है। और इस आरोप में प्रकृति उद्दीपक ही है—'अनेक वृक्षों में लताएँ उलझी हुई हैं, मानों वे ही विविध वितान ताने गए हैं। कदली और ताल ही मानों श्रेष्ठ ध्वजाएँ हैं जो उनको देखकर मोहित न हो उसका मन धीर है। नाना प्रकार के वृक्ष फूले हैं, मानों अनेक धनुर्धारी अनेक रूपों में खड़े हैं।'[३९] इसी प्रकार उत्प्रेक्षाओं से यह रूपक पूरा किया गया।

क—'रामचन्द्रिका' का कवि अपनी प्रवृत्ति में अलंकारवादी है। साथ ही इसमें साहित्यिक परम्परा का अनुसरण भी किया गया है।

रामचन्द्रिका

इस कारण आरोपों के माध्यम से ही प्रकृति को उद्दीपन के अन्तर्गत रखा गया है। ऐसे कुछ ही स्थान होंगे जहाँ प्रकृति मानवीय भावों के सम पर व्यंजनात्मक रूप में उपस्थित हुई हो अथवा जहाँ वह भावों के आधार पर उपस्थित की गई हो। एक स्थल पर लक्ष्मण के उल्लेख में प्रकृति का ऐसा रूप आया है जिसे व्यंजनात्मक रीति से भावोद्दीपन का रूप कहा जा सकता है—

"मिलि चक्रिन चंदन बात बहै अति मोहत न्यायन हीं मति को।
मृगमित्र विलोकत चित्त जरै लिये चन्द निशाचर पद्धति को।
प्रतिकूल शुकादिक होहिं सबै जिय जानै नहीं इनकी गति को।
दुख देत तड़ाग तुम्हें न बनै कमलाकर है कमलापति को।"[४०]

३९ राम०; तुलसी : अर०, दो० ३०, ३८

४० रामचन्द्रिका; केशव : पा० प्र०, छं० ४८

: इस चित्र में आलंकारिक प्रवृत्ति के कारण स्वाभाविकता
:न पर चमत्कार ही अधिक है। आरोप की भावना में जहाँ
र से अधिक भाव की व्यंजना हो सकी है वे उद्दीपन रूप सुन्दर
। उनमें संस्कृत के कवियों का अनुकरण स्पष्ट है— सब पुष्प
युक्त हैं, चारों ओर सुगंध उड़ रही है जिससे विदेश निवासी
ी अंधे हो जाते हैं। पत्र रहित पलाश समूह ऐसा शोभा देता है
वसंत ने काम को अग्निवाण दिया हो।'[४१] इसमें उत्प्रेक्षा से
के बाण की कल्पना भावात्मक है। परन्तु केशव की प्रमुख प्रवृत्ति
करण के रूप में आकार के आरोप की है। कवि शरद का वर्णन
के रूप में करता है—

दंतावलि कुन्द समान गनो। चंद्रानन कुन्तल चौंर घनो।
ौंहैं धनु खंजन नैन मनो। राजीवनि ज्यों पद पानि भनो।'[४२]

की आरोपवादिता में रूप व्यंजना का दृष्टिबिन्दु न रहकर
: सूक्ष्म की ही प्रधानता है।

उन्मुक्त-प्रेम काव्य

१६—मध्ययुग की स्वच्छंद तथा उन्मुक्त प्रवृत्तियों ने आध्या-
ाधना तथा रूढ़ियों का आश्रय लिया है। परन्तु विद्यापति ने

मैं यौवन
पुरुष

प्रारम्भ में ही उन्मुक्त वातावरण के साथ यौवन और
प्रेम का काव्य लिखा है। इनमें काव्य का साहित्यिक
आदर्श अवश्य मिलता है, पर रूढ़िवादिता तथा
रक साधना से इनका काव्य बहुत कुछ दूर रहा
ा प्रेम और सौन्दर्य न तो आध्यात्मिक वातावरण में
ुआ है और न काव्य की रूढ़ियों का बंदी ही। परन्तु जैसा
है विद्यापति का काव्य साहित्यिक शैलियों के अत्यधिक निकट

वही; वही : दी० प्र०, छं० १४
वही; वही : दी० प्र०, छं० १५

है, इस कारण इनकी भाव-धारा को कलात्मक आधार मिला है। फिर भी इन गीतियों की अभिव्यक्ति वस्तु-परक आश्रय पर हुई है; और इसलिए प्रेम और सौन्दर्य की भावात्मकता के स्थान पर इनमें यौवन का शारीरिक रूप ही प्रत्यत्त हो जाता है। प्रकृति के उद्दीपन-रूप की दृष्टि से विद्यापति में लोक-गीतियों जैसी प्रवृत्ति मिलती है; परन्तु इन्हीं कारणों से प्रकृति तथा जीवन में भावों का प्रगुम्फन तीव्र हो उठता है। वसंत का दृश्य-जगत् अपने रूप में अधिक मादक है और उसके समानान्तर भावों का यौवन से आकुल चित्र है—

"मलय पवन वह। वसन्त विजय कह।
भमर करइ रोल। परिमल नहि ओल।
ऋतुपति रंग हेला। हृदय रभस मेला।
अनंक मंगल मेलि। कामिनि करथु केलि।
तरुन तरुनि सङ्गे। रहनि खपनि रङ्गे।"[४३]

आगे भावों के सम पर प्रकृति भावों को व्यंजित करती हुई उद्दीप्त करती है—'नवीन वृन्दावन में नए नए वृक्षों के समूह हैं, उन पर नए पुष्प विकसित हैं। नवीन वसंत के प्रसार में नव मलयानिल का संचरण हो रहा है और मस्त अलियों की गुञ्जार होती है। नवल किशोर विहार करते हैं, यमुना तट पर कुंजों की शोभा नवीन प्रेम से आह्लादित हो रही है।'[४४] विद्यापति में उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत प्रकृति के प्रयोग की यही व्यापक प्रवृत्ति है। इसके साथ प्रकृति के संकेत पर विरह की वेदना और यौवन की व्यथा का वर्णन भी प्रमुख हो उठता है—'हे सखी, हमारे दुःख की कोई सीमा नहीं है। इस भादों मास में बादल छाए हैं और मेरा मन्दिर सूना है। झम्प कर बादल गरजते हैं, संसार को प्लावित करते हैं। कन्त तो

४३ पदावली; विद्यापति : पद ६१२

४४ वही; वही : पद ६०६

र्णी है, काम दारुण है, वह तीव्र बाणों से मारता है।"[४५] यहाँ फिर भी प्रकृति सामने उपस्थित है, कुछ स्थलों पर केवल एक लेख के आधार पर विरह की पीड़ा का उल्लेख किया जाता है—

"गगन गरजि घन घोर। हे सखि, कखन आग्रत बहु मोर।
उगलीन्ह पाचो बान। हे सखि, अबन बचत मोर प्राण।
करव कश्रोन परकार। हे सखि, यौवन भेल उजियार।।"[४६]

: कभी तो ऋतु संबन्धी उल्लास ही सामने आता है, प्रकृति मूल कर दी जाती है—

"नाचहु रे तरुनि तजहु लाज,
आएल वसन्त रितु वणिक राज।
केश्रो कुङ्कुम मरदाव अग,
ककरहु मोतिश्रा भल भाज मान।।"

मानवीय उत्सव तथा उल्लास का रूप सामने आता है, अन्यत्र

"मधुर युवतीगण सङ्ग,
मधुर मधुर रसरङ्ग।
मधुर मादव रसाल,
मधुर मधुर कर ताल।।"[४७]

—विद्यापति में साहित्यिक कलात्मकता होने के कारण उल्लास के माध्यम से अधिक व्यक्त हुआ है। परन्तु इस आरोप में

से प्रेरणा

भावात्मक प्रेरणा अधिक है, स्थूल आकार से मधु-क्रीड़ाओं आदि के द्वारा उद्दीपन का कार्य नहीं लिया है। विद्यापति ने एक लंबा रूपक जन्म का बाँधा है और राजा का दिया है। जन्म के रूपक में प्रकृति-रूप इस प्रकार

वही; वही : पद ७१५
वही; वही : पद ७०६

चलता है—

> "माघ मास सिरि पञ्चमी जजाइवि,
> नवल मास पञ्चमहु रुश्राइ।
> अति घन पीड़ा दुख बड़ पाश्रोल,
> वनसपती भेल धाइ हे।।"

आगे इस चित्र में उल्लास इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

> "आचए जुवतिगण हरषित जनम,
> खोल वाल मथाइ रे।
> मधुर महारस मङ्गल गावए,
> मानिनि मौन उड़ार रे।।"[४८]

ऋतुपति राज का रूपक तो प्रसिद्ध है और अनेक कवियों ने इसका प्रयोग किया है। इसमें ऋतु संबन्धी उमंग प्रकृति में प्रतिपादित की गई है—'ऋतुराज वसंत का आगमन हुआ। माधवी लताओं में अलि समूह गुंजारता है। दिनकर की किरणों में उसका यौवन है और कुसुम के केसर उसका स्वर्ण दण्ड है।'[४९] विद्यापति के उद्दीपन में प्रकृति-रूप वियोग में यौवन की विरह-पीड़ा को लेकर अधिक चलता है, जब कि संयोग में उल्लास का आन्दोलन ही अधिक है। इसका कारण है कि विद्यापति मुख्यतः लौकिक प्रेम तथा सौन्दर्य के कवि हैं जो यौवन में अपनी अभिव्यक्ति पाता है।

§१४—प्रकृति के उद्दीपन-रूप को लेकर समस्त उपयुक्त कवियों में समान भावना है। परन्तु मीरा की पद शैली में गीति भावना के कारण प्रकृति से उद्दीपन की प्रेरणा स्वाभाविक है और उसमें भाव-तादात्म्य स्थापित हो सका है। विद्यापति में भी यह भावना थी, परन्तु

मीरा की उन्मुक्त उद्दीपक प्रकृति

---

४८ वही; वही : पद ६०१

४९ वही; वही : पद ६०५

साहित्यिक रूप होने के कारण उनके काव्य में अन्य रूप भी हैं। अन्य मुक्तक प्रेमी कवियों पर रीति परम्परा का प्रभाव अधिक है, स्वतंत्र रूप से प्रकृति के चित्रों में पावस का प्रमुख स्थान रहा है। मीरा की विरहिणी आत्मा पावस के उल्लास की मनःस्थिति के विरोध में पाकर अधिक व्यग्र हो उठी है—

"पिया कब रे घर आवै।
दादुर मोर पपीहरा बोलै कोइल सबद सुणावै।
घुमँड घटा ऊलर होइ आई दामिनि दमक डरावै॥"[५०]

और दूसरी ओर संयोगिनी मीरा प्रकृति के पावस उल्लास से अपना सम स्थापित करके अधिक आनन्दमग्न हो उठती है—

"मेहा बरसिवा करे रे,
आज तो रमियो मेरे घरे रे।
नान्ही नान्ही बूँद मेघ घन बरसे।
सूखे सरवर भरे रे।
बहुत दिना पै प्रीतम पायो।
बिछुरन को मोहि डर रे॥"[५१]

दुःख के बाद सुखातिरेक में दुःख की स्मृति भय बनकर रहती है, इसी स्वाभाविक स्थिति की ओर इसमें संकेत किया गया है।

§ १५—जैसा कहा गया है मुक्तक के प्रेमी कवियों में प्रकृति का उद्दीपन रूप भावों के समानान्तर तो है, पर रीति के प्रभाव से उसमें बाह्य आधारों का वर्णन ही अधिक है। ठाकुर कवि प्रकृति के विकासविशेष से मानिनी की रति भावना को उद्दीप्त करते हैं—देखो, वन में

अन्य कवि और रीति का प्रभाव

वल्लरियों में किसलय और कुसुम आ गए हैं और प्रत्येक घन सघन

---

५० वही; मीरा : पद १५६
५१ वही; वही : पद १००

उपवन सुन्दर शोभा से छविमान् हैं। और इस कोकिल की कूक सुन कर कैसी हूक होती है: ऐसे दुःख में कोई रात-दिन किस प्रकार व्यतीत करे। ऐसे समय तो श्याम को तरसाना नहीं चाहिए: तू अपने मन में विचार कर तो देख। ऐसे समय कोई मान करता है, आम पर मंजरी है और मंजरी के मौर पर भ्रमर गुंजारता है, ऐसा सुहावना समय है।[५२] इन कवियों में कुछ रूप इस प्रकार के पाए जाते हैं जिनमें प्रकृति के आधार पर वियोग-व्यथा को अधिक व्यक्त किया जाता है—'पावस ऋतु में श्याम घटा को उमड़ी देखकर, मन में धैर्य तो बँधता नहीं फिर इन दादुर और मोरों के शब्द को सुनकर चित्त स्थिर नहीं हो पाता। जब से प्रिय से बिछोह हुआ, वियोगिनी के हृदय की ज्वाला कम नहीं होती। उसकी कौन-सी व्यथा या उल्लास का उल्लेख किया जाय, कोई सुननेवाला और सहानुभूति रखनेवाला भी नहीं दिखाई देता।'[५३] इस वर्णन में प्रकृति के विरोध में सहानुभूतिपूर्ण वातावरण से भाव-व्यंजना को उद्दीप्त रूप में उपस्थित करती है, यद्यपि कवि कहता यही है कि कोई सहानुभूति रखनेवाला नहीं मिलता। इसी के दूसरे रूप में भावों की पृष्ठ-भूमि पर प्रकृति उद्दीपक हो उठती है—

"बटपारन बैठि रसालन मैं यह कैलिया आइ खरे ररि है।
वन फूलि है पुञ्ज पलासन के तिन को लखि धीरज को धरि है।
कवि बोधा मनोज के आजनि सो विरही तन तूल भयो जरि है।
घर कन्त नहीं बिरतन्त भट्ट अब कैधौं बसन्त कहा करि है।"[५४]

इस प्रकार इन कवियों के मुक्तकों में उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत प्रकृति का रूप लोक-गीतियों की उन्मुक्त भावना तथा साहित्यिक परम्पराओं और रूपों की मध्य की स्थिति मानी जा सकती है।

---

५२ शतक; ठाकुर : छं० ६१

५३ सरस०; बोधा : छि० १

५४ वही; वही : प० २

पद काव्य

§ २६—भक्त कवियों के पद-काव्य में उद्दीपन की भावना का
स विद्यापति के आधार पर माना जा सकता है। साधना संबन्धी
प्रकरण में भगवान् की भावना को लेकर प्रकृति
सामञ्जस्य की प्रभावमयी स्थिति पर विचार किया गया है।
और फाग का लेकर इन कवियों में प्रकृति का बहुत दूर तक
से सामञ्जस्य मिलता है। कुंभनदास वसंत का भाव दीपक रूप
कार उपस्थित करते हैं—

"मधुर गुंजारत मिलित सत सुर भयो है हुलास
तन मन सब जंतहि।
मुदित रसिक जन उमगि भरे है न पावत
मनमथ सुख अंतहि।"[१]

नदास भी इसी प्रकार कहते हैं—
द्रुम बेली भाँति भाँति। नव वसंत सोभा कही न जात।
ग सुर विलसत सघन कुंज। छिनिछिनि उपजत आनंद पुंज।"[२]
दास का प्रकृति उद्दीपन-रूप वसंत की इस भावना से भिन्न
—
रत वन सरस वसंत स्याम। जुवती जूथ गावैं लीला अभिराम।
ल सघन नूतन तमाल। जाई जुही चंपक गुलाल।
ल मंदार माल। लपटात मत्त मधुकरन जाल।"[३]
र अनेक चित्र सभी कवियों में मिलते हैं। भक्त कवियों के इस
रूप में मानवीय भावों के समान उल्लास व्यक्त होता है। सूर
ो हिंडोला के प्रसंग में प्रस्तुत किया है, प्रकृति और जीवन

१ मागुच्छागीर पदसंग्रह (भ० २) : पृ० ९
२ वही : पृ० १९
३ वही : पृ० १८

समानान्तर है केवल यहाँ शृंगार की भावना अधिक है—'हरि के साथ हिंडोला झूलो और विद को भी झुलाओ। शरद और उसके बाद ग्रीष्म ऋतु बीत गई अब सुन्दर वर्षा ऋतु आई है। गोपियाँ कृष्ण के पैर छूकर कहती हैं, वन वन कोकिल शब्द करता है और दादुर शोर करते हैं। घन की घटाओं के बीच में बगुलों की पंक्ति आकाश में दिखाई देती है। इसी प्रकार विद्युत चमकती है, बादल घोर गरजन करते हैं, पपीहा रटता है और बीच बीच में मोर बोल उठता है।' इस लंबी चित्र योजना में जो उल्लास की उद्दीपन भावना है वह गोपियों के संयोग-शृंगार के समानान्तर ही है—

"पहरि चुनि चुनि चीर चुहि चुहि चूनरी बहुरंग।
कटि नील लहँगा लाल चोली उबटि केसरि रंग॥"[५८]

समस्त हिंडोला प्रसंग में यही भावना है।

क—सूरदास के बसंत-वर्णन में भावों की पृष्ठ-भूमि पर प्रकृति का उद्दीपन-रूप उपस्थित किया गया है जिसमें उल्लास की भावना निहित है—'कोकिल वन में बोली, वन पुष्पित हो गए; मधुप भी गुंजारने लगे। प्रातःकाल वन्दीजनों की जय जयकार सुनकर मदन महीपति जागे। दव से जले हुए वृक्षों में दूने अंकुर निकल आए, मानो कामदेव ने प्रसन्न होकर याचकों को नाना-वस्त्र दान दिए। नवीन प्रीति के वातावरण में नववल्लरियाँ नव-पुष्पों से आच्छादित हुईं; जिनके सुरंगों पर नव-युवतियाँ प्रसन्न हुईं।'[५९] इसी प्रकार का एक दूसरा चित्र भी है—

भावों के आधार पर प्रकृति

"हिय देख्यो वन छबि निहारि।
वार वार यह कहति नारि।
नव पल्लव बहु सुमन रंग।
द्रुम बेली तनु भयो अनंग।

---

५८ सूरसा०; दश०, पद २२७४
५९ वही; वही, पद २३८५

भँवरा भँवरी भ्रमत संग।
यमुन करत नाना तरंग।[90]

उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत प्रकृति का यह रूप सूर में ही प्रमुखतः है, परन्तु अन्यत्र भी मिलता है। गोविंददास भावों का आधार ग्रहणकर प्रकृति को उपस्थित करते हैं—'हे कंत, नवीन शोभावाली अनुपम ऋतु वसंत आ गई. अत्यंत सघनता से जूही, कुंद और अन्य पुष्प फूल उठे हैं; वनराजि पुष्पित हो उठी है, उन पर मदरस के मतवाले भ्रमर दौड़ते घूमते हैं।'[91] इसी प्रकार प्रकृति रूप कृष्णदास का भी है—

"प्यारी नवल नव नव केलि।
नवल विटप तमाल अरुभी मालती नव बेलि।
नव वसंत हसत द्रुमगन जरा जारे पेलि।
नवल वसंत विहंग कूजन मच्यो ठेला ठेलि।
तरणि तनया तट मनोहर मलय पवन सहेलि।
चकुल कुल मकरद लंपट रहे अलिगन भेलि।"[92]

इन रूपों में पृष्ठ-भूमि की भावना ही भावात्मक व्यंजना के रूप में सन्निहित हो जाती है, जैसा सूर के चित्र में अधिक दूर तक हुआ है। और या क्रीड़ा-विलास आदि का अस्पष्ट आरोप हो जाता है जैसा इस चित्र में है।

ख—सूर ने आरोप के आधार पर भी प्रकृति का उद्दीपन में रखा है। पत्र के रूप में वसंत की कल्पना में नवीनता है—

आरोप का आधार

९० वही ; वही, पृ० २२८७
९१ श्री पुष्ट० , पृ० ६७—'कोकिल बोलो बन बन फूल'
९२ वही ; पृ० २४

"ऐसो पत्र पठायो ऋतु वसंत
तजहु मान मानिन तुरंत।
कागज नवदल अंबुज पात
देति कमल मसि भँवर सुगात।"[६३]

वसंतराज, वसंत सेना आदि के रूपक साहित्यिक परम्परा से लिए गए हैं। मदन तथा वसंत के फाग खेलने की कल्पना में आरोप सुन्दर है—

"देखत नव व्रजनाथ आजु अति उपजतु है अनुराग।
मानहु मदन वसंत मिले दोउ खेलत फाग।
केकी काग कपोत और खग करत कुलाहल भारी।
मानहु लै लै नाउँ परस्पर देत दिवावत गारी।"[६४]

इन सबके अतिरिक्त प्रकृति को परोक्ष में करके केवल विलास और उल्लास का वर्णन भी इनमें मिलता है—'हे सखी, यह वसंत ऋतु आ गई; मधुबन में भ्रमर गुंजारते हैं। ताली बजाकर स्त्रियाँ हँसती हैं; और केसर, चंदन तथा कस्तूरी आदि घिसी जाती है। व्रज में खेल मचा हुआ है। कोई प्रातः सन्ध्या अथवा दोपहर नहीं मानता; नाना प्रकार के, मुरज, बीन, डफ तथा भाँझ आदि बाजे बजते हैं और गुलाल, अबीर आदि उड़ाया जाता है।'[६५] यही क्रीड़ा-कौतुक की भावना सभी क्षेत्रों में ऋतु के साथ अधिक होती गई है और रीति-काल की रूढ़िवादिता तथा उक्ति-वैचित्र्य में तो इसको प्रमुख स्थान मिला है।

मुक्तक तथा रीति काव्य

§ १७—मुक्तक कवियों और रीति परम्परा के कवियों में प्रकृति के

---

६३ सूर० : दश०, पद ३३८२

६४ वही : वही, पद ३३९०

६५ [illegible] : पृ० ११—'[illegible] ऋतु बसंत।'

उद्दीपन रूप को लेकर कोई प्रवृत्ति विषयक विभाजन रेखा नहीं खींची जा सकती। इनमें इस रूप के अनेक भेद मिलते हैं और सभी कवि समान प्रवृत्तियों से प्रभावित हैं जो सामूहिक रूप में रीति परम्परा से संबन्धित हैं। यह एक सीमा तक कवि की अपनी काव्य-प्रतिभा और आदर्श भावना से भी संबन्धित है। जिन कवियों का रसात्मक प्रवृत्ति अधिक है उन्होंने प्रकृति को जीवन के सामञ्जस्य पर, अथवा जीवन और प्रकृति में से किसी को पृष्ठ-भूमि में रख कर दूसरे को उस भावना से आन्दोलित या प्रभावित चित्रित किया है। जिन कवियों की प्रवृत्ति अलंकारों तथा उक्ति चमत्कार की ओर है उनमें प्रकृति का संकेत देकर या उल्लेख करके पीड़ा जलन, विलास क्रीड़ा का ऊहात्मक वर्णन ही प्रमुख है। इसके अतिरिक्त आरोप को लेकर भी यही भेद पाया जाता है। रसवादी कवियों ने भावात्मक व्यंजना प्रस्तुत करने वाले रूपकों का प्रयोग किया है जबकि अलंकारवादी कवियों में चमत्कार की प्रेरणा से मानवीकरण करने की, आकार देने की प्रवृत्ति अधिक है। इन्होंने विचित्र आरोप भी प्रस्तुत किए हैं। परन्तु यह विभाजन जितना सिद्धान्त से संबन्धित है, उतना वास्तविक नहीं है। इस युग का काव्य सब मिला कर ऐसी रूपात्मक रूढ़िवादिता (फार्मलिज़्म) से बँधा हुआ है कि सभी कवियों में समान परिपाटी का अनुसरण मिलता है। यह कहना कठिन है किस कवि में कौन प्रवृति प्रमुख है। इसलिए यह विभाजन व्यापक रूप से ही लगता है।

समान प्रवृत्तियाँ

§ १८—स्वच्छन्द भावना से संबन्धित प्रकृति का यह उद्दीपन-रूप है जिसमें प्रकृति मानवीय जीवन की दुःखसुखमयी स्थितियों तथा भावनाओं के समानान्तर उपस्थित होती है। और इस निकट की स्थिति से वह विरोध, संयोग, स्मृति के द्वारा भावों को व्यंजनात्मक रीति से

समानान्तर प्रकृति और जीवन

उद्दीप्त करती है। इसी के समान प्रकृति के वे चित्र हैं जिनमें मानवीय जीवन या भावना का उल्लेख प्रत्यक्ष तो नहीं रहता, परन्तु प्रकृति में भावात्मक क्रियाओं आदि से भाव-व्यंजना का रूप उपस्थित किया जाता है। इस प्रकृति रूप का उल्लेख विभिन्न काव्य रूपों के अन्तर्गत किया गया है। यहाँ भेद स्पष्ट करने के लिए ठाकुर कवि का पावस-वर्णन प्रस्तुत किया जा सकता है—

'घन घहरान लागे अंग सहरान लागे,
पेखी कहरान लागे बन के विलासी जे।
बोलि बोलि दादुर निरादर सों आठौ जाम,
ग्रीषम की देन लागे बहुर बिदासी जे।
ठाकुर कहत देखो पावस प्रबल आयो,
उड़न दिखान लागे बगुल उदासी जे।
दाबे से दबे से चारो आसन छुए से बीर,
बरस रहन लागे बदरा बिलासी जे।'[६६]

इस वर्णन में मानवीय व्यथा संबन्धी अनुभावों और भावों को प्रकृति पर प्रतिघटित करके व्यंजना की है, वैसे स्वतंत्र चित्र माना जा सकता है। यह एक प्रकार अप्रत्यक्ष आरोप है। इसी चित्र के साथ जब भाव स्थिति प्रत्यक्ष सामने लगती है उस समय प्रकृति और जीवन एक दूसरे को प्रभावित करता उपस्थित होता है। मतिराम की विरहिणी प्रकृति के पावस-विलास के समानान्तर विरोध की मनःस्थिति लेकर उपस्थित है—

"धुरवान की धावन मानो अनंग की तुंग ध्वजा फहराने लगी।
नभ मंडल ते छिति मंडल छ्वै छिन जोत छटा छहराने लगी।

---

६६ पावस० ६७, इसी प्रकार गिरधर के वर्णन में क्रिया-व्यापारों के द्वारा भाव-व्यंजना हुई है—

'तिराम' समीर लगी लतिका विरही वनिता थहराने लगी।
देस में पीय संदेस नहीं चहुँ ओर घटा घहराने लगी।"[६७]
प्रकृति का आन्दोलन और वियोगिनी का अनंग पीड़ित होकर
राना' साथ होना है। इस कलात्मक प्रयोग और उन्मुक्त वातावरण
स्पष्ट भेद है। मतिराम ने भावों को प्रकृति के समस्त रखा है और
प्रकृति के माध्यम से व्यंजना द्वारा सामञ्जस्य भी उपस्थित किया
फहराना, छहराना, घहराना आदि इसी भाव को व्यक्त करते हैं।
रति का वर्णन भी इसी प्रकार चलता है—'ऋतुराज वसंत के
मन पर मन उल्लसित हो उठा है। सौरभ मयी सुन्दर मलय
प्रवाहित है। सरोवर का जल निर्मल होकर मंजन के योग्य है।
र का समूह मंजुल गुंजार करता है वियोगी इस ऋतु में व्याकुल
ोगी भी ध्यान नहीं रख पाते; और इसमें संयोगी विहार करते
उपवन वृन्द शोभित हैं, अनेक कोकिल समूह बोलता है।[६८] इस
और जीवन के समानान्तर चित्र में भाव-सामञ्जस्य उपस्थित
ो सका है, इसका कारण है कवि का अलंकारवादी होना।
जहाँ प्रभावशीलता के साथ प्रकृति उपस्थित हो सकी है वहाँ
पति अधिक भावमय हुई है—

"तपै इत जेठ जग जात है जरनि जरयो
तापकी तरनि मानौं मरनि करत है।

"घहरि घहरि घेरि घेरि घोर घन आय
छाय धर धर धूमीले घने घूमि घूमि।
डारैं जल धारैं जोर जमन जमात करैं
ललकारैं बार बार व्योम जूमि जूमि।"
पावस-शतक : २७

कवित्त रत्नाकर; सेनापति : ती० तरं० छं० २

किंशुक गुलाब कचनारन औ अनारन की,
डारन पै डोलत अँगारन के पुंज हैं।"[७०]

इसमें भावों के सम पर जो प्रकृति का उल्लेख हुआ है वह जैसे स्वयं प्रेरक तथा उद्दीपक है जो ऋतुराज के द्वारा प्रस्तुत किया गया है। सेनापति भी जेठ की गरमी का वर्णन इसी उत्तेजक के अर्थ में करते हैं—

"गगन गरद धुँधि दसो दिसा रही रूँधि,
मानौं नभ भार की भस्म बरसत है।
बरनि बताई, छिति-ब्योम की तताई जेठ,
आयो आततायी पुट पाक सौं करत है।"[७१]

ग—सेनापति के विषय में कहा गया है कि इन्होंने प्रकृति को यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार सेनापति ने प्रकृति के स्वाभाविक प्रभाव तथा उसकी प्रेरणा का भी उल्लेख किया है। ऋतु का प्रभाव मानव पर पड़ता है और उसको वह सुख-दुःख के रूप में ग्रहण करता है। अन्य कवियों ने इस शारीरिक सुख दुःख को भावों की प्रेरणा के रूप में स्वीकार कर लिया है, परन्तु सेनापति उसके सहज प्रभाव से परिचित हैं और उसे उपस्थित भी करते हैं। पिछले प्रकरण में ग्रीष्म के प्रभाव का संकेत विवरण के अन्तर्गत किया गया था। शीत काल में प्रकृति के इस रूप की ओर कवि संकेत करता है—

स्वाभाविक प्रभाव

"धायो हिम दल हिम-भूधर तें सेनापति,
अंग अंग जग थिर-जंगम ठिरत है।
पैये न बताइ भाजि गई है तताई सीत,
आयो आततायी छिति-अंबर फिरत है।"

---

७० श्या० देवा० ; बस०, १८०
७१ कवि० ; सेना० : ती० तरं०, छं० १५

सेनापति के इस वर्णन में आधार भावात्मक है—

"बरसत घन गरजत सघन, दामिनि दिपै अकास।
तपनि हरी सफली करी, सब जीवन की आस॥
सब जीवन की आस, पाय नूतन तिन अनगन।
मोर करत दिढ़ सोर, रटत चातक बिहंग गन॥
गगन छिपे रवि चंद, हरष सेनापति सरसत।
उमगि चले नद नदी, सलिल पूरन सर बरसत॥"[७४]

भाव की स्थायी स्थिति के आधार पर प्रकृति के वातावरण का परिवर्तन विचित्र सी अनुभूति देता हुआ उपस्थित होता है, जिसका पद्माकर इस प्रकार वर्णन करते हैं—

"और भाँति कुंजन में गुंजरत भौंर भीर,
और डौर झौरन में बौरन के ह्वै गये।
औरै भाँति बिहग समाज में अवाज होत,
ऐसो ऋतुराज के न आज दिन ह्वै गये॥"[७५]

ख—पिछले रूपों में स्थायी भाव की स्थिति के प्रत्यक्ष होते हुए भी आलंबन का रूप स्पष्ट नहीं था। इसमें भाव का प्रेरक आलंबन सामने आ जाता है। सेनापति की विरहिणी के सामने—'आवन कह्यौ है मन भावन को प्रत्यक्ष

प्रत्यक्ष स्मृति

भाव-स्थिति में आलंबन की स्मृति भी स्पष्ट है और इसी आधार पर पावस का दृश्य उसके सामने उत्तेजक हो उठता है—

"दामिनि दमक सुरचाप की चमक स्याम,
घटा की झमक अति घोर घनघोर तें।
कोकिला कलापी कल कूजत हैं जित-तित,
सीकर तें सीतल समीर की झकोरतें।

---

७४ क० र०; सेना० : तृ० त०, छं० ३५

७५ जग० वि०; पद्मा० : वसं०, छं० १८

आयौ सखी सावन मदन सरसावन ल-

ग्यौ है बरसावन सलिल चहुँ ओर तें।"[७६]

मतिराम भी इसी प्रकार स्मृति के आधार पर प्रकृति को उद्दीपक-रूप में उपस्थित करते हैं। इस वियोगिनी को किसी प्रकार का आश्वासन नहीं है उसे परदेशी प्रिय का संदेश भी नहीं मिला और पावस उमड़ा आ रहा है—

"धुरवान की धावन मानों अनंग की तुंग ध्वजा फहराने लगीं।
नभ मंडल तें छिति मंडल छ्वै छिन जोत छटा छहराने लगीं॥
'मतिराम' समीर लगी लतिका बिरही बनिता यहराने लगीं।
परदेस में पीव संदेस नहीं चहुँ ओर घटा घहराने लगीं॥"[७७]

देव की वियोगिनी के लिए प्रकृति का आन्दोलन स्मृति को जाग्रत कर के आत्म-विस्मृत कर देने वाला है—

"बोलि उठो पपिहा कहूँ पीव सु देखिबे को सुनि के धुनि धाई।
मोर पुकारि उठे चहुँ ओर सुदेव घटा घिरि के चहुँ छाई॥
भूलि गई तिय को तनकी सुधि देखि उतै बन भूमि सुहाई।
साँसनि सों भरि आयो गरो आँसुन सों अँखियाँ भरि आई॥"[७८]

यह वर्णन कलात्मक और सुन्दर है। *प्रकृति की उमड़न का रूप वियोगिनी* की स्मृति की उमड़न के आधार पर प्रस्तुत किया गया है।

उत्तेजक प्रकृति

ग—अलंकारवादी चमत्कार ने प्रकृति को नितान्त अस्वाभाविक स्थिति तक पहुँचाया है। और यह प्रवृत्ति सभी रूपों में समान रूप से क्रियाशील रही है। पिछले विभाग में वस्तु-रूप प्रेरक प्रकृति को देखा गया है। इस रूप में यह प्रवृत्ति प्रकृति को उत्तेजक रूप में प्रस्तुत करती है। इस रूप में कवियों

---

७६ कवि०; सेना० : पी० ८२०, पृ० २६

७७ [illegible]-ललाम : छं० २७

७८ [illegible]; देव

ने इसको वस्तु-रूप में प्रभाव डालने वाली स्वीकार किया है। वस्तुतः
प्रकृति भावों को प्रभावित कर सकती है पर इन कवियों ने
अत्युक्तियों के द्वारा इसका वर्णन किया है। दीनदयाल की वियोगिनी
को पावस जैसे स्वयं पीड़ित कर रहा हो—

"चाला चमक लगै लूक ह्वै अचूक हिये,
कोकिल कुहूकि वरजोर कोरवान की।
कूक मुरवान को करेजा टूक टूक करैं,
लागति है हूकि सुनि धुनि धुरवान की।"[७९]

इसी प्रकार श्रीपति की वियोगिनी के लिए प्रकृति का समस्त रूप
उत्तेजक है—

"आवते गाढ़ असाढ़ के वादर सो तन मे अति आग लगावते।
गावते चाह चढ़े पपिहा जनि मोसों अनंग सो वैर बधावते।
धावते वारि भरे वदरा कवि श्रीपति जू हियरा डरपावते।
पावते मोहि न जीवते प्रीतम जो नहिं पावस मे घर आवते।"[८०]

सेनापति की विरहिणी 'आसाढ़ के आते' ही ऐसी ही 'गाढ' मे पड़ गई
है[८१]; और विहारी की नायिका को उमड़ते वादलों का व्यापार इसी
प्रकार दाहक लगता है—

---

७९ ग्रंथ०; दीन० : ऋतुवर्णन, छं० २११

८० पावस-शतक; छं० १२

८१ कवि०; सेना० : तो० तरं०, छं० २१
"सुनि घन घोर मोर कूकि उठे चहुँ ओर,
दादुर वरत सोर मोर जामिनीन कौं।
काम धरे मद तरवारि तीर जम-दड,
आइत असाढ़ ऐसी गाढ़ विरहीन कौं।

धुरवा होंहि न अलि इहै, धुआँ धरनि चहुँ कोद।
जारत आवत जगत को, पावस प्रथम पयोद ॥''[८२]

य—प्रकृति को विभिन्न भावों के आधार पर उपस्थित किया गया है, उनमें रति के अन्तर्गत आशंका और अभिलाषा प्रमुख हैं। इसमें भी प्रकृति के उत्तेजक रूप की कल्पना ही निहित है। ऊपर श्रीपति के उदाहरण में आशंका की भावना थी। देव के इस प्रकृति-चित्र में अभिलाषा का आधार है—और इसमें प्रकृति से संबन्धात्मक निकटता की व्यंजना छिपी है—

आशंका और अभिलाषा

"आई रितु पावस न आये प्रान प्यारे यातें,
मेघन वरज आली गरजन लावैं ना।
दादुर हटकि वकि वकि कै न फोरैं कान,
पिक न फटकि मोहि कुहुकि सतावै ना।
बिरह विथा तें हौं तौ व्याकुल भई हौं देव,
जुगुन चमकि चित चिनगी उठावैं ना।
चातक न गावै मोर सोर न मचावैं घन,
घुमरि न छावैं जौलौं लाल घर आवैं ना।''[८३]

परन्तु इस रूप में भी प्रकृति का उत्तेजक चित्र उपस्थित हुआ है।

§ २०—इस सीमा तक प्रकृति का स्वतन्त्र स्थान चित्रण की दृष्टि से प्रमुख रहा है। इसके आगे के रूपों में प्रकृति का केवल उल्लेख है, और भावों की व्यंजना प्रमुख हो जाती है। रीति परम्परा के कवियों में केवल भाव-व्यंजनाओं को व्यक्त करने वाले चित्र कम हैं। इनके काव्य में जैसा

भावों की पृष्ठ-भूमि में प्रकृति

---

८२ सतसई; वि० : दो० ५८२, इसी प्रकार दो० ५१०—
"भो यह ऐसो ही समय, जहाँ सुखद दुख देत।
चैत चाँदनी चाँदनी, मग जग किए अचेत॥"

८३ पावस० : छं० १५

पहले उल्लेख किया है, भावों को अनुभावों अथवा अन्य स्थूल आधारों पर व्यक्त किया है। इसके अतिरिक्त पीड़ा-कष्ट तथा आनन्दोल्लास को अधिक उपस्थित किया गया है। और इस रूढ़िवादिता की चरम परिणति में ऋतु आदि वर्णनों के अवसर पर राजा और रईसों के ऐश्वर्य-विलास का वर्णन ही प्रमुख हो उठा है। यहाँ यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि भावात्मक व्यंजना सम्बन्धी भेदों की अधिक स्पष्ट रेखा इन तीनों प्रमुख रूपों में नहीं की जा सकती, जिनकी विवेचना की गई है।

क—संयोग और वियोग की स्थिति के अनुसार प्रकृति का उल्लेख मात्र करके विरह-व्यथा अथवा आनन्दोल्लास को प्रकट किया जाता रहा है। इस काल में इसको अधिक रूढ़िवादी रूप मिला है। प्रकृति के संकेत पर भाव-व्यंजना अधिकतर इन कवियों ने सामञ्जस्य के आधार पर की है, क्योंकि उसमें उक्ति निर्वाह के लिए अवसर रहता है। इस कवित्त में ग्रीष्म के आधार पर कवि पीड़ा का रूप उपस्थित करता है—

व्यथा और उल्लास

चलति उसास की झकोर चारि चहूँ ओर,
लहीं है समीर ज्वार मुभा कहैं लोग है।
शोचन की लहरें न ठहरें संकोचन ते,
रविकर होय नहीं श्याम है धुसोग है।"[८४]

इसी प्रकार सेनापति पौष मास के वर्णन में व्यथा का उल्लेख ही अधिक करते हैं—

"बरसै तुसार बहै सीतल समीर नीर,
कंपमान उर क्यौंहू धीर न धरत है।
राति न सिराति बिथा बीतत न बिरह की,
मदन अराति जोर जोबन करत है।"[८५]

---

८४ हज़ारा०; हफि० : गी०, छं० १८
८५ कवि०; सेना : ती० तरं० छं० ४८

देव वियोग में व्यथा के अनुभावों का वर्णन प्रकृति की पृष्ठ-भूमि में रखकर करते हैं—

"साँसनि ही सों समीर गयो अरु आँसुन ही सब नीर गयो ढरि।
तेज गयो गुन लै अपनों अरु भूमि गई तनु की तनुता करि।
देव जिये मिलिबे ही की आस कि आसहू पास अकास रह्यो भरि।
जादिन तें मुख फेरि हरै हँसि हेरि हियो जु लियो हरि जू हरि।।"[८६]

इस चित्र में केवल अनुभावों का रूप सामने आया है। बिहारी पावस की घटा के माध्यम से नायिका के हाव-भाव का वर्णन आलंकारिक चमत्कार के साथ करते हैं—

"छिनकु चलति ठठकति छिनकु, भुज-प्रीतम गर डारि।
चढ़ी अटा देखति घटा, बिज्जुछटा-सी नारि।।"[८७]

इसमें लुप्तोपमा के द्वारा कवि ने प्रकृति का रूप भी समान चित्र में व्यंजित कर दिया है।

ख—रीति-काल के कवियों ने ऋतु-वर्णनों को दो प्रकार से अधिक अपनाया है। पहले तो इन्होंने प्रकृति को उत्तापक और उत्तेजक रूप में उद्दीपन माना है, जिसका उल्लेख किया गया है। और दूसरे ऋतु के अवसर पर विलास तथा ऐश्वर्य्य संबन्धी क्रिया-कलापों की योजना की गई है। इससे प्रकृति का कुछ भी संबन्ध नहीं रह जाता। जैसा कहा गया है वैचित्र्य की प्रवृत्ति इन सब रूपों के आधार में क्रियाशील रही है। इसके कारण देव और सेनापति जैसे कवियों में भी यह प्रवृत्ति पाई जाती है। देव की नायिका वसंत के भय से विहार नहीं करने जाती—

विलास और ऐश्वर्य्य

---

८६ भ.वं०; देव : ३.
८७ शत०; बि० : दो० ५६९

"देव कहै बिनकन्त बसन्त न जाऊँ कहूँ घर बैठि रहौं री।
हूक दिये पिक कूक सुनै विष पुंज निकुंजनी गुंजत भौंरी ॥"[८८]
में फिर भी प्रकृति अपनी प्रभावशीलता के साथ उपस्थित है,
तु सेनापति ने विलास और ऐश्वर्य्य का अधिक वर्णन किया है।
में कहीं ग्रीष्म ऋतु में गरमी से बचने के उपायों का वर्णन है—

"सेनापति अतर गुलाब अरगजा साजि,
सार तार हार मोल लै लै धारियत हैं।
ग्रीषम के बासर बराइबे कौं सीरे सब,
राज-भोग काज साज यौं सम्हारियत हैं॥

कहीं ऐश्वर्य्यवानों के क्रिया-कलापों का उल्लेख किया जाता है—

"काम के प्रथम जाम, विहरैं उसीर धाम,
साहिब सहित बाम घाम बितवत हैं।
नैंक होत साँझ आइ बैठत सभा के माँझ,
भूपन बसन फेरि और पहिरत हैं।"

ऐश्वर्य्य का वर्णन ही कवि करता है—

"सुन्दर बिराजैं राज-मंदिर सरस ताके,
बीच सुख-देनी सैनी सीरक उसीर की।
उछरैं सलिल जल-जंत्र ह्वै विमल उठैं,
सीतल सुगंध मंद लहर समीर की।"[८९]

प्रकार अन्य ऋतुओं में भी विलास आदि का वर्णन चलता है।
ति के समान रीतिकालीन बाद के कवियों ने इस प्रकार के वर्णन
क किए हैं। पद्माकर तक के अन्य अनेक कवियों ने इन वर्णनों में
ा कौशल दिखाया है। पद्माकर भी इसी प्रकार वर्णन करते हैं—

---

८८ भाव०; देव : ३

८९ कवि०; सेनार : टी० तरं०, छ० १०, १४, १७ और इस
२०, ४३, ४४ भी हैं।

"अगर की धूप मृगमद को सुगन्ध घर,
बसन विशाल जाल अंग ढाँकियतु हैं।"[१०]

यहाँ अन्य कवियों के वर्णनों को प्रस्तुत करना व्यर्थ है, क्योंकि हमारे विषय से इस रूप का विशेष सबन्ध नहीं है।

§ २१—प्रकृति को उद्दीपन-विभाव में प्रयुक्त करने का एक माध्यम आरोप कहा गया है। यह आलंकारिक प्रयोग है जिसमें उपमा रूपक अथवा उत्प्रेक्षाओं आदि का आश्रय लिया जाता है। अन्य रूपों के समान आरोप के क्षेत्र में भी रीति परम्परा के कवियों की प्रवृत्ति स्थूलता तथा वैचित्र्य की ओर अधिक है। जिन आरोपों में साम्य भाव-गम्य होता है, उनमें उद्दीपन रूप सुन्दर है। देव प्रकृति पर नायिका का आरोप करते हैं—

आरोप

"झिल्लिनि सों झहनाइ को किंकिनी बोलें सुकी सुक सों सुखदैनी।
कोमल कुंज कपोत के पोत लों कूकि उठे पिकजी पिक बैनी।।"[११]

इसमें ध्वनि के आधार पर आरोप किया गया है, अगले चित्र में रूपात्मक योजना है—

"नील पट तनु पै घटान सी घुमड़ि घर्यों,
दन्त की चमक सों छटा सी बिचरति हैं।
हीरन की किरनैं लगाइ राखे जुगुनूसी,
कोकिला पपीहा पिकवानी सों ढरति हैं।"[१२]

कभी कवि पूरी परिस्थिति का रूपक प्रस्तुत करता है। दीनदयाल

---

१० [illegible] ; [illegible] : [illegible], [illegible] [illegible] १६, १५, १३, १८ ([illegible]), ११, १० ([illegible]) ; १०६ ([illegible]) ११ ([illegible]) ; ८ ([illegible])

११ भ० ग्रं० ; देव : ४

१२ [illegible] ; [illegible] : १५८, ६

स पर ऐसा ही आरोप करते हैं—

"पावस मैं नीर दै न छोड़ै छन दामिनी ह्,
कामिनि रसिक मनमोहन को कहाँ नज।
अचला पुरानी पुनकादली का आगी उग,
धाय रसवती सरि सिंधु संग के लजे।"[९३]

ी प्रकार का आरोप सेनापति शरद के पक्ष में वियोगिनि की स्थिति करते हैं—

"पी तें तुम्हार भयो भार पतझार रही,
दीनी सब डार सो वियोगी सरसाति है।
बोलत न पिक कोई मौन ह्वै रही है आस,
पास निरजास नंन नीर बरसात है।"[९४]

आरोपों के अतिरिक्त वसन्त का ऋतुराज के ऐश्वर्य्य में रूपक। बादलों का मत्त हाथी का रूपक आदि परम्परा में ही आरोपों प्रयोग इन कवियों ने किया है। इन आरोपों में भी वही उद्दात्त भाव है। सेनापति ऋतुराज का रूपक इस प्रकार आरम्भ करते

-

"बरन बरन तरु फूले उपवन बन,
सोई चतुरंग संग दल लहियत है।"[९५]

र कोई नवीनता प्रकृति के प्रयोग का लेकर नहीं है दीनदयाल इसी प्रकार कहते हैं—

"ललित लता के नव पल्लव पताक सजें,
बजें कोकिलान के सु कलगान के निशान।"[९६]

९३ सेना०; ग्रन्था० ऋतुवर्णन, पृ० २१२
९४ वहीं; सेन० २ रो तरंग, पृ० ५६
९५ वहीं; वहीं : वहीं, पृ० १
९६ दीन० दीन० : ऋतु० मि

इन समस्त वर्णनों में ऐसी रूढ़िवादिता है कि प्रत्येक कवि लगभग समान चित्र उपस्थित करता है। भेद उनके प्रस्तुत करने के उक्ति-वैचित्र्य को लेकर है, इस कारण इस विषय में केवल प्रवृत्ति का संकेत कर देना पर्याप्त है।

नवम प्रकरण

उपमानों की योजना में प्रकृति

§ १—प्रथम भाग के अन्तिम प्रकरण में भाषा की व्यंजना-शक्ति
ं प्रकृति उपमानों के प्रयोग पर संक्षेप में विचार किया है। यहाँ
व्यंजना का अर्थ ध्वनि से संबन्धित न मानकर
व्यापक अर्थ में लेना उचित है। पिछली विवेचना में
शब्द के ध्वनि चित्र और रूप चित्र आदि पर विचार
या गया है। और साथ ही यह भी संकेत किया गया है कि प्रकृति का
मस्त रूपात्मक सौन्दर्य मानवीय भाव-स्थितियों से संबन्धित है।
ही कारण है कि काव्य के प्रस्तुत विषय को बोध-गम्य तथा भाव-गम्य
राने के लिए कवि जब अपनी भाषा में अप्रस्तुत का आश्रय लेता है
ो उसे प्रकृति के अपार विस्तार की ओर जाना पड़ता है। इस
प्रस्तुत की योजना के माध्यम से जब कवि प्रस्तुत का वर्णन करता
तो वह आलंकारिक शैली कही जाती है। इस सीमा पर अलङ्कार-

उपमान या
अप्रस्तुत

ङ—प्रकृति के संबन्ध में कवि की विशेष दृष्टि का उल्लेख भी किया गया है। इसी शक्ति से कवि प्रकृति सौन्दर्य की वस्तु स्थितियों, [illegible] क्रिया स्थितियों तथा भाव स्थितियों से परिचित है और अपने काव्य में इनका संवेग-सादृश्य के आधार पर प्रयुक्त भी करता है। जब प्रकृति अप्रस्तुत है उस समय प्रस्तुत वर्ण्य मानव की परिस्थिति तथा भावस्थिति होगी। कवि अपनी कल्पना से इस सादृश्य पर प्रकृति उपमानों को प्रस्तुत करता है। लेकिन इस अभिव्यक्ति के व्यापार में कवि की कल्पना प्रधान है, इसलिए उपमानों का यह प्रदर्शन एक योजना के रूप में ही आता है। इस काल्पनिक अथवा कलात्मक योजना का अर्थ है प्रकृति-उपमानों को व्यंजक और प्रभावशील स्थिति में प्रस्तुत करना। परन्तु कवि उन उपमानों की योजना में आगे बढ़ता है, स्वतःसम्भावी आधार को अतिक्रमण कर अपनी प्रौढ़ोक्ति का आश्रय लेता है। परन्तु इस सीमा पर भी आलंकारिक प्रयोगों में उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, व्यतिरेक आदि में उपमानों की योजना सुन्दर और भाव व्यंजक हो सकती है। लेकिन जब कवि का वर्ण्य विषय वैचित्र्य ही होगा, उसके लिए अलंकार ही प्रधान हो उठेगा तो उपमानों में कवि कल्पना का सादृश्य धर्म उपस्थित नहीं हो सकेगा। वस्तुतः प्रकृति उपमानों की योजना का आदर्श सादृश्य है, इसी सीमा तक कवि को अपनी अभिव्यक्ति में प्रकृति का साम्य और संयोग सौन्दर्य प्रदान करता है। जब कवि इन उपमानों को प्रकृति के वास्तविक सौन्दर्य से अलग करके अपनी विचित्र कल्पना में, साम्य-कारण सरलता, हेतुओं और सम्बन्धों की योजना में प्रस्तुत करता है, उस समय उपमानों का सादृश्य भावना त्रुटित हो जाती है। ऐसे प्रयोगों में उपमान का वाचक शब्द केवल वस्तु का संकेत करता है, किसी प्रकार बिंब नहीं प्रस्तुत करता। प्रकृति से अलग किए उपमान अपनी किसी भी योजना में काव्य के उत्कर्ष का कारण नहीं हो सकते।

उपमान और रूपात्मक रूढ़िवाद

§ २—प्रकृति से गृहीत उपमानों के मूल में निश्चय ही सादृश्य की भावना रही है। इन उपमानों का इतिहास मानव और प्रकृति के संबन्धों का इतिहास है। परन्तु जिस प्रकार काव्य में अन्य परम्पराएँ प्रमुख कवि के अनुसरण करने वाले कवियों में चलती रहती हैं, वही स्थिति इनके विषय में भी है। इस परम्परा के प्रवाह में प्रकृति के उपमान अपनी प्रस्तुत स्थिति के आधार से हटकर केवल अप्रस्तुत होते गये हैं। इस रूढ़िवाद में उपमानों की सादृश्य भावना भी कम होती गई, क्योंकि उपमानों का प्रकृति से सीधा सम्बन्ध न रहकर रूढ़ि और परम्परा से हो गया। इनके साथ ही अलंकारों के वैचित्र्य कल्पना संबन्धी विकास में ये उपमान अपने मूल स्थान से और भी दूर पड़ते गए। परिणाम स्वरूप उपमानों की योजना रूपात्मक और भावात्मक सौन्दर्य उपस्थित करने के स्थान पर एक रूपात्मक रूढ़ि (formal) का प्रयोग रह गई जिससे अधिक अंशों में ऊहा और वैचित्र्य की प्रवृत्ति को तोष मिलता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि बाद के सभी कवि इन उपमानों का प्रयोग इसी परम्परा के अनुसार करते हैं। प्रकृति में स्थित सौन्दर्य रूपों का प्रसार तो सदा ही रहता है और कवि इन रूपों तथा स्थितियों के आधार पर नवीन कल्पनाएँ कर सकता है और करता भी है। परन्तु नवीन उपमानों की कल्पना अधिकतर प्रतिभा सम्पन्न कवियों ने भी नहीं की है; इसका भारतीय साहित्य में एक कारण रहा है। उपमानों की योजना के लिए तीन प्रमुख बातों की आवश्यकता है: कवि की अपनी प्रकृति संबन्धी कल्पना, युग विशेष की प्रकृति के सम्बन्ध की सीमा और पाठक की प्रकृति से संबन्धित मनःस्थिति। इन तीनों का उपमानों के प्रसंग के विषय में महत्त्व है। वस्तुतः इसी आधार पर भारतीय आचार्यों ने प्रसिद्ध उपमानों को ही स्वीकार किया है। और यही कारण है संस्कृत के विशाल साहित्य

सूर तथा तुलसी जैसे प्रतिभावान् कवियों ने अपनी स्वानुभूति से उपमानों को प्रस्तुत किया है। लेकिन इनके काव्य में साहित्यिक परम्पराओं का भी रूप बहुत अधिक है। इस कारण समस्त काव्य में एक विरोधात्मक विभिन्नता पाई जाती है। एक कवि के काव्य में ही कहीं सुन्दर स्वाभाविक प्रयोग है तो कहीं केवल रूढ़ि पालन। परन्तु इनकी परिस्थिति को समझ लेने से यह प्रश्न सरल हो जाता है। इन परम्पराओं के अतिरिक्त उपमानों के प्रयोग के विषय में एक *तीसरी परम्परा रीति संबंधी* है। इस परम्परा में रूढ़ि का रूप अधिक प्रमुख है, साथ ही इसमें प्रकृति उपमानों को त्यागने की प्रवृत्ति भी बढ़ती गई है। संस्कृत काव्य के उपमानों संबन्धी रूढ़िवाद को प्रमुखतः केशव और पृथ्वीराज ने अपनाया है। अन्य रीति काव्य के कवियों में एक परम्परा रसवादियों की है जिसने *अधिकतर मानवीय भावों*, अनुभावों और हावों में अपने को उलझाए रखा है। इनके लिए प्रकृति के उपमानों का प्रयोग अधिक महत्त्व नहीं रखता है, कारण यह है कि इन भावों के विषय में भी इनकी प्रवृत्ति स्वाभाविकता से अधिक चमत्कार की रही है। भावों की व्यंजना के स्थान पर इन कवियों में अनुभावों तथा हावों का अधिक आकर्षण है, इसलिए *भाव-व्यंजना के लिए प्रकृति का प्रयोग यत्र-तत्र* ही हुआ है। दूसरी परम्परा अलंकारवादियों की है और इनमें जैसा कहा गया है प्रमुख प्रवृत्ति उक्ति-वैचित्र्य की है। इसके कारण प्रकृति उपमानों का प्रयोग इन कवियों में अपनी सादृश्य-भावना से दूर पड़ गया है।

§४—*वस्तुतः अप्रस्तुत के रूप में उपमानों का विषय* अलंकार का है। मध्ययुग के काव्य के व्यापक विस्तार में इस विषय में अपने आप में पूर्ण काव्य का क्षेत्र है। संस्कृत काव्य के प्रयोगों से इसका तुलनात्मक अध्ययन तथा आलंकारिक प्रवृत्ति के विकास में इसका रूप प्रस्तुत करने के लिए अधिक खोज की आवश्यकता है। *प्रस्तुत कार्य की सीमाओं* में इस प्रकार की

विवेचन की सीमा

विवेचना के लिए न तो स्थान है और न वह आवश्यक ही है। इस तरह यहाँ उपमानों के विचार से विभाजित काव्यों के प्रकृति उपमानों की योजना का रूप प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। इस वर्गीकरण में इस बात का ध्यान रखा गया है कि काव्यगत उपमानों की विशेष प्रवृत्तियों का रूप स्पष्ट हो सके। साथ ही इस विवेचना के आधार पर उपमानों के प्रयोग की दृष्टि से विभिन्न काव्य परम्पराओं का भेद भी स्पष्ट हो सकेगा।

स्वच्छंद उद्भावना

§ ५.—जिन काव्यों में उपमानों के प्रयोग की दृष्टि से उन्मुक्त वातावरण मिला है, उनमें लोक कथा गीति, प्रेम कथा-काव्य और संतों का काव्य आता है। लोक कथा गीति 'ढोला मारू' में वातावरण साहित्यिक आदर्शों से अधिक स्वच्छंद प्रवृत्ति ... है इस कारण इनमें उपमानों के अधिक नवीन प्रयोग हुए हैं। कथा-काव्यों में यहाँ जायसी के 'पद्मावत' को ही ले रहे हैं। ... ही इस परम्परा के प्रमुख कवि हैं, इस कारण इनके माध्यम ... सकी प्रवृत्ति का अध्ययन प्रस्तुत किया जा सकता है। ... ी का कथानक स्वच्छंद रहा है, परन्तु उन्होंने अनेक ... रिक आदेश तथा रूढ़ियों का स्वीकार किया है। प्रकृति उपमानों की योजना के विषय में भी यह सत्य है। जायसी ने उपमानों की उद्भावना मौलिक स्वच्छंद प्रवृत्ति से की है, ... के प्रयोगों का बड़ा भाग परम्परा से ग्रहीत है। इन प्रसिद्ध ... ों की योजना में कवि ने अधिक सीमा तक अपने अनुभव ... लिया है। लेकिन 'पद्मावत' में अनेक रूढ़िवादी प्रयोग ... ों ने प्रेम तथा सखी का उल्लेख करने के लिए प्रकृति ... करण तथा रूपक प्रस्तुत किए हैं। इन प्रयोगों में अनुभव कुछ स्थलों पर मौलिकता जान पड़ती है।

काव्यों के उपमानों की विशेष प्रवृत्ति भावात्मक व्यञ्जना और

सत्यों के दृष्टान्तों को प्रस्तुत करने की है। इनमें रूपात्मक चित्रमयता को स्थान नहीं मिल सका। संतों के विषय में रूप का कोई प्रसंग नहीं उठ सकता। प्रेमी कवियों की सौन्दर्य कल्पना में इसी बात की ओर संकेत किया गया है। इनमें रूपात्मक उपमानों का प्रयोग अधिकतर परम्परा प्रहीन है और उनके माध्यम से भावात्मक व्यंजनाएँ प्रस्तुत की गई हैं। *'ढोला मारूरा दूहा'* के उपमानों के विषय में भी यही बात लागू है। इसमें उपमानों का प्रयोग रूपात्मक वस्तु, *स्थिति अथवा परिस्थिति के लिए नहीं हुआ है।* इस व्यापक प्रवृत्ति का एक कारण है। इन काव्यों के उन्मुक्त वातावरण में भावात्मक अभिव्यक्ति के अवसर अधिक हैं। लोक-गीति की अभिव्यक्ति में कहा गया है, वस्तु तथा स्थितियों का आधार सूक्ष्म रहता है। इसलिए इनमें किसी वस्तु स्थिति को प्रत्यक्ष करने की आवश्यकता कम पड़ती है। इनमें नायक तथा नायिका एक दूसरे के सामने इतने व्यस्त रहते हैं कि उनके रूप की स्थापना करने *की आवश्यकता भी लोक गीतिकार को नहीं होती। संतों का आराध्य अव्यक्त है, उनका संबन्ध भावात्मक है, उनके लिए वस्तु-स्थिति की सीमाएँ अमान्य हैं, फिर उनको भी उपमानों की रूपात्मक योजना* की आवश्यकता नहीं हुई। प्रेम कथाकार की रूप कल्पना के विषय में आध्यात्मिक साधना के प्रसंग में विस्तार से कहा गया है और वस्तु-स्थिति उत्पन्न करने के स्थलों पर भावात्मक व्यंजना प्रस्तुत करने की उनकी प्रवृत्ति आध्यात्मिकता के साथ ही लोक-भावना के अनुरूप है। इन्हीं कारणों से इन काव्यों के उपमानों की स्वच्छंद उद्भावना में भावात्मक व्यंजना ही अधिक हुई है।

§१—इस कथागीति में, जैसा कहा गया है, रूपात्मक प्रवृत्ति उपमानों का अभाव है। *यदि एक दो स्थानों पर इस प्रकार के प्रयोग*

ढोला मारूरा दूहा

किए गए हैं तो वे भी भावात्मक व्यंजना से संबन्धित हैं। विरहिणी की वेणी को यदि नागिन

कहा गया है तो प्रिय को स्वाति जल मान कर भावात्मक सबन्ध की कल्पना करली गई है।[1] प्रेयसी के लिए मुरझाई कमलिनी और कुमुदिनी के रूपक देकर कवि रूप से अधिक भाव को व्यक्त करता है और सूर्य-चन्द्र से उनका संबन्ध स्थापित करने में यही भाव है। एक स्थल पर नायिका की गर्दन की उपमा कुंभ के बच्चे की लंबी गरदन से दी गई है, परन्तु इसमें प्रतीक्षा का कारण सन्निहित किया गया है।[2] रूप-वर्णन के प्रसग में परम्परागत उपमानों का उल्लेख मात्र कर दिया गया है उसमें किसी प्रकार की चित्रात्मक व्यंजना नहीं है।[3] स्वच्छन्द प्रवृत्ति के कारण इस काव्य में उपमानों की योजना सरल अलंकारों तक ही सीमित है। रूपक तथा उपमा का प्रयोग अधिक हुआ है, एक दो स्थलों पर उत्प्रेक्षा का प्रयोग मिलता है। इनके अतिरिक्त प्रेम आदि को व्यक्त करने के लिए प्रकृति से दृष्टान्त चुने गए हैं जो कभी कभी प्रति-वस्तूपमा तथा अर्थान्तरन्यास में प्रस्तुत हुए हैं।

क—यहाँ मौलिक से यह अर्थ नहीं लिया जा सकता है कि ऐसी कल्पना अन्यत्र नहीं मिलती है, क्योंकि जब तक समस्त काव्य सामने उपस्थित न हो ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसका अर्थ यह है कि साहित्यिक परम्परा में उनका प्रयोग प्रचलित नहीं रहा है, साथ ही वे लोक-गीति के वातावरण के उपयुक्त हैं। इनमें से कुछ का प्रयोग भावों के शारीरिक अनुभावों तथा अन्य आधारों का व्यक्त करने के लिए हुआ है। इस चित्र में मोर और कलेवों से यौवन के विकास का रूप दिया गया है—

मौलिक उपमानों की कल्पना

---

१ ढला० दो० १२५

२ वही : दो० १२९, १३०, २०४

३ इन उपमानों की सूची इस प्रकार है—खंजन; मूँगा; हरि; f

"दाढ़ी, एक सँदेसड़उ ढोलइ लगि लइ जाइ।
जोवन-चाँपउ मउरियउ कली न चुटइ आइ॥"[४]

दूसरे स्थान पर कुंभों के शब्द में विरहिणी के नयनों में आँ
सरोवर लहरा जाता है। इसमें सरोवर के माध्यम से उमड़ते
के साथ उच्छ्वसित हृदय का भाव भी है।[५] परन्तु इस
में भावों को व्यक्त करने के लिए प्रकृति के अप्रस्तुत रूपों का अ
प्रयोग हुआ है। राजस्थानी गायक ने कुरर पक्षी का विशेष
लिया है; उसके माध्यम से वह प्रेम और स्मरण को व्यंजित क
है—कुंभ चुगती है और फिर अपने बच्चों की याद करती है,
। ग कर फिर याद करती है। इस प्रकार कुंभ अपने बच्चों को छो
कर दूर रहते हुए उनको पालती है।' अगले चित्र में लुप्तोपमा
भाव व्यंजना की गई है—

'ढोला वलाभ्यउ हे सखी झीणी ऊडइ खेह;
हियड़उ बादल छाइयउ नयण टबूकद मेह।"

इसमें वेदना का बादल है और अश्रु मेह हैं। एक स्थान पर प्रकृति
संबन्धी क्रियाओं का आरोप भाव के साथ हुआ है—'जो मनोरथ

चरै : गति; हाथी, हंस : जंघ; करजा : दंत; हीरा, दाड़िम : नासिका;
कीर : नेत्र; खंजन; कबूतर के समान लालिमा (डोरे) : भृकुटे; भ्रमर, बंक चन्द्र
मस्तक; चन्द्रमा : मुख; चन्द्र, सूर्य (कान्ति) : रंग; कुंकुम, कुंभ के बच्चे का :
वाणी; वीणा ध्वनि, कोकिल, द्राक्षा (मधुर बोल) : हस्त; कमल : पूर्ण आकार
विलुब्ध सिंह : सरोवर में हंस; भौर कुम्हलाने का (भाव),केले का गूदा (कोमलता)

४ दो० १२० [हे दाढ़ी, एक सँदेसा ढोला तक ले जाओ—यौवन-रूपी
चंपा मौर-युक्त हो गया है। तुम आकर कलियाँ क्यों नहीं चुनते]

५ वही : दो० ५४, और ...

सूखे थे वे पल्लवित होकर फल गए।'[६] इसी प्रकार दृष्टान्त आदि के माध्यम से प्रकृति भाव-स्थितियों का संकेत देता है—'फूलों में फलों के लगने पर और मेहों के पृथ्वी पर पड़ने पर प्रतीति होती है, उसी प्रकार हे परदेशी, तुम्हारे मिलन पर ही मैं पतियाऊँगी।' इसमें मिलन-प्रतीति के द्वारा विकलता की व्यंजना है। इसी प्रकार प्रेम-निर्वाह का दृष्टान्त है—'जिस प्रकार मेंढ़क और सरोवर, एवं पृथ्वी तथा मेघ स्नेह निभाते हैं, उसी प्रकार हे प्यारे, चपकवर्णी प्रेयसी के साथ स्नेह निभाइए।'[७]

ख—'ढोला मारुरा दूहा' में परम्परा से प्रसिद्ध उपमानों का प्रयोग भी स्वच्छंद भावना के साथ किया गया है, इसी कारण उनमें रूढ़ि के स्थान पर स्वाभाविकता अधिक है। कवि प्रसिद्धि के अनुसार चातक का प्रेम प्रख्यात है, पर कवि उत्प्रेक्षा देता है कि 'मारवणी ही मरकर चातक हो गई है और 'पिउ पिउ' पुकारती है।' एक स्थान पर मछली की अप्रस्तुत भावना कवि व्यक्त करता है—'ढाढियों ने रात्रि भर गाया और सुजान साल्ह कुमार ने सुना—छिछले पानी में तड़पती हुई मछली की तरह तड़पते हुए उसने प्रभात किया।' एक स्थल पर एकान्त प्रेम को प्रस्तुत किया गया है—'कुमुदिनी पानी में रहती है और चन्द्रमा आकाश में, परन्तु फिर भी जो जिसके मन में बसता है वह उसके पास रहता है।'[८]

परम्परा का सुन्दर उद्भावना

§७—प्रेम कथा-काव्य में जैसा कहा गया है उपमानों के स्वतंत्र तथा रूढ़िवादी दोनों रूप मिलते हैं। रूप-वर्णन के विषय में प्रयुक्त

---

६ : वही : दो० २०२, २६०, ५३३
७ वही : दो० १७२, १६८
८ वही : दो० ३७, ११२, २०३

उपमानों की योजना का विस्तार आध्यात्मिक प्रसंग में किया गया है और उनकी प्रभावशीलता का भी उल्लेख हुआ है। इन काव्यों में भावव्यंजना के लिए उपमानों का अधिक प्रयोग हुआ है, या सत्य कथन के लिए दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास आदि के रूप में। पहले प्रयोग में प्रकृति रूपों और स्थितियों में सन्निहित मानवीय भावों के समानान्तर भाव-व्यंजना का आश्रय लिया गया है और दूसरे में कार्य कारण तथा परिणाम आदि का आधार है। जायसी प्रेम समुद्र का रूपक प्रस्तुत करते हैं—

भाव-व्यंजक उपमान

"पुनि सो प्रेम-समुद्र अपारा। लहरहिं लहर होइ विसँभारा।
बिरह भौंर होइ भाँवरि देई। खिन खिन जीउ हिलोरा लेई।"[१]

इसमें समुद्र, लहर, भँवर आदि की अप्रस्तुत-योजना से भावाभिव्यक्ति हुई है, इसमें रूपात्मक सादृश्य का कोई आधार नहीं है। अन्यत्र एक योजना व्यापक होने के कारण आध्यात्मिक प्रेम को प्रस्तुत करती है, परन्तु नेत्रों का कौड़िल्ला नामक पक्षी का रूपक मौलिक तथा स्वाभाविक है—

"सरग सीस धर धरती, हिया सो प्रेम समुंद।
नैन कौड़िया होइ रहे, लेइ लेइ उठहिं सो बुंद॥"[२]

इसमें भावों की व्यंजना के लिए व्यंग्यार्थ का आश्रय लेना पड़ता है। नेत्र जो प्रेम के आलंबन से सौन्दर्य का रूप ग्रहण करते हैं वहाँ वे उसे हृदय के प्रेम में पाते हैं। नागमती-वियोग प्रसंग में वियोग और प्रेम को व्यक्त करने के लिए कवि ने सहज जीवन से सर्वविध उपमानों को लिया है—

---

१ [illegible], ११ प्रेम-खंड, दो० १
२ [illegible] [illegible]
[illegible]

"सरवर-हिया घटत निति जाई । टूक टूक होइ कै बिहराई ।
बिहरत हिया करहु पिउ टेका । डीठि-दवगरा मेरवहु एका ।
कँवल जो बिगसा मानसर, बिनु जल गएउ सुखाइ ।
अबहुँ बेलि फिरि पलुहै, जौ पिउ सींचै आइ ॥"[११]

इस रूपकात्मक योजना में सरोवर का घटना, उसका 'बिहराना', दँवगरा (प्रथम वर्षा) तथा पलुहाना (नवांकुरित होना) आदि प्रकृति की क्रिया से संबन्धित उपमान हैं। इन स्वतंत्र उपमानों की योजना से कवि ने प्रेम, विरह, व्यथा तथा मिलनाकांक्षा की व्यंजना एक साथ की है। एक स्थल पर जायसी यौवन के आन्दोलन को समुद्र के माध्यम से व्यक्त करते हैं—

"तोर जोबन जस समुद हिलोरा। देखि देखि जिउ बूड़ै मोरा।"
इसमें विभावना के द्वारा अत्यंत आतुरता की बात कही गई है। अन्य अनेक उत्प्रेक्षाओं का उल्लेख रूप-वर्णन के अन्तर्गत हुआ है जिनसे अनंत सौन्दर्य तथा प्रेम आदि व्यक्त किया गया है। यहाँ तो केवल इस बात को दिखाने का प्रयास किया गया है कि जायसी ने उपमानों की स्वतंत्र उद्भावना की है और इनमें उपमानों के क्षेत्र में उन्मुक्त वातावरण मिलता है।

क—जायसी ने प्रेम तथा अन्य सत्यों के लिए प्रकृति से दृष्टान्त आदि प्रस्तुत किए हैं। इन प्रयोगों में रूप अथवा भाव का आधार तो नहीं रहता परन्तु प्रकृति की विभिन्न स्थितियों के संबन्ध की कल्पना होती है। इस कारण इनको

दृष्टान्त आदि

भी उपमानों के अन्तर्गत स्वीकार किया जा सकता है। इस क्षेत्र में जायसी में स्वतंत्र प्रवृत्ति मिलती है, यद्यपि परम्परा और साधना का प्रभाव इन कवियों पर पूर्णतः है। जायसी परम्परा प्रसिद्ध मीन और जल के प्रेम का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

---

११ वही, वही; वही, ३० नागमती-वियोग-खंड, दो० १४

"बसै मीन जल धरती, अंबा बसै अकास।
जौं पिरीत पै दुवौ महँ, अंत होहिं एक पास॥"[१२]

एकान्त प्रेम को कमल और सरोवर के द्वारा प्रस्तुत करते हैं—

"सुभर सरोवर हंस चल, घटतहि गए बिछोह।
कँवल न प्रीतम परिहरै, सूखि पंक वरु होय॥"[१३]

इस प्रकार अन्य रूपों का उल्लेख साधना के प्रसंग में किया गया है। जायसी तथा इस परम्परा के अन्य अनेक कवियों ने रूढ़िवादी रूपों का प्रयोग अधिक किया है, वरन इन पर फ़ारसी ऊहात्मक वैचित्र्य कल्पनाओं का प्रभाव रहा है। इसका प्रभाव इन कवियों पर इनकी स्वतंत्र प्रवृत्ति के कारण अधिक नहीं पड़ सका, परन्तु रीतिकालीन कवियों ने इसे अधिक ग्रहण किया है।

संतों के प्रेम तथा सत्य संबन्धी उपमान

§ ८—संत साधकों पर किसी प्रकार का साहित्यिक प्रभाव नहीं था, और न इन्होंने अपनी अभिव्यक्ति में किसी सीमा का प्रतिबन्ध स्वीकार किया है। फिर भी प्रचलित अनेक उपमानों को रूपकों, दृष्टान्तों और उपमाओं में इन्होंने ग्रहण किया है। इन सब का प्रयोग इन्होंने किसी परम्परा की रूढ़ि के रूप में न करके स्वतंत्र किया है। साधना संबन्धी विवेचना में इनका संकेत किया गया है। साथ ही इन सभी संतों ने लगभग एक प्रकार के उपमानों को लिया है। इस कारण यहाँ गिना देना ही पर्याप्त है। संतों ने प्रेम के लिए बादल, बेल, कुंभ पक्षी, पपीहा, मीन, सरिता, कमल, भ्रमर, सूर्य, चन्द्र, कुमुदिनी, कस्तूरी मृग, सागर, चातक, लहर, हंस आदि के विभिन्न प्रयोग किए हैं। सत्यों को प्रस्तुत करने के लिए कोयल, तारा-सूर्य, तरुवर-छाया, खजूर, हाथी, कौआ, बगुला हीरा, पतंग

१२ वही; वही : वही १९ पद्मावती-सुआ-भेंट खंड, दो० ८

१३ वही; वही : वही, ३५ बिसौर-अगमन-खंड दो०,०१०

ादि का उपयोग किया गया है। यह कोई विभाजन की रखा नहीं है, वल प्रमुख रूप से प्रयोग की बात है।

कलात्मक योजना

§६—वैष्णव भक्त कवियों की उपमान-योजना संबन्धी प्रवृत्ति का ल्लेख किया गया है। इन कवियों में कवित्व प्रतिभा के साथ प्रकृति न्दर्य-स्थितियों का निरीक्षण भी था। इन्होंने प्रकृति उपमानों की नेक नवीन योजनाएँ प्रस्तुत की हैं, इससे इनकी कलात्मक प्रवृत्ति पता चलता है। इन कवियों में प्रमुख विद्यापति, सूरदास तथा सीदास माने जा सकते हैं क्यों बाद के कवियों में विशेष प्रतिभा ों है। साहित्यिक आदर्श इनके सामने हैं, परन्तु इन्होंने मानों की योजना अपनी प्रतिभा तथा अनुभूति के माध्यम से त की है। परम्परा तथा रूढ़ि का रूप भी इनमें अधिक परन्तु इनकी प्रमुख प्रवृत्ति आदर्श कलात्मक योजना ी जा सकती है। रूप वर्णन के संबन्ध में इन कवियों की उपमान नाओं पर विचार किया गया था। उसमें उत्प्रेक्षा के माध्यम से :रूप तथा क्रीड़ात्मक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति पर विचार हुआ यहाँ इन तीनों कवियों के कुछ उदाहरण अन्य स्थलों से प्रस्तुत ा उचित होगा।

क—विद्यापति के सौन्दर्य तथा यौवन चित्रण के विषय में ानों का संकेत किया गया है। एक सौन्दर्य स्थिति कवि इस

विद्यापति

प्रकार व्यक्त करता है—'हथेली पर रखा हुआ मुख ऐसा लगता है जैसे अपने किशलय से कमल मिला है।' यह रूपात्मक स्थिति सौन्दर्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। त यौवन सौन्दर्य को कवि इस प्रकार प्रस्तुत करता है—'अक ती हुई राधा का जब कृष्ण आलिंगन करते हैं तो लगता है नवीन कमल पवन से आकुल होकर भ्रमर के पास हो।'

इस उत्प्रेक्षा में भी एक स्थिति का क्रीड़ात्मक चित्र प्रस्तुत है। व्यापार-स्थिति का इसी प्रकार दूसरा चित्र है—'नायिका नायक के पास नहीं-नहीं करती काँप उठती है, जिस प्रकार जल में भ्रमर के झकझोरने से कमल हिल जाता है।' कवि सौन्दर्यमय 'शरीर की झलक को बिजली तरंग का रूप देता है।'[14] कवि भावात्मक व्यंजना के लिए भी उपमानों का आश्रय लेता है।—'उसके शरीर को देख कर मन कमल-पत्र हो गया, इसमें रूप सौन्दर्य से भावात्मक व्यंजना की गई है। कंप अनुभाव को प्रस्तुत करने के लिए कवि कहता है—'रस प्रसंग में वह काँप काँप उठती है, मानों बाण से हरिणी काँप उठी हो।' प्रकृति उपमानों की सौन्दर्य योजना से प्रेम-व्यंजना करना इस प्रकार के काव्य का चरम है। हम देख चुके हैं कि इस क्षेत्र में प्रेम कथा काव्य का नाम लिया जाता है· वैसे मध्ययुग की यह प्रवृत्ति नहीं है। विद्यापति भी एक स्थल पर कहते हैं—मन में कितने-कितने मनोरथ उठते हैं, मानों सिंधु में हिलोर उठती हो।'[15] विद्यापति दृष्टान्त स्वाभाविक ही देते हैं—'जिस प्रकार तेल का बिन्दु पानी पर फैलता जाता है उसी प्रकार तुम्हारा प्रेम है।' आगे फिर प्रेम विकास की बात कही गई है। 'यह प्रेम तरु बढ़ गया है इसका कारण कुछ भी नहीं है; शाखा पल्लव आदि होने पर कुसुम होते हैं और उसकी सुगन्ध दशों दिशाओं में फैल जाती है।'[16]

ख—सूर की सौन्दर्योपासना में अनेक प्रकृति-उपमानों के प्रयोगों के विषय में विचार किया गया है। इस कारण विस्तार में जाना व्यर्थ है। इनकी प्रवृत्ति स्पष्ट है। एक स्थिति को कवि इस प्रकार प्रत्यक्ष करता है—

सूरद स

१४ पदा०; विद्या० : पद ६१२, २०९, १४८, ५१

१५ वही : वही पद ६१, १६५ २५७

१६ वही; वही : पद ७०४, ४३९

मीन वियोग न सहि सकै नीर न पूछै बात।
सुभर सनेह कुरंग को श्रवनन राख्यो राग॥
धरि न सकत पग पछुमनो सर सनमुख उर लाग।"[३०]

इसमें भ्रमर कमल चातक-स्वाति, सरोवर-कमल, मीन जल तथा कुरंग राग को प्रेम के उदाहरण में प्रस्तुत किया गया है। ये अप्रस्तुत प्रसिद्ध हैं पर सूर ने इनको मानवीय जीवन के आरोप के साथ अधिक व्यंजक बना दिया है।

ग—रूप सौन्दर्य संबन्धी उपमानों की विवेचना साधना के अन्तर्गत हुई है। सूर के समान उत्प्रेक्षाओं का आश्रय तुलसी ने भी लिया था। प्रौढ़ोक्ति का प्रयोग तुलसी ने अधिक किया है। साथ ही उपमानों की योजना में तुलसी और सूर में एक भेद है। सूर ने गम्योत्प्रेक्षा का प्रयोग अधिक किया है और तुलसी ने वस्तु तथा फल संबन्धी उत्प्रेक्षाएँ अधिक की हैं। वैसे दोनों में सभी प्रकार मिल जाते हैं। इसके अतिरिक्त तुलसी की उपमान योजना को हम कलात्मक स्वीकार कर सकते हैं। उन्होंने उपमानों को परम्परा से ग्रहण करके भी अपने अनुभव के आधार पर प्रयुक्त किया है। यह प्रकृति की बात है। सांग रूपक बांधने में तुलसी सर्वश्रेष्ठ हैं प्रकृति से संबन्धित रूपकों में रामकथा और मानस, राम भक्ति तथा सुर सरिता के रूपक विस्तृत हैं। इसी प्रकार आश्रम तथा शान्तरस के सागर का रूपक चित्रकूट के प्रसङ्ग में है—

तुलसी दास

आश्रम सागर शांत रस पूरन पावन पाथु।
सैन मनहुँ करुना सरित लिए जाहि रघुनाथ।"[३१]

इसके आगे भी रूपक चलता है। इन रूपकों का निर्वाह सुन्दर है लेकिन भाव, रूप तथा सम्बन्ध आदि का एक साथ ग्रहण किया गया

३०. [illegible], पद ३०६
३१. [illegible], दो० २७५

ाही परिस्थिति के अनुरूप कल्पना सुन्दर करते हैं—

"लता.भवन तें प्रगट भे तेहि अवसर दोउ भाइ।
निकसे जनु जुग बिमल बिधु जलद पटल बिलगाइ॥"[२२]

त्प्रेक्षा के अतिरिक्त एक और भी परिस्थिति के अनुरूप

"उदित उदयगिरि मंच पर रघुबर बाल पतंग।
बिकसे संत सरोज जनु हरषे लोचन भृंग॥"[२३]

गतियों के समान परिस्थितिगत भाव स्थितियों को उपमान-
से तुलसी सफलता पूर्वक व्यक्त करते हैं। आह्लाद का भाव
व्यक्तियों में दिखाने के लिए तुलसी इस प्रकार कहते हैं—
सुखहि चरनिय बेहि भाँती। जनु चातकी पाइ जल स्वाती।
लखनु बिलोकत कैसे। ससिहि चकोर किसोरकु जैसे।"[२४]
ो भी अनुभावों के माध्यम से व्यक्त किया जाता है;
तौड़ाकि सम्भव उत्प्रेक्षा से इसी प्रकार नेत्रों की व्यग्रता को
रते हैं—

"प्रभुहि चितइ पुनि चितव महि राजत लोचन लोल।
खेलत मनसिज मीन जुग जनु बिधु मंडल डोल॥"[२५]

कत होने के भाव को 'जनु सिसु मृगी सभीता' से व्यक्त करता
ना को 'बिलोक मृग सावक नैनी' से प्रकट करता है।[२६]
या है प्रकृति-रूपों के दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा, अर्थान्तरन्यास
के संबन्धात्मक प्रयोग से सत्य प्रस्तुत किए जाते हैं। इन

वही; वही : बा०, दो० २३२
वही; वह , वही, दो० २५४
वही; वही, वही, दो० २६३
वही; वही, वही, दो० २५८
वही; वही, वही दो० २२९, २३२

प्रयोगों में संबन्ध तथा क्रम का ध्यान होता है। तुलसी ने इस प्रकार के कलात्मक प्रयोग किए हैं। दोहावली में प्रसिद्ध उपमान सुन्दर रूप में प्रयुक्त हुए हैं। महान व्यक्ति छोटों को आश्रय देते हैं, इसके लिए प्रकृति से दृष्टान्त लिए गए हैं—

"बड़े सनेह लघुन्ह पर करहीं। गिरि निज सिरनि सदा तृन धरहीं।
जलधि अगाध मौलि वह फेनू। संतत धरनि धरत सिर रेनू।"[२७]

रूढ़िवादी प्रयोग

§ १०—यहाँ हम उपमानों के प्रयोग के विषय में केवल प्रमुख प्रवृत्ति के आधार पर विचार कर रहे हैं। यही कारण है कि केवल उल्लेख के रूप में संकेत किया गया है। रीतिकालीन परम्परा में उपमानों का प्रयोग रूढ़ि का केवल अनुसरण रह गया। प्रतिभा सम्पन्न कवियों में कुछ प्रयोग सुन्दर मिल सकते हैं, परन्तु इनके सामने से प्रकृति का रूप हटता गया है। इन्होंने उपमानों को केवल संबन्धात्मक शृङ्खला में समझा है और साथ ही इनके लिए उपमान केवल शब्द के रूप में रह गए, उनकी सजीवता का स्पन्दित स्वरूप सामने से हट गया। इस प्रकार की प्रवृत्ति भक्त कवियों में भी है। प्रमुख कवियों को छोड़कर अन्य कवियों ने अनुसरण मात्र किया है। इन समस्त परम्परा पालन करनेवाले कवियों के दो भेद किए जा सकते हैं। एक परम्परा में केशव और पृथ्वीराज आते हैं, जिन्होंने संस्कृत काव्य का अनुसरण किया है। दूसरी परम्परा में रीति काल के समस्त कवि हैं जिनके सामने मानवीय भावों का विषय रस के विभावित भावों और अनुभावों तक सीमित हो गया है और स्थिति तथा परिस्थिति की कल्पनाएँ केवल अतिशयोक्ति, अत्युक्ति आदि अलंकारों के चमत्कार तक सीमित रह गईं।

---

२७ बड़ी : बड़ी बड़ी; दो० ६६७

क—केशव की 'राम चन्द्रिका' तथा पृथ्वीराज की 'वेलि क्रिसन रुकमणी री' का उल्लेख किया गया है। इनमें उपमानों के विषय में प्रवृत्ति संस्कृत काव्य के अनुकरण की है। अनु-

संस्कृत का अनुसरण

सरण का अर्थ यह नहीं माना जा सकता है कि इन कवियों ने संस्कृत कवियों के प्रयोग सर्वत्र ले लिए हैं। वस्तुतः इसकी विवेचना तुलनात्मक आधार पर की जा सकती है। लेकिन यहाँ इसका अर्थ यह है कि संस्कृत में जिस प्रकार रूपात्मक सौन्दर्य का प्रमुख आधार है, उपमानों के विषय में इन कवियों की वही भावना मिलती है। जिस प्रकार इनके सामने संस्कृत का साहित्य था, उसी के अनुसार उपमानों के विभिन्न स्तर के प्रयोग इनमें मिलते हैं।

(i)—रसवादी होने के कारण इनमें उपमानों का प्रयोग भावों का ध्यान रखकर किया गया है। इस कारण प्रयोग सुन्दर हो सके हैं। कवि मुख पर यौवन की लाली के लिए

पृथ्वीराज

उत्प्रेक्षा देता है कि मानों सूर्योदय के समय पूर्व दिशा की लाली छा गई है। आगे शारीरिक विकास के लिए कवि रूपक प्रस्तुत करता है—'अवयव समूह ही पुष्पित होकर विमल वन हैं नेत्र ही कमल दल हैं, सुहावना स्वर कोकिल का कंठ हैं; पुलक-रूपी पंखों को नई रीति में सँवार कर भौंह रूपी भ्रमर उड़ने लगता है।'[२८] युद्ध प्रसंग में वर्षा का लंबा रूपक है। आगे एक स्थल पर कवि ने लता की कल्पना सुन्दर की है—

''तिणि तालि सखी गलि स्वासा देही
मिली भमर मारा सु माहि।

---

२८ वेलि०; पृथ्वी० : छ० १६, २०

बलि ऊभी थई यणा घाति बल
लता वेलि अवलंब लहि।"[२९]

काव्य समाप्त करते समय वेलि का रूपक है। इनके अतिरिक्त, 'नगर-वासियों का कोलाहल, पूर्णिमा के चन्द्र-दर्शन से समुद्र का आन्दोलन', 'उड़ी हुई धूल में सूर्य ऐसा जान पड़ा जैसे बात चक्र के शिखर पर पत्ता', 'मन्दिर के पार्श्व में सेना इस प्रकार लगती है मानों चन्द्रप्रभा मेरु पर्वत पर चारों ओर नक्षत्र माला' आदि अनेक प्रयोग पृथ्वीराज ने किए हैं।[३०]

(॥) पृथ्वीराज के विपरीत केशव अलंकारवादी हैं। इस कारण सामूहिक रूप से इनमें उपमानों का प्रयोग काल्पनिक चमत्कार के लिए हुआ है। अधिकांश स्थलों पर केशव ने वस्तु, परिस्थिति संबन्धी उपमान योजना में भाव और वातावरण का ध्यान नहीं रखा है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि केशव ने ऐसे प्रयोग किए ही नहीं। जनकपुर बरात के स्वागत के लिए उत्प्रेक्षा के द्वारा सागर तथा नदियों की कल्पना उचित है। इसी प्रकार सौन्दर्य्य को लेकर रूपक भी सुन्दर है—

केशव

"अति बदन शोभ सरसी सुरंग। तहँ कमल नैन नासा तरंग।
जनु युवती चित विभ्रम विलास। तेइ भ्रमर भँवत रसरूप आस।"

रावण के वश में पड़ी हुई सीता के विषय में संदेहात्मक उपमा भी सुन्दर है—'वह धूम समूह में अग्निशाखा है, या बादल में चन्द्रकला है, या बड़े बवंडर में कोई सुन्दर चित्र है। इसमें रावण की 'बगरूरे' से उपमा मौलिक जान पड़ती है। इसी प्रकार एक स्थल पर

---

२९ वही : वही : छं० १७७ (भ्रमरों के बोझ से पृथ्वी से मिली हुई लता वल्लरी का सहारा पाकर बहुत से बल डालकर फिर खड़ी हो जाती है, उसी प्रकार उस समय, रुक्मिणी सखी के गले का सहारा लेकर उठ खड़ी हुई)

३० वही : वही : छं० १४१, ११५, १०६

श्लेषों में सीता की उपमा स्वाभाविक है—

"भौंरनी ज्यों भ्रमत रहति वन बीथिकानि,
हंसनी ज्यों मृदुल मृणालिका चहति है।
हरिनी ज्यों हेरति न केशरि के काननहि
केका सुनि व्याली ज्यों विलीन ही चहति है।"[31]

वे की उपमा में उक्ति का वैचित्र्य अधिक है। सीता की अग्नि
। मूर्ति को लेकर जो सन्देहात्मक उपमानों की योजना हुई है, उनमें
। कहीं कोई सुन्दर कल्पना भी है। परन्तु प्रवृत्ति के अनुसार कवि ने
ना प्रस्तुत करने का ही प्रयास अधिक किया है। आगे की उत्प्रेक्षा
कल्पनात्मक चमत्कार है—'कोई नीलाम्बर धारण किए हुए
मन मोहती है, मानो बिजली ने मेघकान्ति को अपने शरीर पर
ग किया है। किसी स्त्री के शरीर पर बारीक साड़ी है, वह ऐसी
। देती है मानो कमलिनी सूर्य किरण समूह को शरीर पर धारण
हो।' आगे राम, सीता और लक्ष्मण को लेकर इसी प्रकार की
ना है—'मेघ मंदाकिनी चारु सौदामिनी रूप रूरे लसैं देहधारी
।' रामकी सेना के प्रस्थान के समय कवि उपमा प्रस्तुत करता
'जब सेना उछल कर चलती है, पृथ्वी और आकाश सभी धूर
ई हो जाता है, मानो घन समूह से सशङ्क होकर वर्षा आ गई
....पाताल का पानी जहाँ तहाँ पृथ्वी के ऊपर आ जाता है
पृथ्वी पुरइन के पत्ते के समान काँपने लगती है।'[32] इन थोड़े
णों से केशव का प्रवृत्ति का अनुमान लग सकता है।

।—प्रारम्भ में रीति-काल के कवियों की उपमान-योजना के
में उल्लेख किया गया है। इस काल में कवि नायक-नायिकाओं

रामचन्द्रिका : केशव : ई० प्रका० ४, ५० सा प्र० २०, चौ०

वही : वही प्रका० प्र० १२, सर्ग १५, चौ० प्र० १०

के हाव-भाव, ऐश्वर्य-विलास के वर्णन में व्यस्त रहा है या अलंकारों के ग्रन्थ में उदाहरण प्रस्तुत करने का प्रयास करता रहा है। इन दोनों बातों से इनके प्रकृति संबन्धी प्रयोग पर प्रभाव पड़ा है।

रीति-काल की प्रमुख भावना

पिछले प्रकरणों में हम देख चुके हैं कि इन कवियों में प्रकृति का किसी प्रकार का सुन्दर रूप नहीं मिल सका है। उपमानों का प्रयोग प्रकृति सौन्दर्य से ही संबन्धित है, बिना उसकी अनुभूति के उपमानों का प्रयोग सुन्दर नहीं हो सकता, उसमें कला के स्थान पर रूढ़ि आ जाती है। उपमानों के क्षेत्र में रीतिवादी कवियों में उनके प्रयोग की प्रवृत्ति भी कम हो गई है। पहले कवियों ने उपमानों की योजना की है, चाहे वह अनुसरण तथा परम्परा के अनुसार ही किया हो। पर इन कवियों में प्रयोगों की भी कमी दिखाई देती है। इसका कारण इस युग के काव्य में रस और अलंकार के उदाहरण प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति है। सेनापति जैसे प्रतिभावान कवियों ने अपनी कल्पना का प्रयोग श्लेष जुटाने में किया है।[३३] इनमें उपमानों के सौन्दर्य बोध का रूपात्मक अथवा भावात्मक प्रयास कहाँ तक हो सकता है, यह प्रत्यक्ष ही है। इन समस्त कवियों में ऐसे स्थल कम हैं जिनमें उपमानों से भाव-व्यंजना के लिए सहायता ली गई हो। बिहारी कहते हैं।

"रही मौन के कोन में सोन जुही सी फूलि।"[३४]

३३ सेनापति ने कुछ श्लेष प्रकृति के आधार पर उपस्थित किए हैं—क० र० (११) राम तथा पूर्णचन्द्र, (१२) [illegible] तथा [illegible], (१३) [illegible] और [illegible], (३३) [illegible] तथा [illegible], (४२) [illegible] तथा [illegible], (५१) वर्षा तथा शिशिर, (५३) ग्रीष्म तथा वर्षा, (५५) [illegible] और [illegible], (७४) हरि, रवि, [illegible] तथा [illegible], (८४) [illegible] ।

३४ र०; बि० र० दो० १११

समें कवि का ध्यान कदाचित उल्लास या गर्व से अधिक यौवन के
न्दर्य को व्यक्त करने की ओर है। इसी प्रकार मतिराम ने उत्कंठित
यिका के प्रतीक्षा तथा उत्सुकता में व्यग्र नेत्रों के लिए इस प्रकार
ी योजना की है—

"एक ओर मीन मनो एक ओर कंज-पुंज,
एक ओर खंजन चकोर एक ओर है।"

में विभिन्न भाव-स्थितियों के लिए विभिन्न उपमानों का प्रयोग
ता है, और इस दृष्टि से यह प्रयोग बहुत सुन्दर माना जा सकता
लेकिन ऊपर के वातावरण के अनुरूप उपमानों को जुटाने का
ह भी सम्भव हो सकता है, क्योंकि उस प्रकार के अन्य प्रयोग
राम अथवा किसी अन्य रीतिकालीन कवि में नहीं मिले हैं।[1]
विषय में बिहारी की एक विशेषता उल्लेखनीय है। अपनी
ंकारिक प्रवृत्ति में भी इनमें प्रकृति के रंग-प्रकाश का प्रयोग
ुआ है, यद्यपि संस्कृत कवि बाण तथा माघ की तुलना में नहीं
सकते। एक पूर्णोपमा इस प्रकार है—

"सहज सेत पच तोरिया पहिरे अति छवि होत।
जल चादर के दीप लौं जगमगाति तन जोत॥"

प्रकार एक उत्प्रेक्षा है—

---

1 रसराज; मतिराम : छं० १११—
"जमुना के तीर बहै सीतल समीर तहाँ,
मधुकर करत मधुर मंद सोर हैं।
कवि 'मतिराम' तहाँ छवि सौं छबीली बैठी,
अंगन ते फैलत सुगन्ध के झकोर हैं।
पीतम बिहारी को निहारिबे की बाट ऐसी,
चहूँ ओर दीरघ दृगन करी कोर है।"

"छुप्यो छबीलो मुख लसै नीले आँचर चीर।
मनो कलानिधि झलमलै कालिंदी के तीर॥"

एक और भी वस्तूत्प्रेक्षा है—

"सखि सोहत गोपाल के उर गुंजन की माल।
बाहर लसति मनो पिये दावानल की ज्वाल॥"[३६]

इन सभी में कवि की कल्पना में रंग और प्रकाशों का सामञ्जस्य अच्छा है। इस प्रकार अनेक प्रयोग बिहारी में मिलते हैं। इनकी प्रवृत्ति इसमें प्रत्यक्ष है।

अलंकारों के प्रयोग में परम्परा के प्रचलित उपमानों को जमा भर दिया गया है। मतिराम मालोपमा का उदाहरण इस प्रकार देते हैं—

"रूप-जाल नंदलाल के परि करि बहुरि छुटैं न।
खंजरीट-मृग-मीन-से ब्रज बनितन के नैन॥"[३७]

यहाँ कवि को किसी प्रस्तुत को सामने प्रत्यक्ष करना नहीं है, वरन् मालोपमा देनी है और इसलिए इन उपमानों का संबन्ध नैन से अधिक रूप-जाल से है। इस माध्यम से इसमें किसी भाव का संकेत *मिल भी जाता है*, परन्तु पद्माकर की *मालोपमा का प्रमुख उद्देश्य* अपने आप में पूर्ण है—

"घन से तम से वार से, अंजन की अनुहारी।
अलि से सावज से बाला तेरे बार॥"[३८]

---

३६ सत० : बिहारी : दो० १९१, ११९, ६ इनके अतिरिक्त दो० १११ में रंग के साथ कोमलता का भाव है।

"पग पग मग अगमन परति, चरन अरुन दुति झूल।
ठौर ठौर लखियत उठे, दुपहरिया से फूल॥"

३७ ललित ललाम; मतिराम : छं० ५०

३८ पद्माभरण, पद्माकर : पृ० २१

इसके अतिरिक्त जब कवि अन्य अलंकारों में उपमानों को प्रस्तुत करता है, तब उसका ध्येय चमत्कार प्रदर्शन अधिक रहता है। प्रेम-पयोनिधि का रूपक अनेक कवियों ने कहा है, परन्तु पद्माकर की उक्ति ने उसको विचित्र बताया है—

"नैनन ही की घलाघल कै घन घावन कों कछु तेल नहीं है।
प्रीति पयोनिधि में धँसि कै हँसि कै कढ़िबो हँस खेल नहीं है॥"[39]

मुस्कान को सरद-चाँदनी कहना सुन्दर उक्ति है, इनमें भावात्मक सादृश्य है, पर मतिराम की उक्ति ने उसे विचित्र कर दिया है—

"सरद-चंद की चाँदनी, जाहि डार किन मोहि।
वा मुख की मुसक्यानि सी, क्यों हूँ कहौ न तोहि॥"[40]

इसी प्रकार देव भी मुख और नेत्रों के लिए सौन्दर्य बोध के स्थान पर वैचित्र्य कल्पना का आश्रय लेते हैं—

"कवि देव कहै कहिए जुग जों जलजात रहे जलजात में च्वै।
न सुने तबौ काहू कहूँ कबहू कि मयंक के अङ्क में पंकज द्वै॥"[41]

× × ×

मध्ययुग की इन समस्त उपमान-योजना संबन्धी प्रवृत्तियों के अतिरिक्त दो बातों का उल्लेख कर देना आवश्यक है। इस युग में उपदेशों के लिए प्रकृति से दृष्टान्त आदि की व्यापक प्रवृत्ति रही है। इसका मूल भारतीय साहित्य की व्यापक परम्परा में है। तुलसी, कबीर, रहीम, गिरधर, दीनदयाल आदि कवियों ने प्रमुखतः इनका प्रयोग किया है। इनमें अन्योक्ति, समासोक्ति का आश्रय भी लिया गया है। दूसरी उल्लेखनीय बात, प्रकृति से संबन्धी क्रिया-पदों का मानवीय

---

३९ जगद्विनद; पद्मा : छं० ३५३
४० दं हा०; मति० दो० ३२१
४१ भाव०; देव : २

संबन्धों में प्रयोग है।[४२] इस युग में सरसाना, चमकना, महकना, डहडहाना, लहलहाना, थिरराना, ललाना, भीजना, चमकना, झिलमिलाना, मुरझाना, दमकना आदि अनेक प्रकृति—क्रियाओं का प्रयोग मानवीय भावों तथा अनुभावों के विषय में हुआ है। इनका प्रयोग बाद के रीति-कालीन कवियों तक में बराबर मिलता है।

---

४२ रस०; मति ६७ १७१ में 'मुसकान के लिए महमही; (ग्रह०) के लिए गहगही, तथा 'दीप्ति' के लिए लहलही का प्रयोग है।

प्रमुख सहायक पुस्तकें

प्रथम भाग

प्रथम प्रकरण

१. ऐन आउट लाइन ऑव इन्डियन फ़िलासफी हिरियन्ना।

२. इन्डियन फ़िलासफ़ी, एस० राधाकृष्णन्।

३. नेचुरलिज़्म ऐन्ड एग्नास्टिसिज़्म, जेम्स वार्ड (१८९९ ई०)।

४. परसेप्शन ऑव फ़िज़िक्स एन्ड रियल्टी, सी० डी० ब्राड (१९०५ ई०)।

५. माइन्ड ऐन्ड इट्स प्लेस इन नेचर; सी० डी० ब्राड।

६. माइन्ड एन्ड मैटर; स्टाउट (१९३१ ई०)।

७. हिस्ट्री ऑव इन्डियन फ़िलासफ़ी; दास गुप्ता।

८. हिस्ट्री ऑव मोरांरियन फ़िलासफ़ी; फाल्कन बर्ग।

९. एवोल्यूशन ऑव रिलिजन; पेयर्ड।

द्वितीय प्रकरण

१. एक्सपीरियन्स ऑव नेचर; जे० डिवी (१९२६ ई०)।

२. दि कलर सॅस; कार्लमास (१८७९ ई०)।

३. थियरी ऑव साइकालोजी; रॉस (१९२१ ई०)।

४. नेचर, इन्डिविजुअल ऐन्ड दि वर्ल्ड; जे० रॉयस।

५. दि प्ले ऑव मैन; कार्ल ग्रास (१९०१ ई०)।

६. मेटैफ़िज़िक्स ऑव नेचर; सी० रीड (१९०५ ई०)।

७. दि वर्ल्ड ऐन्ड दि इन्डिविजुअल; जे० रॉयस (१९१२ ई०)।

८. स्पेस, टाइम एन्ड डिइटी; अलेक्जेन्डर

तृतीय प्रकरण

१. दि एमोशन एन्ड दि विल; ए० बेन (१८६५)।
२. एनालिटिक साइकॉलजी; जी० एफ० स्टाउट।
३. दि क्रिएटिव माइन्ड; हेन्री बर्गसां।
४. जेनरल साइकॉलजी; गिलीलेन्ड, मार्गन, स्लीव्स (१६३० ई०)।
५. दि प्रिन्सपिल्स ऑव साइकॉलजी; डब्लू जेम्स।
६. ए मैनुअल ऑव साइकॉलजी; जी० एफ० स्टाउट (१६२६ ई०)
७. साइकॉलजी ऑव इमोशंस; रिबोट (१६११ ई०)

चतुर्थ प्रकरण

१. दि एसेन्स ऑव एस्थिटिक; क्रोशे (१६११ ई०)
२. एस्थिटिक ; क्रोशे (डुग्लोस एन्सली द्वारा अनुवादित १६२६ई०)
३. एस्थिटिक इक्सपीरियन्स ऐन्ड इट्स प्रीसपोज़िशनस' मिल्टन सी० नाह्म (१६४२ ई०)
४. एस्थिटिक प्रिन्सपिल; आर० मार्शल (१६२० ई०)
५. ए क्रिटिकल हिस्ट्री ऑव माडर्न एस्थिटिक्स; अर्ल ऑव लिस्टोवेल (१६३३ ई०)
६. टाइप्स ऑव एस्थिटिक जजमेंट; ई० एम बर्टलेट (१६३७ ई०)
७. दि थियरी ऑव ब्यूटी; केरिट (१६२३ ई०)
८. दि फ़िलासफ़ी ऑव फ़ाइन आर्ट; हेगल (१६२० ई०)
९. दि फ़िलासफ़ी ऑव दि ब्यूटीफुल; डब्लू० ए० नाइट (१६१६ ई०)
१०. फ़िलासफ़ीज़ ऑव ब्यूटी, पेरिट (१६३१ ई०)
११. ब्यूटी एन्ड अदर फ़ार्म्स ऑव वैल्यू; एस० अलेक्ज़ेन्डर (१६२७ ई०)
१२. माडर्न पेंटर्स; रस्किन
१३. साइकॉलाजिकल एस्थिटिक्स; ग्रान्ट एलन (१८८७ ई०)
१४. दि सेन्स ऑव ब्यूटी; सन्तायन (१८६६ ई०)

१५. ए स्टडी इन कान्टस् एस्थिटिक्स; डन्हम (१६३४ ई०)
१६. ए हिस्ट्री ऑव एस्थिटिक्स, वोसांक्वेट (१६३४ ई०)

पंचम प्रकरण

१. ऑक्सफ़र्ड लेक्चर्स ऑन पोएट्री : ब्रेडले
२. ए डिफ़ेन्स ऑव पोइट्री; पी० बी० शेली
३. ए प्रिफ़ेस टु दि लिरिकल बैलेड्स; वर्ड्सवर्थ
४. फ्रेंच प्ले इन लन्डन; मैथ्यू आर्नल्ड
५. लेक्चर्स आन इंगलिश पोएट्स; डब्लू० हैज़लिट
६. दि हीरो ऐज़ ए पोएट; कार्लाइल

द्वितीय भाग

१. दि आइडिया ऑव दि होली; रोडल्फ़ ओटो
२. इन्ट्रोडक्शन टु दि स्टडी ऑव दि हिन्दू डॉक्ट्रिन; रेना ग्यूनॉन (१६४५)
३. इनसाइक्लोपीडिया ऑव रिलजिन एन्ड एथिक्स (गॉड्स,हिंदू)
४. ए कॉंस्ट्रक्टिव सर्वे ऑव उपनिषदिक फ़िलासफ़ी; आर० डी० रानाडे (१६२६)
५. ट्रान्सफ़ारमेशन ऑव नेचर; कुमार स्वामी (१६२४)
६. दि निर्गुण स्कूल ऑव हिन्दी पोइट्री; पी० डी० वड्थ्वाल (१६३१)
७. नेचुरल ऐन्ड सुपरनेचुरल; जान ओमन (१६२७)
८. नेचुरलिज़्म इन इंगलिश पोइट्री, स्टफ़र्ड ब्रोक (१६२४)
९. दि भक्ति कल्ट इन एन्शेन्ट इन्डिया; भागवत कुमार शास्त्री
१०. मिस्टीसिज़्म; इवीलेन अन्डरहिल (१६२६)
११. वर्शिप ऑव नेचर; जे० जी० फ्रेज़र
१२. दि सिक्स सिस्टम ऑव इन्डियन फ़िलासफ़ी; मैक्स मुलर

१३. दि सोल इन नेचर; हान क्रिशचियन
१४. हिंदू गॉडिस ऐन्ड हीरोज़; लियोनल डी० वार्नर (१६२२)
१५. हिंदू-मिस्टीसिज़्म, महेन्द्रनाथ सरकार (१६३४)

संस्कृत काव्य-शास्त्र

१. संस्कृत पोइटिक्स; एस० के० डे
२. अलंकारसूत्र; वामन
३. काव्य प्रकाश, मम्मट (भं० ओ० सि०)
४. काव्य मीमांसा; राजशेखर (गायकवाड़ ओरि० सि०)
५. काव्यादर्श; दण्डी
६. काव्यानुशासन; हेमचन्द्र (काव्य माला)
७. काव्यानुशासनवृत्ति; वाग्भट्ट (काव्य०)
८. काव्यालंकार; रुद्रट (काव्य माला)
९. नाट्य-शास्त्र; भरत
१०. प्रताप रुद्रयशोभूषण; विद्यानाथ (बाम्बे संस्कृत प्राकृत सिरीज़)
११. रसार्णव; श्रीशिङ्ग भूपाल (अ० सं० प्र०)
१२. वक्रोक्ति जीवित; कुन्तल (क० ओ० सि०)
१३. साहित्य दर्पण (खे० श्री०)

मध्ययुग के अध्ययन के आधारभूत प्रमुख ग्रन्थ—

१. इन्द्रावती; नूरमोहम्मद (ना० प्र० स०)
२. कबीर ग्रंथावली; सं० श्यामसुन्दर दास (ना० प्र० स०)
३. कवित्त-रत्नाकर सेनापति; सं० उमाशंकर शुक्ल (हिंदी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय)
४. कीर्तन संग्रह, (अहमदाबाद, लल्लूभाई छगनलाल देसाई)
५. चित्रावली; उसमान, सं० जगन्मोहन वर्मा (ना० प्र० स)
६. जायसी ग्रंथावली; सं० रामचन्द्र शुक्ल (ना० प्र० स०)
७. ढोला मारूरा दूहा; (ना० प्र० स०)

८. तुलसी रचनावली, सं० बजरंग (बनारस; सीताराम प्रेस)
९. नंददास ग्रंथावली, सं० उमाशंकर शुक्ल (प्रयाग, विश्व०)
१०. नल दमन काव्य (पांडुलिपि, ना० प्र० स०)
११. पद्माकर-पंचामृत, सं० नंददुलारे वाजपेयी (रामरतन पुस्तक भवन, काशी)
१२. पावस शतक, सं० हरिश्चन्द्र (खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर)
१३. पुष्टिमार्गीय पद संग्रह (बम्बई जगदीश्वर प्रेस)
१४. बिहारी सतसई; सं० बेनीपुरी
१५. बीजक, कबीरदास पाखंड खंडिनी टीका (खे० श्री०)
१६. मतिराम-ग्रंथावली, सं० कृष्णबिहारी मिश्र (गंगा पुस्तक माला)
१७. मीरापदावली; सं० विष्णुकुमारी
१८. रसिक प्रिया; केशव, सरदारकृत टीका (खे० श्री०)
१९. रामचन्द्रिका; केशव; सं० लाला भगवानदीन (काशी, साहित्य-सेवा सदन) और टीका० जानकी प्रसाद (खे० श्री०)
२०. राम-चरितमानस (गीताप्रेस)
२१. विद्यापति पदावली; सं० नगेन्द्रनाथ गुप्त (इ० प्रे०)
२२- वेलि क्रिसन रुकमणी री; पृथ्वीराज (हि० ए० प्रयाग)
२३. सुन्दर-ग्रंथावली
२४. सुन्दरी-तिलक; सं० हरिश्चन्द्र (खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर)
२५. सूरसागर (बंबई, खेमराज प्रेस)
२६. हजारा; हाफ़िज़ खाँ (लखनऊ; नवलकिशोर प्रेस)

प्रमुख पारिभाषिक शब्द

अ

अभ्यन्तरित . — Transferred
अनुकरणात्मक — Imitative
अन्तर्वेदन — Organic Sensation
अन्तः सहानुभूति — Empathy
अभावात्मक तत्त्व — Non-Being
अभिव्यक्तिवाद — Expressionism

आ

आइडिया — Platonic idea
आत्म-तल्लीनता — Repture
आत्म-हीन भाव — Inferiority complex
आत्मानुकरण — Self-imitation
आह्लाद — Ecstasy

इ

इन्द्रिय वेदन — Sensation
इन्द्रियातीत — Transcendental

क

कल्पन, कल्पना — Imagination
काल — Time
क्रीड़ात्मक अनुकरण — Playful imitation
केन्द्रीकरण — Centralization

ग

गमन — Motion

च

चिकीर्षा — Volition

ज

जीवन-धारण — Preservation of Life

त

तत्ववाद — Metaphysics

तोष — Pleasure

द

दर्शन — Philosophy

दिक् — Space

—

न

नैसर्गिक वरण — Natural selection

प

पद प्रत्यय — Concept

परम तत्व — Ultimate reality

परम सत्य — Absolute reality

परात्पर — Transcendent

परिणाम वाद — Principle of causality

पीड़ा — Pain

पोषण — Nutrition

प्रकृतिवाद — Naturalism

प्रतिबिंब — Reflection

प्रतिभास — Phenomenon

प्रत्यक्ष बोध — Percept

प्रभावात्मक — Impressive

प्रत्यक्षवाद — Empiricism

प्रयोजनात्मक — Purposive

प्राथमिक — Primary

क्रमशः

ब

बोध	— Cognition

भ

भौतिक तत्त्व	— Matter
भौतिक वाद	— Materialism
भौतिक विज्ञान	— Physical science

म

मन, मानस	— Human mind
मनस	— Mind
माध्यमिक	— Secondary
मानवीकरण	— Anthropomorphism

य

युक्तिवाद	— Rationalism

र

राग	— Conation
रूपात्मक रूढ़िवाद	— Formalism

व

वंश विकसन	— Propagation of Specie
विकलन	— Disintegration
विचार	— Thought
विषमीकरण	— Differentiation
विज्ञान	— Idea
विज्ञानवाद	— Idealism

श

शोषण	— Absorption

स

संकलन	— Integration

[illegible]

म्यूटो एंड यार्ड फार्मेस ऑव रैमू—८० टि।
मॉडर्न इन पोयेट्री इंडिया—२०३ टि
मॉडमागर—२११ टि, २१८ टि।
मट्रलिंक—७१ टि, १०८ टि।
मनुमोल्टर—७१ टि, १०७ टि।
मदन—११४, ११४ टि, ११७।
मधुभूति—१५५।
भागवतकुमार शास्त्री—२०३ टि।
भारवि—१४५, १४८, १५३, १५४, १५७, ३१७।
भाव-विलास—१४१ टि, ४१२ टि, ४१३ टि, ४११ टि, ४७० टि, ४७१ टि, ४७२ टि, ५०१ टि।
भामह—१०० टि, १३२, टि १३३, १३४, १३४ टि।
भिखारीदास—१४१।
मजूमदार (एम० आर०)—३७४ टि।
मतिराम—३१२, ४१४, ४६०, ४६१, ४६६, ४९९, ५००, ५०१।
मम्मट—१०६ टि, १३४।
मलूकदास २२९।
महादेवी—७८ टि।
महादेवी का विवेचनात्मक गद्य—७८ टि।
महावानी—३८८ टि।
महाभारत—१४४, १४४ टि, १४७, १५२ १५५, ३३१।
माइन्ड एन्ड मैटर—७ टि।
माघ—१४६, १४८, १५४, १५७, १५८, ३६६, ३६८, ३७१।
माधवानल कामकंदला—३७४, ३७५ टि, ४३३, ४३४ टि।
मार्टिन (एच० आर०)—७१, ७१ टि।
मिश्रबंधु—११० टि।
मिस्टीसिज्म—२२७ टि, २३१ टि, २३२ टि।
मीरा—१८२, १८९ टि, ३०९, ३०८, ३७९, ४५२, ४५३।
मेगडूगल—५१।
मेघदूत—१५५, ४३६।
याज्ञवल्क्य—२१० टि।
युसुफ जुलेखा—३७१, ३७२, ३७६ टि।
रंगमर—३८८ टि।
रघुवंश—१४४ टि, १४७, १५३, ३७०।
रतिमंजरी—३८८ टि।
रवीन्द्र ठाकुर—१४४।
रसखान—१८२, १८९ टि, ३०९, ४०२, ४०४।
रस-गंगाधर—१०० टि, १०३ टि।
रस-पियूष-निधि—४१० टि।
रस प्रबोध—१४२, ४१२ टि।
रसराज—४१२ टि, ४१३ टि, ४९९ टि, ५०२ टि।
रस-विलास—३८८ टि।
रसार्णवसार—१३८ टि।
रसिक-प्रिया—१४२ टि, ३११ टि, ४१२ टि।
रसिक-लता—३८८ टि।
रस्किन—८३।
रहसि-मंजरी—३८८ टि।
रहीम—५०१।